आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
कश्मीरी गेट, देहली-६

हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रंथमाला, ग्रंथ २

मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ

लेखिका
डॉ० सावित्री सिन्हा
एम. ए., पी-एच. डी.



हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,
की ओर से
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
दिल्ली ६
द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

प्रथम संस्करण, १९५३
मूल्य आठ रुपये

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

प्राक्कथन

राष्ट्रभाषा हिन्दी की श्री-समृद्धि आज हमारे देश की एक राष्ट्रीय आवश्यकता है जिसकी पूर्ति अविलम्ब होनी चाहिए । हिन्दी के विकास के लिए मौलिक सृजन तथा अनुसन्धान आदि की अपेक्षा तो है ही, किन्तु अनुवाद-कार्य का भी कम महत्त्व नहीं है। अनुवाद को तो मैं एक दृष्टि से और भी मूल्यवान् मानता हूँ। आज राष्ट्र-भाषा हिन्दी के सम्बन्ध में हमारे सामने लगभग वही समस्या है जो शेक्सपियर के आविर्भाव से पूर्व इंगलेंड के सामने अंगरेज़ी के सम्बन्ध में थी। उस समय प्रतिष्ठित लेखक अंगरेज़ी की अपेक्षा लैटिन भाषा में ही लिखना पसन्द करते थे। [बेकन के अनेक ग्रन्थों की रचना लैटिन में ही हुई। यहाँ तक कि सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में न्यूटन ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रिंसिपिआ' अंगरेजी में न लिखकर लैटिन में ही लिखा, और पैरेडाइस लॉस्ट का प्रणयन अंगरेजी में करने से पूर्व स्वयं मिल्टन को अपने मन में बहुत कुछ तर्क-वितर्क करना पड़ा।] किन्तु सोलहवीं शती के तृतीय चरण तक आते-आते पचास वर्ष में ही स्थिति इतनी बदल गयी कि शेक्सपियर विश्व के सर्वश्रेष्ठ साहित्य की रचना अंगरेज़ी में कर सके। अंगरेज़ी किस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में विचार का इतना समर्थ माध्यम बन सकी—यह तथ्य आज हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और हमें इस पर उचित ध्यान देना चाहिए, क्योंकि हमारे सामने भी प्रायः यही लक्ष्य है। मेरा विचार है कि अंगरेज़ी की उस श्री-वृद्धि का बहुत कुछ श्रेय अन्य भाषाओं से उत्कृष्ट साहित्य के अनुवाद तथा लिपि-रूपान्तर आदि को था।—हमको इस ऐतिहासिक घटना से उचित शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

इस राष्ट्रीय अनुष्ठान का बहुत बड़ा दायित्व विश्वविद्यालयों पर है। यह हर्ष का विषय है कि हमारा हिन्दी विभाग इस महत्त्वपूर्ण कार्य में तत्परता के साथ संलग्न है। उसकी योजना के अंतर्गत एक ओर जहाँ मौलिक अन्वेषण एवं अनुसंधान का सन्निवेश है, वहाँ दूसरी ओर संस्कृत तथा यूरोपीय काव्य-शास्त्र के अमर ग्रन्थों के अनुवाद तथा व्याख्यान-विवेचन का भी उपक्रम है। मैं हिन्दी विभाग तथा उसकी अनुसंधान परिषद् का साधुवाद करता हूँ और उसके निरन्तर उत्कर्ष की कामना करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ हमारे विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत गवेषणात्मक प्रबन्ध है। हिन्दी के प्रख्यात विद्वानों द्वारा प्रमाणीकृत यह प्रबन्ध विश्व-विद्यालय की सर्वोच्च उपाधि का अर्जन कर अपनी मान्यता सिद्ध कर चुका है, अतएव इस विषय में मेरे लिए कुछ और कहना शेष नहीं है। हिन्दी विभाग की ओर से

प्रकाशित यह पहला मौलिक ग्रन्थ है, इसलिए इसका महत्त्व तथा दायित्व और भी बढ़ जाता है। मुझे विश्वास है कि डा० सावित्री सिन्हा की इस कृति का हिन्दी संस र में समुचित आदर होगा।

संरक्षक, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

उप-कुलपति डा० गणेश सखाराम महाजनि, एम. ए., पी-एच. डी. (केम्ब्रिज)

प्रस्तावना

इस ग्रंथ की भूमिका पुण्यश्लोक पण्डित जी—स्वर्गीय महामहोपाध्याय डॉ० लक्ष्मीधर शास्त्री को ही लिखनी थी क्योंकि इसका प्रणयन उन्हीं के निरीक्षण में हुआ था। परन्तु दैव के विधान से उनकी समर्थ वाणी आज मौन है। पण्डित जी की प्रतिभा अद्भुत और उनका पाण्डित्य अगाध था। वे भारत के सांस्कृतिक तथा साहित्यिक इतिहास के मेधावी अनुसन्धाता थे। उनके निरीक्षण में सम्पन्न यह अनुसन्धान-कार्य उनके गौरव के सर्वथा अनुकूल है, इसमें सन्देह नहीं

प्रस्तुत ग्रंथ अपने विषय का पहला प्रामाणिक साहित्यिक अध्ययन है। साहित्य के अनुसन्धान के लिए साहित्यिक मर्मज्ञता को मैं पहली शर्त मानता हूँ। उसके लिए यह अनिवार्य है कि अनुसन्धाता व्यक्तिगत राग-द्वेष से तटस्थ रहकर तथ्यों का अन्वेषण, और रसशास्त्र के अनुसार उनका सूक्ष्म-गहन आख्यान करे। इसके आगे साहित्यिक अनुसन्धान को और अधिक तथ्य-परक बनाना साहित्य के साथ अन्याय करना है। तथ्यान्वेषण और मनोवैज्ञानिक आख्यान—साहित्यिक अनुसन्धान के ये दो सोपान हैं—इनका महत्त्व भी इसी क्रम से है। तथ्य की निस्संग शोध प्रतिमा तैयार करती है और तथ्य का तन्मय आख्यान उसमें प्राण संचार करता है। मुझे हर्ष है कि इस ग्रंथ में अनुसन्धान की दोनों ही आवश्यकताओं की यथावत् पूर्ति हुई है। अनुसन्धेय विषय से स्वभावगत तादात्म्य होने के कारण लेखिका को उसके मर्म तक पहुँचने और उसका सम्यक् उद्घाटन करने में विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा। उनके प्रयत्न के फलस्वरूप बहुत सा अज्ञात साहित्य प्रकाश में आया है और बहुत से ज्ञात साहित्य का नवीन दृष्टिकोण से मार्मिक विवेचन-विश्लेषण हुआ है। इस प्रकार यह ग्रंथ अज्ञात का ज्ञापन और ज्ञात का विवेचन करता हुआ हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में योग देता है।

इस ग्रंथ को हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वानों तथा मर्मज्ञ आलोचकों से प्रशंसापत्र और दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० का प्रमाणपत्र मिल चुका है। अतएव मेरे लिए इसका विशेष कीर्तन करना अनावश्यक है।

मैं अपनी मंगल-कामनाओं सहित डॉ० सावित्री सिन्हा के इस स्तुत्य प्रयास को हिन्दी के विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

—नगेन्द्र

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

हमारी योजना

'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रंथमाला का दूसरा ग्रंथ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर १९५२ में हुई थी। इसका कार्य-क्षेत्र हिन्दी भाषा एवं साहित्य-विषयक अनुसन्धान तक ही सीमित है और कार्यक्रम मूलतः दो भागों में विभक्त है। पहले विभाग पर गवेषणात्मक अनुशीलन का और दूसरे पर उसके फलस्वरूप उपलब्ध साहित्य के प्रकाशन का दायित्व है।

परिषद् ने इस वर्ष पाँच ग्रंथों के प्रकाशन की योजना बनाई है। पहला ग्रंथ है 'हिन्दी काव्यालङ्कार सूत्र' जो आचार्य वामन की अमर कृति 'काव्यालङ्कारसूत्र' का हिन्दी-रूपान्तर है। मुद्रण-सम्बन्धी कुछ कठिनाइयों के कारण यह ग्रंथ थोड़े विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है। दूसरी कृति यह आपके समक्ष प्रस्तुत है। तीसरे ग्रंथ का मुद्रण आरम्भ हो चुका है। यह ग्रंथ आचार्य कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवितम्' का अनुवाद है जो 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' के नाम से प्रकाशित हो रहा है। इनके अतिरिक्त दो रचनाएँ और हैं जो इस वर्ष के अन्त तक प्रकाशित हो जायँगी—'हिन्दी साहित्य पर सूफ़ी मत का प्रभाव' और 'अनुसन्धान का स्वरूप'। इनमें से पहला ग्रंथ दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत गवेषणात्मक प्रबन्ध है; दूसरा 'अनुसन्धान का स्वरूप' विषय पर साहित्य, समाज-शास्त्र, विज्ञान आदि के मान्य आचार्यों के निबन्धों का सङ्कलन है जो परिषद् की प्रार्थना पर लिखे गये हैं। इस योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था—आत्माराम एण्ड संस के अध्यक्ष श्री रामलाल पुरी का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। उनके अमूल्य सहयोग ने हमें प्रायः सभी प्रकार की व्यावहारिक चिन्ताओं से मुक्त कर यह अवसर दिया है कि हम अपना ध्यान और शक्ति पूर्णतः साहित्यिक कार्य पर ही केन्द्रित कर सकें। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् श्री पुरी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।

—नगेन्द्र

दीपावली, २०१० वि०

अध्यक्ष,
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

निवेदन

जीवन के प्रत्येक अंग को स्त्री तथा पुरुष के पृथक् दृष्टिकोण से देखने का कुछ स्वभाव-सा बन गया है, विशेषकर उन अंगों को जिनमें स्त्रियों के प्रति अन्याय तथा उपेक्षा के चिह्न दिखाई देते हैं। सम्भवतः अवचेतन के इसी संस्कार की प्रेरणा से मैंने अपने शोध-कार्य के लिए प्रस्तुत विषय चुना हो। चिरकाल से मुझे साहित्य में स्त्रियों के योग-दान के सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री से असंतोष का अनुभव होता रहा है, और इस प्रबन्ध में मैंने साहित्य के इतिहास की इन उपेक्षिताओं को यथाशक्ति प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है।

कार्य आरम्भ करने पर सबसे दुरूह समस्या थी साहित्य के विशाल सागर में अन्तर्लीन इन नन्हें बिन्दुओं के पृथक् अस्तित्व को ढूँढ़ निकालने की। इस कार्य में हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज करने वाली अनेक संस्थाओं की रिपोर्टों से बहुत सहायता मिली। रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता, इत्यादि शोध-संस्थाओं की शत-शत प्रतियों की छान-बीन करने पर अनेक अज्ञात कवयित्रियों के नाम प्रकाश में और विभिन्न संग्रहालयों के अध्यक्षों के कृपापूर्ण सहयोग से उनकी कृतियाँ उपलब्ध हुईं— मेरे मन का धुँधला चित्र क्रमशः भास्वर होने लगा।

प्रबन्ध की राशि-भूत सामग्री के निबन्धन की भी एक समस्या थी, परन्तु परम श्रद्धेय महामहोपाध्याय श्री लक्ष्मीधर जी के निरीक्षण ने मुझे साहस और वाञ्छित बल प्रदान किया। उनकी छत्रछाया में उनके अमूल्य परामर्श का सौभाग्य प्राप्त कर ही मैं यह कार्य समाप्त करने में समर्थ हो सकी। पण्डित जी आज इस संसार में नहीं हैं— उनकी दिवंगत आत्मा के प्रति अपना विनम्र आभार व्यक्त करने में मेरे शब्द सर्वथा अक्षम हैं। अतएव उनके अनुग्रह से भाराक्रान्त मौन ही मेरी कृतज्ञ भावनाओं का द्योतन कर सकता है।

इस अवसर पर मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के उप-कुलपति पूज्यवर डा० महाजनि के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ जिनके वक्तव्य से मुझे बहुत प्रोत्साहन मिला है—और, अन्त में, मैं विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष मान्यवर डॉ० नगेन्द्र के प्रति अपनी कृतज्ञ भावनाओं का ज्ञापन करती हूँ जिनके बहुमूल्य परामर्श तथा सद्भाव के अभाव में यह प्रबन्ध अपूर्ण ही रह जाता।

इन्द्रप्रस्थ कॉलेज

दिल्ली

दीपावली २०१० वि०

—सावित्री सिन्हा

विषय-सूची

मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

साहित्य रचना के लिए आवश्यक सृजन और निर्माण शक्ति की विभूति ले नारी पुरुष की तुलना में काव्य के अधिक निकट आती है। भावनाओं की कोमलता और अभिव्यक्ति की कलात्मकता, दोनों ही नारी स्वभाव के प्रबल पक्ष हैं। जहाँ शक्ति और शासन प्रिय पुरुष ने अधिकार, संघर्ष और भौतिक सफलताओं में ही जीवन का मूल्यांकन किया, वहाँ स्त्री ने समर्पण, सेवा और त्याग में अपने जीवन की सार्थकता मानी। स्थूल तथ्य के प्रति उसका मोह उतना न था जितना सूक्ष्म भावना के प्रति। इतिहास के आरम्भ के वे पृष्ठ, जहाँ शारीरिक शक्ति का प्राबल्य नहीं है, हम स्त्री के सबल मानस की एक झलक देख सकते हैं। स्त्रियों के द्वारा रचित ऋग्वेद की ऋचाएं, पुरुषों द्वारा बनाई हुई कविताओं से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। परन्तु अनुभूति और भावनाओं की प्रतिमूर्ति होते हुए भी, सृजन की प्रतीक होते हुए भी भारतीय नारी साहित्य सृजन में प्रधान तो क्या यथेष्ट भाग भी न ले सकी।

हिन्दी के पूर्व के भारतीय साहित्य में कई ज्योतिर्मय तारिकाओं का आलोक दृष्टिगत होता है। वैदिक और संस्कृत साहित्य में विश्पला, घोषा, नितम्बा, गार्गी, मैत्रेयी इत्यादि नारियों की रचनाओं की उपेक्षा करना असम्भव है। पाली साहित्य में भी बौद्ध भिक्षुणियों के विरागपूर्ण गीतों में उनका नैराश्य फूट पड़ा है। उनके वे उद्गार इतने मार्मिक और कलापूर्ण हैं कि कुछ विद्वानों की शंका है कि ये रचनाएं स्त्रियों द्वारा रचित हैं भी या नहीं। इन छन्दों में अभिव्यक्त साहित्यिक अभिरुचि तथा चरम भावना और कलात्मकता स्त्रियों के सीमित जीवन में कैसे आ सकती है? पर थेरियों के हृदय से निकले इन उद्गारों की श्रेष्ठता देखकर ही उन्हें उनका न मानना अन्याय होगा। भावनाएं काव्य की आत्मा हैं। जीवन के उन उद्दीप्त क्षणों में जब केवल भावनाओं का ही प्राधान्य रहता है, कला और साहित्य के ज्ञान की आवश्यकता नहीं रह जाती, अनुभूतियाँ स्वयं ही कला बन जाती हैं और वहीं कला सच्ची भी होती है। थेरी काव्य का जो संकलन 'थेरी गाथा' के नाम से प्रकाशित हुआ है, उसमें लगभग ६० थेरियों की रचनाएं संकलित है। इनमें संकलित अम्बपाली की

हृदयग्राही रचनाओं का सौष्ठव देख कर वास्तव में आश्चर्य होता है। उदाहरणार्थ :

कालका भमरवण्ण सदिसा, वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहुँ।
ते जराय साणवाक सदिसा, सच्चवादि वचनम् नआथा॥
काननम्हि वनखंड चारिनी कोकिला व मधुरं निकूजितं।
तं जराय खचितं तहिं तहिं सच्चवादि वचनम् नआथा।

बौद्ध साहित्य के बाद, जैन साहित्य में स्त्रियों की देन नगण्य है। इस मत के खोज ग्रंथों में अनेक साधारण स्त्रियों तथा रानियों का वर्णन है, जिन्होंने अपना सर्वस्व महावीर के नाम पर अर्पित कर दिया था। पर उस साहित्य के रचयिताओं के मध्य एक भी लेखिका का उल्लेख नहीं है। जैन काल के बाद ही, या अधिक उपयुक्त शब्दों में, साथ ही, हिन्दी साहित्य का शैशव आरम्भ होता है और यहीं से हमारे मुख्य विषय का प्रारम्भ भी होता है।

सम्वत् १००० से लेकर आज तक के विशाल साहित्य पर स्त्रियों की देन का प्रभुत्व है ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु वह अनुमान के अनुसार हीन भी नहीं है। समय के प्रवाह, पुरुषों के प्रभुत्व, तथा दूसरे सामाजिक और राजनीतिक व्यवधानों ने उनकी भावनाओं को भी चारदीवारी तक ही सीमित रख दिया, अतः उनकी भावनाएं अभिव्यक्ति का साधन न पाकर क्षीण होती गईं। जीवन की शृंखलाएं उनकी भावनाओं को स्वतंत्र कैसे छोड़ सकती थीं? इसी पराधीनता और विवशता ने उनकी प्रतिभा, भाव और अनुभूतियों को इतने कड़े बन्धन में बाँध दिया, जिनके ढीले पड़ने पर भी उनके चिह्न युगों तक न मिट सके। जकड़ी हुई प्रतिभा जहाँ परिस्थितियों और अवसर की सुलभता पा अपने आप बिखर गई है, वहीं साहित्य की कुछ देन बन गई है। इन सब परिस्थितियों के होते हुए भी हमें साहित्य की किसी प्रवृत्ति में स्त्रियों की देन के नाम पर शून्य नहीं मिलता।

हमारे इतिहासकारों ने साहित्यनिर्माताओं के इस अंग पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला। शिवसिंहसरोज में ताज और शेख का उल्लेख भी पुल्लिंग में हुआ है। मिश्रबन्धुओं, रामचन्द्र शुक्ल तथा दूसरे इतिहासकारों ने भी इन कवयित्रियों का उल्लेखमात्र कर दिया है। केवल राजपूताने के प्रसिद्ध गवेषक और ऐतिहासज्ञ श्री मुन्शी देवीप्रसाद ने इस विषय में काफ़ी खोज की है। उनकी 'महिला मृदु वाणी' इसका अनूठा और एक ही ग्रन्थ है। मुख्य विषय पर आने के पूर्व इस विषय पर प्राप्त सामग्री पर एक सिंहावलोकन आवश्यक प्रतीत होता है। निम्नलिखित साधनों से स्त्री साहित्य विषयक सामग्री प्राप्त हुई है :

१. नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टें—नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित वार्षिक और त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट में अनेक कवियों के हस्तलिखित प्राप्त ग्रंथों

का उल्लेख हैं। सन् १९०१ से १९२५ तक की प्रकाशित तथा उसके पश्चात् की हस्तलिखित खोज रिपोर्टों में जिन कवयित्रियों का उल्लेख मिलता है, उनके नाम ये हैं :

नाम		वर्ष	क्रम संख्या
१. गंगा		१९०६, ०८	३३
२. सोन कुंवरि			
३. इन्द्रामती		१९०९, ११, २३, २५	३३९
४. शेख रंगरेजिन		१९२३, २५ परिशिष्ट १ पृष्ठ	१९
५. प्रिया सखी बख्त कुंवरि		१९०६, ०८	४ ए
६. रसिक बिहारी बनीठनी जी			२०९
७. सहजो बाई	१	१९०३	१६२
	२	१९२०, २२	१७१
	३	१९०६, ०८	२२६
	४	१९००	२९, ३०
८. सुन्दर कुंवर बाई		१९०१	९५
९. विरंजी कुंवरि	१	१९२३, २५	३६
	२	१९०४	
१० वृषभान कुंवरि		१९०६, ०८	पृष्ठ ३५२
११. रत्न कुंवरि		१९०९, ११	
१२. दीप कुंवरि		१९०६, ०९	३५३
१३. पजन कुंवरि			८३
१४. नैना योगिनी		१९०९, ११	२०६
१५. सुन्दर कली			३१२
१६. कृष्णावती		१९१२, १४	
१७. दयाबाई		१९२६, २८ हस्तलिखित	
१८. मीराबाई		१९२९, ३१	सं० २३१
१९. गंगाबाई			
२०. जीमन महाराज की माँ			
२१. धर्म कुंवरि		१९३८, ४०	

२. राजपूताना में हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज—मुंशी देवीप्रसाद द्वारा प्रकाशित कराई हुई इस खोज रिपोर्ट में राजस्थान की कुछ प्रमुख कवयित्रियों का नाम भी उल्लिखित है। इस खोज के आधार पर उन्होंने 'महिला मृदु वाणी' की

रचना की, जिसमें राजस्थान की कवयित्रियों के अतिरिक्त दूसरे स्थानों की हिन्दी लेखिकाएं भी सम्मिलित हैं। दोनों में उल्लिखित कवयित्रियों के नाम ये हैं :

१. कविरानी चोबे	१९. रत्न कुँवरि
२. काकरेची जी	२०. रत्न कुँवरि बाई
३. कुशला	२१. बनोठनी जी
४. खगनिया	२२. रानी रारधरी जी
५. साईं	२३. रानी राम प्रिया
६. चंद्रकलाबाई	२४. प्रवीणराय पातुर
७. चंपादे रानी	२५. विष्णु प्रसाद कुंवरि बाघेली
८. छत्रकुँवरि बाई	२६. बिरजू बाई
९. प्रताप बाला	२७. विरंजी कुंवरि
१०. भीमा चारिणी	२८. बिहारीलाल जी की स्त्री
११. ताज	२९. बिहारीलाल जी की पुत्री
१२. तीजा जी	३०. ब्रजदासी रानी बाँकावती
१३. तुलछराय	३१. शेख रंगरेजिन
१४. पद्मा चारिणी	३२. सरस्वती
१५. वीरा	३३. सहजो बाई
१६. प्रताप कुँवरि बाई	३४. सुन्दर कुंवरि बाई
१७. मीरा	३५. हरि जी रानी
१८. रणछोड कुँवरि	

३. भाटों और ऐतिहासिक हस्तलेखों की वर्णनात्मक सूची—श्री टेसीटरी द्वारा सम्पादित इन प्रतियों में केवल बीकानेर स्टेट संग्रहालय में संगृहीत हस्तलिखित ग्रंथों में दो स्त्री लेखिकाओं, नाथी तथा राव योधा की साखाली रानी का उल्लेख मिलता है।

४. बुन्देल वैभव—बुन्देलखंड के साहित्यकारों की रचनाओं के इस संग्रह में कई स्त्री कवियों का उल्लेख है, पर उनमें से प्रायः सब मुंशी देवीप्रसाद की खोज-पुस्तक में सम्मिलित हैं।

५. हिन्दी के मुसलमान कवि—श्री गंगाप्रसाद विशारद द्वारा लिखित इस पुस्तक में कई स्त्रियों का वर्णन है। जिन मुसलमान स्त्रियों की साहित्य सेवा का उल्लेख उन्होंने किया है, उनके नाम ये हैं :

१. शेख	३. सुन्दर कली
२. ताज	४. मुश्तरी

५. रूपवती बेगम

६. मुसलमानों की हिन्दी सेवा—श्री कमलधारी सिंह 'कमलेश' द्वारा लिखित इस पुस्तक में भी शेख और ताज का नाम तथा उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण उल्लिखित हैं।

७. स्त्री कवि कौमुदी—श्री ज्योतिप्रसाद द्वारा सम्पादित यह ग्रंथ अपने ढंग का एक है। प्राचीन लेखिकाओं में से अधिकतर उन्होंने 'महिला मृदुवाणी' में से ली हैं, पर उनके जीवन चरित्र तथा रचनाओं पर एक परिचयात्मक दृष्टि डाल कर उसे एक नया रूप दे दिया है। आधुनिक कवयित्रियों की रचनाओं पर उनके विचार मौलिक हैं। रचनाओं के संकलन और सम्पादन का ढंग इस विषय के निष्कर्ष पर पहुँचाने में काफी सहायक है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहासों में कुछ लेखिकाओं के नाम मिलते हैं। ग्रियर्सन, तासी, शिवसिंह, रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि द्वारा सम्पादित कवियों की सूचियों में भी उल्लिखित कवयित्रियों में से कुछ की आवृत्ति मिलती है। आधुनिक इतिहासकारों ने इस विषय पर इन्हीं के सहारे थोड़ा बहुत प्रकाश डाला है; पर यह प्रकाश इतना धुंधला है कि कवयित्रियों के व्यक्तित्व और उनकी रचनाओं की एक छायामात्र दिखायी देती है।

इस बिखरी हुई सामग्री को सूत्रबद्ध रूप देने के लिए उसे काल और प्रवृत्तियों के अनुसार विभाजित करना आवश्यक है। कालानुसार विभाजन में सब से बड़ी अड़चन है—अनेक प्रवृत्तियों का एक ही समय में अस्तित्व। नई प्रवृत्तियों के उदय के साथ साथ पुरानी भावनाओं का भी विकास होता रहता है। ऐसी अवस्था में काल के अनुसार विभाजन में प्रवृत्तियों की अनेकता के कारण एकरूपता का अभाव हो जाता है। कालविभाजन की अपेक्षा प्रवृत्तियों के आधार पर विभाजन अधिक सुविधाजनक होने के साथ ही वास्तविक भी है। काव्य की आत्मा भाव है। साहित्य में बहती हुई भावों की अबाध धारा में कोई व्यवधान नहीं मिलते। अतएव प्राप्त सामग्री को प्रधानतया प्रवृत्तियों के ही आधार पर विभाजित कर प्रत्येक प्रवृत्ति में स्त्री के योग की विवेचना गई है। परन्तु प्रवृत्तियों की स्वाभाविकता तथा सुविधा के होते हुए भी काल अथवा समय की पूर्ण उपेक्षा नहीं की जा सकती; अतएव पहले सम्पूर्ण सामग्री को कालानुसार विभाजित करके तत्पश्चात् प्रत्येक काल की प्रधान प्रवृत्तियों के अनुसार विभाजन किया है।

१. डिंगल की कवयित्रियाँ।

२. मध्यकालीन साहित्य को स्त्रियों की देन।

३. आधुनिक काल की प्रमुख लेखिकाएँ।

१. डिंगल की कवयित्रियाँ—आरम्भ कालीन साहित्य में वीर भावना का प्राधान्य है। इस काल की अधिक रचनाएँ डिंगल भाषा में ही मिलती हैं, जो राजस्थान की प्रमुख भाषा थी। डिंगल में रची जाने वाली कविताओं में यद्यपि वीरत्व की प्रधानता मानी जाती है, पर उस वीर काव्य की प्रेरणा में ओज से अधिक शृंगार है। इसके अतिरिक्त डिंगल काव्य रचना-काल इतना विस्तृत है कि उसका काल विभाजन करना असम्भव है। इस कठिनाई के कारण डिंगल की कविताओं को चाहे वे शृंगार की हैं अथवा वीर की, एक ही अध्याय के अंतर्गत रख दिया है। इनमें से अधिक रचनाएँ शृंगार की हैं। वीर काव्य के नाम पर लिखे जाने वाले काव्य में स्त्रियों की रचनाएँ बहुत कम हैं। निम्नलिखित तालिका से इस तथ्य की पुष्टि होती है :

डिंगल की कवयित्रियाँ

नाम	रचना काल सम्वत्
१. झीमा चारणी	१४६०
२. चंपा दे रानी	१६५० मुं० देवी प्रसाद
३. पद्मा चारणी	१६५४
४. काकरेची जी	१७१५
५. नाथी	१७३०
६. बिरजू बाई	१८००
७. राव योधा की साखाली रानी	अनिश्चित
८. हरि जी रानी	१८७६ मृत्यु तिथि

२ मध्यकालीन साहित्य को स्त्रियों की देन—डिंगल काव्य की शृंगार भावना के साथ भारतीय वातावरण में धर्म की लहरें आईं। संघर्षमय जीवन ने धर्म की सांत्वना या शान्ति का अनुभव किया, निर्गुण और सगुण भक्ति के उदय के साथ साहित्य में भी इन्हीं भावों पर आश्रित रचनाएं होने लगीं। एक ओर निर्गुण ब्रह्म, और खंडन मंडन का प्रस्ताव लिये कबीर की गरजती हुई वाणी सुनाई पड़ी और दूसरी ओर सूफी मत की माधुर्य से सिक्त प्रेममार्गी शाखा का विकास हुआ। प्रेममार्गी शाखा में एक भी स्त्री का उल्लेख नहीं मिलता; केवल संत काव्य में ही कुछ स्त्रियों की कुछ रचनाएं प्राप्त होती हैं। इन स्त्रियों की रचनाएं भाव बहुलता, और उपदेशात्मकता की दृष्टि से सुन्दर और सफल हैं; परन्तु अनुभूतियों की तीव्रता की कमी है।

संत कवयित्रियाँ

नाम	रचना काल सम्वत्
१. उमा	अनिश्चित
२. पारवती	अनिश्चित
३. मुक्ताबाई	१३४५
४. इन्द्रामती	१७०६, ८३ के बीच में
५. सहजोबाई	१८००
६. दयाबाई	१८००

निर्गुण काव्य शाखा में भाग लेने वाली इन स्त्रियों की रचनाओं में संत काव्य की प्रत्येक प्रवृत्ति सम्मिलित मिलती है। दूसरी काव्य धाराओं में एक आध को छोड़ कर स्त्रियों की रचनाओं को उस प्रवृत्ति विशेष के पुरुषों की रचनाओं के समक्ष नहीं रख सकते; सौष्ठव में स्त्रियों की रचनाएं बहुत पीछे रह जाती हैं, पर निर्गुण काव्य में काव्य का कला पक्ष उतना सबल न होने के कारण स्त्रियों और पुरुषों की रचनाओं में अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता। छंद, अलंकार, रस इत्यादि का अभाव संत कवियों और कवयित्रियों के लिए बराबर था।

निर्गुण की अटपटी वाणी तथा सूक्ष्म भावना के बाद भारतीय मानस में सगुण भक्ति का प्रवाह आता है। राम और कृष्ण मर्यादा और लीला पुरुष के रूप में जनता की भावना में प्रवेश करते हैं। सूर और तुलसी के माधुर्य और आदर्श ने जीवन के वैषम्य को भक्ति के मद में डुबो, जनता की अतृप्त भावनाओं को तृप्ति का आभास दिया। भक्ति की लहर में भौतिक असफलताएँ भुलाई जाने लगीं। इस प्रकार साहित्य में राम काव्य और कृष्ण काव्य की धाराएँ प्रवाहित हुईं। राम का आदर्श और गाम्भीर्य काव्य के उतना निकट नहीं था, जितनी कृष्ण की लीलाएँ। कृष्ण चरित्र की कमनीयता और माधुर्य, गीति काव्यों के रूप में प्रस्फुटित हुआ। संगीत, प्रेम और वात्सल्य नारी हृदय के जितना निकट है, उतना गाम्भीर्य और आदर्श नहीं। इसके अतिरिक्त जीवन की कटुताओं ने उनके एकरस जीवन में जो नीरसता भर दी, उसका पूरक राम का आदर्श चरित्र नहीं हो सकता था। आदर्शों और संस्कारों में बँधा उनका जीवन भावनाओं और अनुभूतियों का प्यासा था। कृष्ण काव्य के माधुर्य और वात्सल्य ने उन्हें प्रचुर मात्रा में ये वस्तुएँ दीं और नारी हृदय की भावनाएँ कृष्ण काव्य के क्षेत्र में ही पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुईं। ब्रजभाषा का माधुर्य, गीति तत्व, वात्सल्य, मधुर भावना, नारी हृदय के अधिक निकट थी; इसलिए स्वाभाविक था कि उसकी अनुभूतियाँ भी इन्हीं के सहारे प्रस्फुटित होतीं। राम काव्य को उन्होंने जान बूझकर नहीं छोड़ा। कुछ लोगों का विश्वास है कि स्त्रियों ने कृष्ण काव्य को

अपने उपयुक्त समझ कर ही अपनाया; परन्तु वास्तविकता तो यह है कि अपनाने का प्रश्न आने के पूर्व ही कृष्ण काव्य का माधुर्य उनके हृदय में प्रवेश कर चुका था।

कृष्ण काव्य की लेखिकाएँ

		सम्वत्
१.	मीराबाई	१५६०
२.	गंगाबाई	१६०७
३.	सोन कुँवरि	१६३०
४.	वृषभान कुँवरि	१८८५
५.	रसिक बिहारी बनोठनी जी	१८३२
६.	ब्रजदासी रानी बाँकावती	१७७६
७.	रानी बख्त कुँवरि प्रिया सखी	१२०७
८.	सुन्दर कुँवरि बाई	१७९१
९.	ताज	१७००
१०.	वीरां	१८००
११.	छत्र कुँवरि बाई	१८४५
१२.	पजन कुँवरि	अनिश्चित
१३.	स्वर्णलली	
१४.	कृष्णावती	
१५.	माधवी	

राम भावना भी स्त्रियों की काव्य रचना से बिल्कुल रहित नहीं है। पर दूसरी धाराओं की अपेक्षा इनकी संख्या बहुत कम है। राम साहित्य के विस्तृत निर्माण काल में केवल कुछ स्त्रियों की रचनाएँ प्राप्त होती हैं; जो रचनाएँ मिलती हैं, उनमें गाम्भीर्य, कला, सौंदर्य, तथा काव्य के दूसरे आवश्यक तत्वों का अभाव है।

राम काव्य की लेखिकाएँ

१.	मधुर अली	१६३५
२.	प्रतापकुँवरि बाई	१९वीं शती उत्तरार्ध
३.	तुलछराय	"

भक्तिकाल के पश्चात् मुगल वैभव और सामन्तीय वातावरण में श्रृंगार काव्य पनपता है। शिक्षा के अभाव तथा दूसरे कारणों से इस काल के रीति ग्रन्थों के निर्माण में कुछ भाग ले सकने के लिए स्त्रियाँ असमर्थ और अयोग्य थीं, पर केवल सौष्ठव की कसौटी पर इनकी रचनाएँ भाव क्षेत्र में किसी से पीछे नहीं हैं। रीति

काल का स्थूल श्रृंगार, जिसमें रतिभाव और चेष्टाओं की ही प्रधानता है, भावना की सूक्ष्मता जहाँ विषय और वर्णन की लौकिकता के सामने गौण प्रतीत होती है, स्त्रियों द्वारा प्रेरणा पाकर भी उससे दूर था, प्रेम के रहस्योद्घाटन, शारीरिक क्रियाओं के स्थूल वर्णन, नारी के अत्यन्त निकट होते हुए भी उसके स्वभाव के प्रतिकूल थे, ऐसी अवस्था में श्रृंगार काव्य रचयिताओं की संख्या अधिक नहीं मिलती।

श्रृंगार काव्य की लेखिकाएँ

	रचना काल
१. प्रवीणराय पातुर	१६५०
२. रूपमती बेगम	१६३७
३. तीन तरंग	१६४०
४. शेख रंगरेजन	१६५०
५. सुन्दर कली	अनिश्चित

इन रचनाओं का मूल्यांकन करना कठिन है। इनमें से कुछ तो ऐसी ह, जिनका उल्लेखमात्र मिलता है, जिनकी रचनाओं के उदाहरण के रूप में केवल नागरी प्रचारिणी सभा में उल्लिखित ग्रन्थ के आरम्भ और अन्त मात्र मिलते हैं। परन्तु जिनकी रचनाएँ प्राप्त हैं, उनके काव्य श्रृङ्गार के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

हिन्दी की इन मुख्य प्रवृत्तियों पर लिखने वाली लेखिकाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी लेखिकाएँ भी मिलती हैं, जिन्होंने नीति, पति सेवा, और नारी धर्म इत्यादि विषयों पर रचनाएँ की हैं। काव्य की दृष्टि से यद्यपि उनका कुछ महत्व नहीं है, परन्तु इस प्रचारात्मक साहित्य का अलग अस्तित्व है; इसलिए उन पर प्रकाश डाले बिना यह प्रसंग अधूरा रह जायगा।

स्फुट काव्य लेखिकाएँ

नाम	रचना काल
१. रत्नावलि	१६१३
२. खगनिया	१६६०
३. केशव पुत्र वधू	१६६०
४. कविरानी चौबे	१७५२
५. साईं	१८२२
६. नैना योगिनी	१८६३

मध्यकालीन साहित्य के इतिहास में स्त्रियों की देन का एक स्वतन्त्र अस्तित्व है, परन्तु अभी तक इसका स्वतन्त्र रूप से संकलन, विवेचन और अध्ययन नहीं हुआ।

इस निबन्ध के तथ्य चयन में मैंने अनेक प्रकाशित तथा अप्रकाशित ग्रन्थों से सहायता ली है। प्रत्येक युग में नारी जीवन का मूल्यांकन करने के लिए विविध इतिहास ग्रन्थों से सामग्री ग्रहण की है, परन्तु उसे अपने दृष्टिकोण तथा आलोच्य विषय के अनुकूल, अपने ढंग से उपस्थित किया है। इस प्रकार निबन्ध के तथ्य चयन में यद्यपि मैं अनेक साहित्यकारों, गवेषकों तथा इतिहासकारों की ऋणी हूँ, परन्तु प्राप्त सामग्री के संकलन तथा निबन्धन में मेरा मौलिक प्रयत्न इतना अधिक है कि ऋण का आभार अधिक नहीं रह जाता।

जहाँ तक विवेचन का सम्बन्ध है, वह प्रायः सभी मेरा अपना है। मीराबाई ही एक ऐसी कवयित्री थीं, जिनके विषय में कुछ विवेचनात्मक सामग्री प्राप्त हो सकी थी; परन्तु उस सामग्री को भी अपने दृष्टिकोण से परिष्कृत करके मैंने अपनाया है। अतः मध्यकालीन हिन्दी जगत् की इन उपेक्षित इकाइयों को प्रकाश में लाने, उनका मूल्यांकन करने का सम्पूर्ण प्रयत्न मेरा अपना है, तथा इस क्षेत्र में यह गवेषणात्मक निबन्ध सर्वथा मौलिक है।

मुख्य विषय की विवेचना के पश्चात्, हम उस काल की परिधि में प्रवेश करते हैं, जब भारतीय वातावरण में मध्यकालीन निद्रा के बाद जागृति आई। राजनीतिक और सामाजिक चेतना की अंगड़ाई से जीवन की लहर आ गई, और भारतीय नारी को बदलते हुए जीवन ने नया रूप दिया। उसके उद्धार ने उसे राजनीति, समाज तथा राष्ट्र को सक्रिय सहयोग देने का अवसर दिया; साहित्य भी उसके योग से वंचित नहीं रहा। सम्वत् १९०० के पश्चात् की लेखिकाओं का एक आभास मात्र देकर सन्तोष कर लेना पड़ा है। इस युग की अनेकोन्मुखी साहित्यिक धाराओं, तथा, मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य की आत्मा में महान् अन्तर होने के कारण, सम्वत् १९०० के पश्चात् की लेखिकाओं को दो भागों में विभाजित कर दिया है। प्रथम परिशिष्ट में सम्वत् १७०० से १७५० तक की प्रायः प्रधान अप्रधान सभी लेखिकाओं को सम्मिलित करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है। इस काल की लेखिकाओं की रचनाएँ पूर्ववर्ती भाव तथा भाषा दोनों ही दृष्टि से स० १९०० के पूर्ववर्ती साहित्य के अधिक निकट हैं, परन्तु विषय की निर्धारित सीमा के उल्लंघन के भय से उन्हें पृथक् कर उनकी रचनाओं की संक्षिप्त विवेचना मात्र से सन्तोष कर लेना पड़ा है। १९५० तक की जिन लेखिकाओं का उल्लेख प्रथम परिशिष्ट में किया गया है; उनके नाम ये हैं :

कृष्ण काव्य	प्रताप बाला, जीमनमहाराज की माँ, जुगलप्रिया, गिरिराज कुंवरि, रघुवंश कुमारी,
राम काव्य	बाघेली विष्णु प्रसाद कुंवरि, रामप्रिया

शृंगार काव्य	चन्द्रकला बाई, सरस्वती देवी, मुश्तरीबाई
स्फुट काव्य	राजरानी देवी, दीप कुंवरि, विरंजीकुंवरि, रमा देवी, बुन्देलाबाला ।

सम्वत् १९५० के पश्चात् की लेखिकाओं को साहित्य के विभिन्न अंगों के अनुसार विभाजित कर दिया है । आधुनिक हिन्दी साहित्य की स्त्रियों की विशाल देन पर पूर्ण दृष्टिपात करना असम्भव है, क्योंकि यह अपने में ही एक स्वतन्त्र और विस्तृत विषय है; पर इसके एक आभास के बिना विषय अधूरा रह जाता है। आधुनिक साहित्य की प्रगति में नारी का सहयोग इतना अधिक है कि प्रत्येक लेखिका की रचनाओं का पूर्व विवेचन कठिन है। अतः द्वितीय परिशिष्ट में केवल प्रमुख लेखिकाओं की देन पर एक सिंहावलोकन मात्र कर दिया है ।

आधुनिक युग की प्रमुख लेखिकाएँ

काव्य	महादेवी, तोरनदेवी, सुभद्रा कुमारी चौहान, तारा पाण्डे, सुमित्रा कुमारी सिन्हा।
गद्य काव्य	दिनेशनन्दिनी ।
कहानी	कमला चौधरी, उषा मित्रा, होमवतीदेवी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, शिवरानी देवी ।
उपन्यास	उषा मित्रा
निबन्ध और गद्य	महादेवी

एक निवेदन और कर दूं । हिन्दी में अनेक शब्दों के तत्सम तथा तद्भव दोनों ही रूप स्वीकार किये गये हैं । मैंनें अधिकतर तद्भव रूपों का प्रयोग किया है । संस्कृत व्याकरण के अनुसार हिन्दी के अनेक शब्दों के रूप अशुद्ध निर्धारित किये जाते हैं; परन्तु मुझे भाषा के स्वाभाविक विकास पर विश्वास है, अतः हिन्दी में स्वीकृत संस्कृत शब्दों के अनेक (तथाकथित अशुद्ध) रूपों का प्रयोग इस निबन्ध में उन्हें शुद्ध मान कर ही किया गया है ।

एक निवेदन उद्धरणों के विषय में और करना है । मैंने मुद्रित तथा हस्त-लिखित दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों का उपयोग किया है । हस्तलिखित ग्रन्थों में पृष्ठ संख्या आदि प्रायः नहीं है, अतएव उद्धरणों में एकरूपता का निर्वाह करने के लिए मैंने पृष्ठ संख्या, प्रकाशन इत्यादि का विस्तृत उल्लेख नहीं दिया। इसके अतिरिक्त लेखिकाओं का उल्लेख जिन विशिष्ट ग्रन्थों में मिलता है उसका विस्तृत परिचय मैंने विषय प्रवेश के अन्तर्गत दे दिया है । इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए मैंने अधिकतर लेखिका तथा ग्रन्थ का ही विवरण दिया है, पृष्ठ संख्या का नहीं; क्योंकि कहीं पर उसे देना और कहीं पर न देना अधिक संगत न होता।

दूसरा अध्याय

हिन्दी पूर्व काल में नारी

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—संस्कृति तथा साहित्य के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के कारण किसी विशेष वर्ग की साहित्यिक देन पर विवेचनापूर्ण दृष्टिपात करने के पूर्व उसकी सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि से परिचय आवश्यक है। जीवन की परिस्थितियाँ प्रतिभा के प्रस्फुटन में बाधाएँ अथवा सहायक बनती हैं। भारतीय इतिहास पर अंकित भारतीय नारी के अनेक रूपों का परिचय उसकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का एक आभास देने में सहायक होगा।

भारतीय संस्कृति के इतिहास के प्रारम्भिक पृष्ठों पर नारी की प्रतिभा वेदमन्त्रों तथा ऋचाओं के रूप में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। संस्कृति के प्रतीक साहित्य में नारी के महत्व तथा प्रतिभा की स्पष्ट छाया मिलती है। वेद, महाकाव्य रामायण तथा महाभारत, बौद्ध तथा जैन साहित्य तथा उनके परवर्ती मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, पाराशर इत्यादि के धर्मशास्त्रों के आधार पर ही भारतीय सामाजिक व्यवस्था के इतिहास की रेखाएँ खींची जाती हैं। इनके अतिरिक्त युग के लौकिक साहित्य का भी इस दृष्टि से पर्याप्त महत्व रहता है। इस प्रकार वेदों से आरम्भ होकर बारहवीं शती तक का साहित्य भारत की प्राचीन संस्कृति का मूल आधार है। इसी साहित्य कोश के पृष्ठों पर अंकित उल्लेखों के आधार पर इस पृष्ठभूमि की रेखाएँ खींची गई हैं।

प्राचीन आर्यों के सामाजिक जीवन का जो आभास ऋग्वेद में मिलता है, उसके संगठन के सिद्धान्त तथा व्यवहार में स्त्रियों का पद श्रेष्ठ और उच्च दिखाई देता है। स्त्रियों के जीवन की सीमा साधारण दिनचर्या से परे मानसिक तथा धार्मिक नेतृत्व के क्षेत्र में भी दृष्टिगत होती है। साहित्य रचना की क्षमता रखने वाली स्त्रियों को अपनी प्रतिभा के विकास में किसी प्रकार की बाधा का सामना नहीं करना पड़ता था। ऋग्वेद संहिता में कई स्त्री कवियों की रचनाएँ सम्मिलित हैं:

प्रथम मंडल के एक सौ छब्बीसवें सूत्र के सातवें श्लोक की रचयिता रोमशा ब्रह्मवादिनी हैं:

अग्निरीशे वसूनां शुचिर्यो धर्णिरेषाम।
प्रिया अपिधीर्व निषीष्टं मेधिर आ व निषीष्ट मेधिरः।

इसी मंडल के एक सौ उन्नासी सूत्र के दो श्लोक लोपामुद्रा द्वारा रचित हैं:

पूर्वी रहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्ती
भिनात श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीवृषणो जगम्युः ।

इनके अतिरक्त दूसरे मंडलों में भी स्त्रियों द्वारा रचित ऋचाएँ मिलती हैं, जिनका साधारण परिचय निम्नलिखित उल्लेखों से मिल जाता है :

मंडल	सूक्त	मंत्र संख्या	रचयिता
१०	१५१	५	श्रद्धा कामायनी
	१५४	५	यमी वैवस्वती
	१५९	६	पौलोमी शची

शारीरिक शक्ति के क्षेत्र में भी उनका पूर्ण योग था। समर भूमि में स्त्रियों के सक्रिय सहयोग का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। एक कथा के अनुसार विष्पला के युद्ध में घायल होने, तथा अश्विनों के उपचार से स्वस्थ होने का उल्लेख मिलता है। विवाह के विषय में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता थी; प्रेम विवाह प्रचलित तथा प्रचुर थे। अनेक अभिसारों तथा प्रेम प्रसंगों के विवरण से सिद्ध होता है कि बाल विवाह का पूर्णतया अभाव था; इसके विपरीत स्त्रियों के प्रौढ़ावस्था में विवाह का भी आर्य सभ्यता में पूर्ण निषेध नहीं मिलता। ऋग्वेद के दशम मंडल की एक ऋचा द्वारा आर्य सभ्यता में विधवा की अवस्था पर कुछ प्रकाश मिलता है। श्मशान में पति के शव के पास लेटी हुई विधवा को सम्बोधित करके कहा है :

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोक गता सुमेखमुपे शेष एहि ।
हस्तग्रामस्य दिधिषोस्त वेदं पत्युर्जनित्वमभि संबूभथ ।

ऋग्वेद में पत्नी के उच्च पद को देखकर समाज की व्यवस्था में नारी के उच्च स्थान का अनुमान किया जा सकता है। गृह पत्नी के श्रेष्ठ स्थान का आभास अनेक श्लोकों द्वारा मिलता है। एक स्थल पर स्त्रियों के प्रति कुछ उपेक्षामय शब्दों का प्रयोग अवश्य मिलता है, जिसमें कहा है कि स्त्रियों की बुद्धि निर्बल होती है और उनका चित्त अधिक संयम नहीं पसन्द करता।

इन्द्रश्चिद् द्या तदब्रवीत स्त्रिया अशास्यं मनः । उतो अह क्रतुं रघुम ।

इतिहास की प्रगति के साथ स्त्रियों के ह्रास के स्पष्ट चिह्न दिखाई देने लगते हैं। आर्यों तथा अनार्यों के संघर्ष के फलस्वरूप जाति बन्धन अनुदिन कठोर होते गये। युवक तथा युवतियों के स्वतन्त्र बाधाहीन सम्मिलन में प्रेम की सम्भावना स्वाभाविक थी; उन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण अथवा प्रतिबन्ध असम्भव था। प्रेम जाति अथवा वर्ण की सीमा नहीं जानता, प्रेम और विवाह की सीमा बाँधने के लिए यह आवश्यक था कि स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर भी बन्धन लगाया जाता। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था तथा विशेषकर अनार्यों की उपस्थिति के कारण पुरुषों से स्वतन्त्रतापूर्वक मिलना-

जुलना कम होने लगा। पर्दा यद्यपि आरम्भ नहीं हुआ था पर पुरुषों की गोष्ठियों से स्त्रियाँ अलग रहने लगी थीं। इस पार्थक्य ने उनके ज्ञान अथा अनुभव को परिमित कर दिया; फलतः उनका आदर भी कम होने लगा। स्त्री के ह्रास का सबसे बड़ा कारण एक और था। ऋग्वेद काल की अपेक्षा अब जीवन के भौतिक आनन्द का महत्व कम हो रहा था, और तपस्या की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। संसार से विरक्ति के मार्ग में स्त्री सबसे बड़ी बाधक थी। काम प्रवृत्ति की निन्दा के आरम्भ के साथ स्त्री के ह्रास का इतिहास भी आरम्भ होता है। मैत्रायणी संहिता में उनका उल्लेख जुआ तथा मदिरा के साथ हुआ है। तैत्तिरीय संहिता में एक वाक्य में स्त्री एक बुरे शूद्र से भी नीची है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी यह आशा प्रकट की गई है कि स्त्री अपने पति को उत्तर न दे।

यद्यपि स्त्रियों की निन्दा और परतन्त्रता की प्रवृत्ति संहिताओं तथा ब्राह्मणों में आरम्भ हो गई थी, पर यह चित्र एकदम काला ही हो, यह बात नहीं है। इस प्रकार के परिवर्तन एक दिन में नहीं होते। दो विरोधी प्रवृत्तियों के संघर्षण से किसी फल के मूर्त रूप ग्रहण करने में काफ़ी समय लगता है। ब्राह्मण और संहिताओं के ही अनेक कथनों से स्त्रियों के पद का सम्मान और आदर प्रमाणित होता है। तत्वज्ञान के वाद विवाद में वह पुरुषों के समान ही भाग लेती थीं। ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण में अनेक विदुषियों का उल्लेख आया है।

महाकाव्यों के युग में स्त्रियों के विषय में यत्र तत्र आये हुए उल्लेखों के आधार पर उस युग की नारी की कल्पना करने की अपेक्षा, उनमें अंकित नारी का रूपाधार अधिक स्पष्ट और स्वाभाविक होगा। महाकाव्यों से पूर्व की सामग्री में प्रबन्धात्मकता तथा लौकिक चरित्रांकन के अभाव के कारण ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक उल्लेखों को आधार मानना अनिवार्य हो जाता है, परन्तु महाभारत और रामायण में अंकित नारी चरित्रों की उपस्थिति में, ये उल्लेख गौण पड़ जाते हैं। इन महाकाव्यों में अंकित नारियाँ द्रौपदी, दमयन्ती, कुन्ती, सावित्री, सीता तथा कैकेयी, अपनी अवस्था और युग की कहानी स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। समष्टि में मान्य भावनाएँ उसकी व्यष्टि रूप इकाइयों के विश्लेषण से पूर्णतया स्पष्ट हो जाती हैं। भारतीय संस्कृति के प्रतीक दो महाकाव्य रामायण तथा महाभारत हैं। इन महाकाव्यों का रचनाकाल तथा अन्य तिथियों का निर्णय विवादग्रस्त है। रामायण के कवि वाल्मीकि का आदि कवि के पद पर प्रतिष्ठापन रामायण को ही भारतीय लौकिक काव्य का प्रथम ग्रन्थ प्रमाणित करता है; पर भौगोलिक दृष्टि से महाभारत उस काल की रचना प्रमाणित होती है जब आर्य सभ्यता का स्थापन तथा विकास पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के निकट हो रहा था। रामायण की कथा का केन्द्र अवध तथा मिथिला

है; इस आधार पर कुछ ऐतिहासज्ञों का कथन है, कि आर्य सभ्यता आर्यावर्त के उत्तर पश्चिम में स्थापित होने के पश्चात् पूर्वी तथा दूसरे प्रदेशों में बढ़ी। इस प्रकार रामायण की रचना आर्य सभ्यता के उत्तरार्ध में हुई, जब कि महाभारत की रचना उसके प्रारम्भ काल में ही हो चुकी थी। इस आधार पर रामायण की घटना महाभारत के बाद की प्रमाणित होती है। इस विषय में एक अन्य मत का प्रतिपादन भी किया जाता है, कि संभव है, अभ्यागत आर्य विभाजित होकर अनेक स्थानों पर बस गये हों; इस प्रकार रामायण तथा महाभारत की संस्कृति प्रायः समकालीन हो। ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत की संस्कृति ही प्राचीनतर प्रतीत होती है। कम से कम नारी जीवन के रूप तथा उसके चरित्र भी यही प्रमाणित करते हैं। महाभारत में अंकित नारी के शक्तिशाली अस्तित्व में परिमार्जित स्वातन्त्र्य, तथा सक्षम सौंदर्य है। द्रौपदी का चरित्र नारी जीवन की परिसीमाओं तथा शक्तियों का प्रतीक है। उसका अस्तित्व पुरुष के अस्तित्व में विलीन नारीत्व नहीं, भावनाओं, विचारों, तर्कों तथा अन्य प्रत्येक क्षेत्र में शक्तिशाली स्त्रीत्व है। वन पर्व में युधिष्ठर की शांतिप्रिय नीति पर उसकी प्रतारणा में केवल वैयक्तिक प्रतिशोध की भावना ही नहीं, सैद्धान्तिक, नैतिक तथा राजनीतिक बुद्धिमत्ता की छाया का आभास भी मिलता है। राजनीति विश्लेषण, युधिष्ठिर द्वारा अपने ऊपर आरोपित आस्तिकता का प्रतिवाद, आत्मा तथा ईश्वर की विवेचना, कर्मफलों की व्याख्या इत्यादि उसके चरित्र के एक पक्ष हैं, तथा, उसी पर्व में उसका सत्यभामा को पातिव्रत का उपदेश उसका दूसरा पक्ष। तर्क और भावना के संतुलन को जीवन का आधार बना, बुद्धि तथा हृदय का सामंजस्य कर, वह पांडु पुत्रों पर शासन करती है; चीर हरण का अपमान भुला देना उसके लिए असम्भव है, नारी का अहं, पुरुष के बल का सम्बल प्राप्त कर महाभारत में परिणित होता है। द्रोपदी के चरित्र में राजनीति, गृह, समाज, राष्ट्र इत्यादि अनेक क्षेत्रों में नारी की क्षमता का आभास प्राप्त होता है। मातृत्व, पत्नीत्व, प्रेयसी रूप, उसके व्यवितत्व में साकार हैं। वह पांडवों की सहधर्मिणी तथा मित्र है; समर्पण तथा सेवा से प्राप्त उसकी शक्ति अतुलनीय तथा अनुपम है। महाभारत की प्रधान पात्री के चरित्र का यह रूप उस महाकाव्य के अंतर्गत अनेक नारी विरोधी उल्लेखों का खंडन कर देता है। द्रौपदी के चरित्र के इस शक्तिशाली आभास के अतिरिक्त अन्य नारी चरित्रों का रूप भी अन्धकारमय नहीं है। यह सत्य है कि वैदिक काल की अपेक्षा इस काल में स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण का स्तर पर्याप्त मात्रा में निम्न हो गया था। आनुशासिक पर्व में जिन कटु तथा अश्लील शब्दों का प्रयोग है, उनका कुछ न कुछ आधार तो अवश्य ही होगा :

"स्त्री सबसे ज्यादा पापी है, माया है, आग है, जहर है, साँप है; झूठी, मक्कार,

विचारहीन, चंचल, दुश्चरित्र और कृतघ्न है।"

परन्तु अनेक नारी पात्रों के विश्लेषण इस प्रकार की उक्तियों का समर्थन नहीं करते। स्त्रियाँ पुरुषों को कर्म तथा वीरत्व का उपदेश देती हैं; पति को यश तथा शौर्य के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करती हैं। अकर्मण्यता तथा दुराचार पर उन्हें प्रताड़ित तथा लांछित करती हैं। कुन्ती की मातृ शक्ति, गान्धारी के पातिव्रत, तथा द्रोपदी के शक्तिशाली व्यक्तित्व में तो उस युग की नारी की छाया मिलती ही है, पर इनके अतिरिक्त यत्र तत्र आये हुए अप्रधान नारी चरित्र भी साधारण नहीं हैं। द्यूत मद में अन्ध नल की राज्य कार्य उपेक्षा देखकर दमयन्ती का राज्य प्रबन्ध की बागडोर स्वयं अपने हाथ में लेना, यम को सावित्री की चुनौती, शकुन्तला का गान्धर्व विवाह तथा शक्तिपूर्ण व्यक्तित्व इस तथ्य के प्रमाण हैं कि स्त्री का अस्तित्व अनुरंजक मात्र नहीं था। आदि पर्व मे शकुन्तला दुष्यन्त से विवाह मीमांसा करती है, प्रेम के प्रथम प्रवाह से आलोड़ित भावावेश के साथ ही उसके विवेक का परिचय भी इन पंक्तियों से मिलता है :

"स्त्री धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की मूल है; सबसे बड़ी मित्र है। आनन्द में मित्र है, उत्सव में पितावत् है, रुग्णावस्था में मातृवत् है, मृत्यु के पश्चात् भी पति-पत्नी मिलते हैं, इसीलिए तो विवाह सम्पन्न होता है।"

नारीत्व की सीमा महाभारत की अपेक्षा रामायण में संकुचित है। उसके अन्तर्गत आई हुई प्रौढ़ाओं में नवीन चरित्रों की अपेक्षा अधिक शक्ति है। कैकेयी का युद्धस्थल में दशरथ को सहयोग, कनिष्ठिका के सहारे रथ की धुरी का प्रबन्ध, और उसका शक्तिशाली व्यक्तित्व रामायण में अंकित नारी के शौर्य के प्रतीक हैं, पर दूसरी ओर, पातिव्रत तथा आदर्श के नाम पर पति की इच्छा, अत्याचार, अन्याय, सबके सामने झुक कर अपने को मिटा देने में गर्व समझने की प्रतिक्रिया में, नारी के अस्तित्व के उच्छेदन का आरम्भ भी दिखाई देता है। सीता का व्यक्तित्व आदर्शों के पोषण की दृष्टि से चाहे जितना गम्भीर क्यों न हो, उसमें नारी के समर्पण की चरमावस्था के साथ साथ शक्ति की उपेक्षा भी है। उनके जीवन की घटनाओं पर दृष्टिपात करने से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि आज की नारी की विवशता तथा निर्बलता में सीता की कहानी की ही पुनरावृत्ति है। भारतीय नारी के अभाग्य के नवीनतम पृष्ठ, जिन पर साम्प्रदायिकता के विषाक्षर अंकित है, सीता-हरण की कहानी से आरम्भ हुए प्रतीत होते हैं। सीता की प्रबल मानसिक शक्ति पातिव्रत में साकार हो गई। इसी के आधार पर उन्होंने अपने लौकिक जीवन की कुंठा की कालिमा को पृथ्वी प्रवेश द्वारा मिटा दिया। राम के अन्याय के प्रति उनका यह प्रतिशोध कम नहीं था, पर ऐसा प्रतिशोध सीता जैसे व्यक्तित्व के लिए ही

सम्भव था, जिसने पुरुष की कामनाओं तथा आदर्शों की पूर्ति के लिए अपने को मिटाकर भारतीय नारी की मानसिक शक्ति का परिचय दिया।

महाभारत की सूत्रधारिणी तथा प्रेरक द्रौपदी की अपेक्षा, राम-रावण युद्ध का कारण सीता का रक्षणीया रूप पुरुषों को अधिक अच्छा लगना स्वाभाविक था। सीता के रक्षणीय रूप तथा पातिव्रत के नाम पर उनके त्याग और उत्सर्ग ने भारतीय सामाजिक विधान की ग्रन्थि भी सुलझा दी। सीता का असाधारण व्यक्तित्व साधारणतम स्त्रियों पर आरोपित कर दिया गया, फलस्वरूप पातिव्रत स्त्रियों का प्रधान धर्म घोषित हो गया। पातिव्रत के नाम पर समर्पण, त्याग तथा सेवा, इन विधानों के अभाव में भी, स्त्रियाँ करती आ रही थीं, पर उन अनिवार्य बन्धनों ने पुरुष की शारीरिक शक्ति, स्वार्थ तथा अनाचारों के प्रति स्त्रियों को नतमस्तक होने के लिए विवश कर दिया। रामायण तथा महाभारत के सम्मिलित आदर्श कदाचित् भारतीय नारी की भाग्य-रेखाओं का कुछ और ही रूप बनाने में सफल रहते, लेकिन पति-सेवा की अनिवार्यता से भारतीय वातावरण में एक नई ही प्रतिक्रिया आरम्भ हुई।

हिन्दू विधान ने नारी के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति पति-सेवा पर ही आश्रित कर, उसके लिए जीवन के अन्य क्षेत्रों का मार्ग प्रायः अवरुद्ध कर दिया था, परन्तु बन्धन-ग्रस्त विवशता तथा नैराश्य, अवरोध से मुक्ति की चेष्टा में आकुल हो रहा था। तथागत बुद्ध की बौद्ध धर्म में स्त्रियों को दीक्षा की व्यवस्था से उनके अवरुद्ध जीवन की शृंखला को शिथिल होने का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। नियंत्रण की पराकाष्ठा तथा पातिव्रत के अनिवार्य आरोपण की प्रतिक्रियास्वरूप, समाज के विभिन्न वर्गों की स्त्रियों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। उच्च वर्गों के सामन्तीय परिवारों, शासकों, श्रेष्ठियों के कुल से लेकर श्रमिकों, शूद्रों तथा वेश्याकुल की स्त्रियों तक ने इस मत को ग्रहण किया। यह सम्बल पाकर मानों बँधे हुए नारीत्व को विस्फोटन का अवसर प्राप्त हुआ। विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न ध्येयों से प्रेरित होकर उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन से विदा ली। बुद्ध के आलोकमय व्यक्तित्व से प्रभावित होकर तो स्त्रियों ने उनके मार्ग का अनुसरण किया ही, अनेक स्त्रियों ने सांसारिक जीवन की दुःखमय घटनाओं से प्रभावित होकर भी बौद्ध धर्म ग्रहण किया। वैधव्य, सन्तान की मृत्यु, पति का दुर्व्यवहार, गार्हस्थिक जीवन के दुःख और चोट इत्यादि इसके कारणों में मुख्य थे। इस प्रकार उनके जीवन-मार्ग की बाधाओं, असुविधाओं, और असह्य दशाओं से मुक्ति पाने का निष्क्रमण बौद्ध मत में मिला। इस नूतन वातावरण में प्रविष्ट होकर उन्हें श्वास लेने का अवसर प्राप्त हुआ। जीवन में नये संदेश, नई सुविधाएँ और नवीन आशाओं के साथ अपने विकास का विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हुआ। निर्वाण

की प्राप्ति में उनका नारीत्व बाधक नहीं बना। दमन तथा नियंत्रण में वह भिक्षुओं से किसी प्रकार भी पीछे न रहीं। मानसिक शान्ति की प्राप्ति की शिक्षा प्राप्त कर निर्वाण-प्राप्ति के लिए जितनी भी साधनाएँ आवश्यक थीं, सभी क्षेत्रों में नारी ने पूर्ण सफलता से कार्य किया।

ऐन्द्रिय इच्छाओं के दमन तथा नियमन के लिए जिस वातावरण की आवश्यकता थी, बौद्ध विहारों के सम्मिलित वातावरण में उसका स्थापन असम्भव हो गया। नारी दीक्षा की प्रथम स्वीकृति के अवसर पर, महात्मा बुद्ध की भविष्यवाणी सत्य प्रमाणित हुई। लौकिक विकर्षण के स्थान पर स्त्री तथा पुरुष का सहवास आकर्षण बन रहा था। संघ का अनुशासन, नियमन और व्यवस्थापन जब तक दृढ़ रहा, आचार के कठोरतम नियमों की उपस्थिति में यौवन की उच्छृंखलताएँ शान्त रहीं, पर तथागत के निर्वाण के उपरान्त भ्रष्टाचार ने जो रूप लिया, उसने नारी-जीवन की धारा को फिर से मोड़ दिया। दबी हुई कामनाओं की प्रतिक्रिया उच्छृंखल ऐन्द्रिय लिप्सा में हुई, जिसने बौद्ध धर्म के अनुशासन तथा नियमन का अतिक्रमण कर कामनाओं की अभिव्यक्ति की ही विजय घोषित की।

गृहस्थ-जीवन से च्युत, यह भिक्षुणियाँ, बौद्ध विहारों के पतन के उपरान्त पथभ्रष्ट हो गईं। उनके इस पतन के साथ ही नारी का स्वातंत्र्य भी अपने पूर्व परिचित बन्धनों में बाँध दिया गया। मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु तथा भारतीय जनता के अन्य भाग्य-विधायकों के नियमों के बन्धनों ने उन्हें पूर्णतया जकड़ लिया।

इसके परवर्ती साहित्य में अंकित नारी में शक्ति तथा निष्ठा का सुन्दर सामंजस्य है। बौद्धकाल के परवर्ती इतिहास तथा काव्य में नारी-चरित्र अनुपम है। ध्रुवस्वामिनी, राज्यश्री, महाश्वेता तथा कादम्बरी के चरित्रों द्वारा उस युग की नारी-भावना का मूल्यांकन सम्भव तथा सरल है। सामाजिक मर्यादा की सीमा के विरुद्ध कायर पति की इच्छा के प्रति विद्रोह तथा अपने प्रेम-पात्र चन्द्रगुप्त के साथ पुनर्विवाह किसी युग की कायर नारी नहीं कर सकती। राज्यश्री का सती होने का आग्रह तथा वैधव्य काल की नैतिक निष्ठा से प्रमाणित होता है कि स्त्रियों के जीवन की प्रतिक्रिया बौद्ध भिक्षुणियों की उच्छृंखलता के पश्चात् नैतिक निष्ठा की ओर हो रही थी। इन ऐतिहासिक चरित्रों के अतिरिक्त साहित्य की काल्पनिक नारियों में भी इसी भावना का प्राधान्य है। महाश्वेता, कादम्बरी इत्यादि नारियों के चरित्र भी इसी भावना के प्राधान्य का प्रतिपादन करते हैं। दो-चार ऐतिहासिक तथा साहित्यिक पात्र कल्पना की आधारभूमि प्रदान करने के लिए काफ़ी नहीं, इसलिए स्त्रियों की स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए उन विधानों की शरण लेनी पड़ती है, जिन्हें याज्ञवल्क्य, विष्णु, मनु तथा भारतीय जनता के अन्य भाग्य-विधायकों ने

बनाया था।

याज्ञवल्क्य तथा मनु के स्त्री सम्बन्धी सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर अधिक नहीं दिखाई देता। उनके अनुसार रोगी, प्रवंचक, मदिरा-पान करने वाली, बंध्या, कर्कशा, दुराचारिणी तथा केवल कन्या को जन्म देने वाली स्त्री का त्याग किया जा सकता है।

वात्स्यायन ने स्त्रियों के लिए कामशास्त्र सम्बन्धी शिक्षा आवश्यक बताई है। उनकी पुस्तक 'कन्या सम्प्रयुक्तम' के उपदेशों और सिद्धान्तों से अनुमान होता है कि कुछ विशिष्ट वर्णों में कन्याओं को पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। कला-कौशल और वेश-भूषा द्वारा आकर्षक बनकर वे युवक समाज में सम्मिलित होती थीं; हर प्रकार के रास-विलास और आनन्द के उपकरणों के बीच एक दूसरे को आकर्षित और प्रसन्न करने की चेष्टाएँ होती थीं। उनके अनुसार केवल प्रेम के आधार पर सम्पन्न विवाह ही सफल हो सकता था। उस युग के महान् व्यक्तियों में वात्स्यायन इस दृष्टि से कुछ आगे दिखाई देते हैं। जहाँ मनु तथा याज्ञवल्क्य दमन-प्रवृत्ति के द्वारा समस्याओं की ग्रंथि सुलझाने का प्रयास करते हैं, वहीं वात्स्यायन मूलगत भावनाओं के आधार पर उसका समाधान करते हैं। इन सिद्धान्तों में हमें बाल-विवाह के प्रतिकार का प्रयास दिखाई देता है। विधवा-विवाह के क्षेत्र में भी अपने सम-सामयिकों के विचारों के विरुद्ध उनके विचार बहुत क्रान्तिकारी हैं। प्रकृति ने अपने विकास-क्रम में मानव-हृदय को ऐसा बनाया है कि स्त्री की ओर पुरुष का आकर्षण होता है और पुरुष की ओर स्त्री का। यह प्रवृत्ति इतनी बलवान् है कि इसका नियमन और समाजीकरण सामाजिक संगठन का एक मुख्य उद्देश्य है। पर इसकी प्रबलता से तंग आकर भारतीय धार्मिक और नैतिक शिक्षकों ने जड़ से इसके उन्मूलन करने की चेष्टा की। फलस्वरूप, रति-भाव का आधार होने के कारण स्त्री-भर्त्सना आरम्भ हुई; स्त्रियों का जीवन दीवारों से घिर गया; विधवाएँ जीवित जलायी जाने लगीं; और स्त्रियों की भाग्य-रेखाएँ पूर्ण-तया धूमिल पड़ गईं। प्रधान ध्येय में कदाचित् कुछ सफलता इससे मिली हो, पर स्त्रियों को इसका बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। वात्स्यायन ने इस प्रवृत्ति को मूलतः बुरी समझने की अपेक्षा उसकी अभिव्यक्ति का यथोचित प्रबन्ध और नियमन अच्छा समझा। पर हिन्दू आध्यात्मिक आदर्श में जहाँ भूख, प्यास, शीत और ग्रीष्म पर विजय पाने का प्रयत्न है, जहाँ कोरी दमन-नीति आध्यात्मिकता का आदर्श रही है, वहाँ, उस युग में, वात्स्यायन की इस विवेचना को कौन सुनता ?

गुप्तकाल के पश्चात् नारद तथा बृहस्पति की स्मृतियों द्वारा इस काल के सामाजिक सिद्धान्त पर प्रकाश पड़ता है। सामाजिक प्रथाएँ और रीतियाँ स्थिर नहीं रहतीं; मूलतः कोई अन्तर न मिलने पर भी पूर्वकाल से इस काल में थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है। हिन्दू धर्म के नियम-विधायक अपने सिद्धान्तों तथा विधानों में परि-

स्थितियों तथा समय के अनुकूल परिवर्तन करने के लिए सदैव तत्पर थे। यद्यपि निवृत्ति के प्रचार, विदेशियों के आक्रमण तथा वर्ण-व्यवस्था के कारण स्त्रियों के पद का ह्रास हो गया था, तथापि उस युग के सामाजिक नियमों में स्त्रियों की अवस्था उतनी बुरी नहीं है, जितनी आगे चलकर हो गई। कुछ विशेष परिस्थितियों में पुनर्विवाह इत्यादि की व्यवस्था है। स्त्री-पुरुषों के स्वतन्त्र सम्मिलन का विरोध किया जाता था, क्योंकि उसमें दुराचार का भय है।

स्त्रियों के सम्बन्ध में बृहस्पति के विचार बड़े ही रोचक और महत्त्वपूर्ण हैं—

'स्त्रियाँ जोंक होती हैं; उन्हें नित्य चाहे जितना भोजन, वस्त्र, और आभूषण प्राप्त हों, वे अधिक की इच्छा किया करती हैं। जो स्त्री अपने ग़रीब या बीमार पति को त्याग देती है वह दूसरे जन्म में कुतिया, गिद्ध या घड़ियाल होती है; जो अपने पति के साथ सती हो जाती है, उसे स्वर्ग में आनन्द की प्राप्ति होती है।'[1]

व्यास की स्मृति में पत्नी का रूप इस प्रकार है—

'धर्म, अर्थ, काम म स्त्री पति से अलग नहीं है। स्त्रियों को घर का सब काम करना चाहिए; चरित्र में श्रेष्ठ होना चाहिए; महापातकी पति को भी न त्यागना चाहिए; पर पति का कर्त्तव्य है कि वह दुराचारी स्त्री का मुख भी न देखे और डाँट-फटकारकर उसे दूर देश में निकलवा दे। ब्राह्मण की विधवा सती हो जाय या सिर मुँडाकर भोगविलास छोड़कर ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करे।'[2]

पाराशर के अनुसार आत्महत्या पाप है; पर जो स्त्री सती हो जाती है, वह एक करोड़ वर्ष स्वर्ग में रहती है और पति की आत्मा को भी नरक से अपने पास खींच लेती है। जो विधवा ब्रह्मचर्य से रहती है, वह ब्रह्मचारियों की भाँति स्वर्ग जाती है। प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य है कि संतान पैदा करे। जो युवावस्था में निर्दोष स्त्री का त्याग करता है, वह सात जन्म तक स्त्री होकर विधवा होता है। उनके अनुसार कन्याओं का विवाह १२ वर्ष के पहले हो जाना चाहिए; विलम्ब की निन्दा उन्होंने तीव्र और अश्लील शब्दों में की है।

अंगिरस के समय में बाल-विवाह आरम्भ हो गया था। किसी वस्तु का मूल्यांकन उसकी सुलभता एवं दुर्लभता पर निर्भर रहता है। स्त्रियों के पद-ह्रास का एक महान् कारण उनकी सुलभता रही है। पुराणों में भी स्त्रियों के प्रति आये हुए संकेतों से यही प्रतीत होता है कि उनका त्याग करना सबसे सरल कार्य था।

इसके पश्चात् सातवीं ईसवी शती के इतिहास पर प्रकाश डालने के दो मुख्य

---

१. दक्ष ४।१।१९।

२. व्यास २।१९।५४।

साधन हैं—(१) उस युग के ग्रंथ और (२) ह्वेनसाँग द्वारा रचित 'सि-यू'। बाण उस काल का प्रमुख लेखक था। उसकी रचनाओं में ग्राम-जीवन तथा राजसभाओं के बिम्ब-प्रतिबिम्ब दृश्य बना देने की क्षमता है तथा ह्वेनसाँग के ग्रंथ का प्रधान मूल्य उसके समकालीन राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं के वर्णन में है।

समाज के दूसरे अंगों पर प्रकाश डालते हुए, स्त्रियों की समस्या पर भी वह किंचित् दृष्टि डालता है। उसके अनुसार उस काल में अन्तर्जातीय विवाहों का अभाव था; अनुलोम-प्रथा का प्रचुर प्रचार था; उच्च वर्गों में स्त्रियों का पुनर्विवाह वर्जित था, पर शूद्रों तथा निम्नवर्गीय वैश्यों में विधवा-विवाह विधान-विहित था।

सती-प्रथा प्रचलित थी, पर यह कहना कठिन है कि सामाजिक विवेक और बुद्धि उसे कहाँ तक उचित समझती थी। बाण के हर्षचरित से प्रकट होता है कि हर्ष की माता सौभाग्यशालिनी ही मृतावस्था को प्राप्त करने की आकांक्षा से पति की मृत्यु के पूर्व ही जलकर मर गई। राज्यश्री के भी चिता पर बैठने से जलने का प्रयास मिलता है। जो विधवाएँ जीवित रहती थीं, वे श्वेत वस्त्र धारण करतीं और एक प्रकार की वैधव्य वेणी बाँधा करती थीं। प्रभाकरवर्धन की अन्त्येष्टि के पश्चात् कहे गये हर्ष के शब्दों से विदित होता है—

'प्रजा पालता वध्नातु वैधव्य वेणीं परिधत्तां धवले वाससी वसुमति।'[1]

बहुपत्नी प्रथा का व्यापक प्रचलन था; वास्तव में नियम यही था, एक पत्नी-व्रत होना तो अपवाद था। सम्राट् तो एक स्त्री से कभी संतोष ही नहीं कर सकता था। राजाओं के अन्तःपुर में बहुसंख्यक रक्षिताएँ और वेश्याएँ रहती थीं। प्रभाकर-वर्धन की मृत्यु-शय्या पर अनेक स्त्रियाँ उनकी शुश्रूषा में लगी हुई वर्णित हैं। युद्ध में जीते तथा मारे गये राजाओं की स्त्रियाँ विजेता के अन्तःपुर की महिलाओं की संख्या में वृद्धि कर देती थीं।

ह्वेनसाँग के वर्णन के अनुसार कुलीन समाज का जीवन सुखमय और आमोद-पूर्ण था। राज्यश्री के विवाह तथा हर्ष के जन्मोत्सव के आमोद-प्रमोद के वर्णन उस युग के ऐश्वर्यमय जीवन का आभास देते हैं, पर राजमहल के जीवन का एक पहलू बहुत जघन्य और अश्लील था। विलास की मात्रा पूर्णतया अनियन्त्रित थी। स्त्रियों के लिए राजा ऐसी नैतिक दुर्बलता का प्रदर्शन करते थे जो उनकी मर्यादा के विरुद्ध ज्ञात होती है। महल में बहुसंख्यक वेश्याओं का अस्तित्व उस युग की अनियंत्रित और उच्छृंखल विलास-भावना का द्योतक है।

हिन्दी के पूर्वकालीन भारतीय नारी-जीवन के उत्कर्ष और अपकर्ष पर दृष्टि

---

१. हर्षचरित २३६।

डालने से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय अध्यात्मवाद की निवृत्ति-भावना, विदेशियों के आक्रमणों और पुरुष की लोलुपता और अधिकार-प्राप्ति की उत्कंठा के कारण समय के साथ-साथ नारी का पद ह्रास होता गया। जीवन की पूर्णता की प्राप्ति प्रवृत्तियों के विकास, सामंजस्य और समाजीकरण में नहीं, उनके दमन में समझी गई और हिन्दू धर्म के संयम की इस निर्बलता के कारण स्त्री एक अनिवार्य भार बन गई।

तीसरा अध्याय

डिंगल की कवयित्रियाँ

भारतीय नारी-जीवन की इस पतनोन्मुखी पृष्ठभूमि के पश्चात् हम उस काल की सीमा में आते हैं जिसे हिन्दी का शैशव कह सकते हैं। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व उस काल की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति से परिचय आवश्यक है।

तत्कालीन राजनीतिक स्थिति

जिस समय हिन्दी भाषा का जन्म हो रहा था, भारतीय राजनीति के इतिहास में विभाजक शक्तियों की प्रबलता हो रही थी। कन्नौज के गहरवार राजा जयचन्द तथा अजमेर के पृथ्वीराज का वैमनस्य अपने साथ अनेक हिन्दू राजाओं को भी ले डूबा। मगध के राजा महीपाल तथा कांची के चोल राज्य के संघर्ष तथा कुशासन और राजद्रोह के कारण मगध का बल भी घट गया। ११९७ में शहाबुद्दीन ग़ोरी के सेनापति बख़्तियार खिलजी ने मगध का नाश कर दिया। बंगाल, मालवा, दिल्ली, अजमेर, पंजाब, कश्मीर, सिंध, सभी प्रदेश विदेशियों के आक्रमण से आक्रान्त होकर सदैव के लिए विदेशी राजाओं के अधीन हो गये।

मुसलमानी आक्रमण तथा पारस्परिक वैमनस्य तो इस युग के विच्छेद के मूल में थे ही, इसके अतिरिक्त धार्मिकता और वर्ण-व्यवस्था ने सैनिक तथा राजनीतिक शक्ति और सामाजिक दृढ़ता को पहले ही कम कर दिया था। आलोच्य समय के पूर्व भी विदेशी आक्रमण आरम्भ हो गये थे, धर्म-प्रचार की महत्त्वाकांक्षा में आठवीं शती के आरम्भ में ही मुहम्मद बिन क़ासिम ने आक्रमण किया। शिक्षण, नियमन और संगठन के अभाव के कारण यद्यपि सिंध का राजा दाहर परास्त हुआ, पर उस पराजय में हमें उस काल की नारी के शौर्य का एक प्रबल आभास मिलता है। दाहर की मृत्यु के अवसर पर उसकी भावनाएँ आँसू बनकर विवश नहीं रह गईं, प्रत्युत् आघात की उस विषम पीड़ा ने उसके शौर्य को उभार दिया। युद्ध के शेष सैनिकों को एकत्रित कर अपने नगर की रक्षा की, उसकी अध्यक्षता में सिपाहियों ने क़ासिम की सारी आयोजनाएँ निष्फल कर दीं, पर क्षुधा से विवश संघर्ष युद्धभूमि के संघर्ष से कठोरतर था, परन्तु राजपूत के आत्मसम्मान ने समर्पण की अपेक्षा मरण श्रेष्ठ समझा और भारतीय इतिहास के शौर्य में उस जौहर की सृष्टि हुई जिसकी आवृत्ति राजपूत काल में अनेक बार हुई।

राजपूतों के अपकर्ष का सबसे प्रधान कारण उनका पारस्परिक द्वेषजन्य संघर्ष था। अपने राज्य की सीमा बढ़ाने की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता की स्थापना, उनका ध्येय था। गौरव और सम्मान की प्रतीक नारी इन युद्धों के हेतु रूप में आई, अपहृत कन्या अपने कुटुम्बियों तथा अपहर्ता के बीच वैषम्य की खाई बन जाती थी। विवाह इस प्रकार सहयोग और सहृदयता का प्रतीक होने की अपेक्षा गौरव और मर्यादा-प्रसार का साधन हो गया था। इस प्रकार तत्कालीन विच्छेदपूर्ण राजनीति के कारण नारी की व्यवस्था तथा जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। विदेशी आक्रमणों ने उसे रक्षणीय बना दिया था। पारस्परिक वैमनस्य में प्रेरणा सिद्ध होने के कारण उसके नाम पर अनेक युद्ध होने लगे थे। शौर्य और मर्यादा का प्रतीक बन उसने कितनों को प्रताड़ित और कितनों को गौरवान्वित कर दिया था। उसकी इस परिसीमा निर्माण के लिए बाह्य कारण केवल एक था—विदेशी आक्रमण। इसके अतिरिक्त अन्य कारणों के मूल में पुरुष की अनियन्त्रित और उच्छृंखल विलास-भावना थी। राजनीति के क्षेत्र में राज्य-प्रबन्ध, सेना-संचालन इत्यादि के लिए वह प्रायः असमर्थ थी, पर शारीरिक बल की इस कमी को जौहर के प्रखर शोलों में जलती हुई मानसिक शक्ति पूरा कर देती थी। विदेशी आक्रमणकारियों के समक्ष आत्मसमर्पण की अपेक्षा जीवन-दहन उनकी उच्च भावना तथा महान् आदर्श के सूचक हैं।

सामाजिक स्थिति

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हिन्दू समाज में नारी के विकास के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। सामाजिक संस्थाएँ किसी युग में स्वतन्त्र अस्तित्व लेकर नहीं जन्म लेतीं, प्रत्युत् परम्परागत रीतियाँ, नियम तथा विधान समय के साथ परिवर्तित होते-होते एक निर्दिष्ट रूप धारण कर लेते हैं। राजपूत काल में भी वैदिक काल से चली आती हुई परम्पराओं का विकास एक निश्चित दिशा में लक्षित होता है। वर्ण-व्यवस्था से उत्पन्न संकीर्णताओं के कारण स्त्रियों की जीवन-परिधि भी संकीर्ण बनती गई। निवृत्ति-भावना की प्रतिक्रिया यद्यपि वास्तविक जीवन में पूर्णतया प्रति-कूल रही, पर तदनन्तर नारी-उपेक्षा दूर नहीं हुई। उपेक्षित नारीत्व इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शृंगार की प्रेरणा बन गया। एक ओर राजनीतिक विषमताओं ने जहाँ उसमें जलकर भस्म हो जाने की शक्ति दी, वहीं सामाजिक क्षेत्र में उसकी सुलभता, सरलता और सौन्दर्य ने उसके व्यक्तित्व को अनुरंजकमात्र बना दिया। बाह्य और आन्तरिक कारणों से उसका जो रूप बना उसमें दो भावनाएँ प्रधान थीं—शौर्य और शृंगार।

उस युग में स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध प्रधानतया रक्षणीय और संरक्षक का था। माता, पत्नी, पुत्री हर रूप में वह रक्षणीय थी। परिस्थितिगत वैषम्य की शृंख-

लाओं में जकड़े रहने के कारण यद्यपि उनके व्यक्तित्व का विकास इस मात्रा में न हो सका था कि वह युद्ध आदि में पूर्ण सहयोग दे, पर इस प्रकार की घटनाओं का अभाव नहीं है। उनके प्रसिद्ध शौर्य और जीवन की परिसीमाओं को साथ-साथ देख-कर आश्चर्य होता है। फिर भी उस काल की नारी का प्रतिनिधि रूप यह नहीं है। वीर काव्य के नाम पर लिखे हुए साहित्य में नारी के ओजस्वी रूप प्रायः नहीं मिलते। इस युग की हिन्दी रचनाओं में चित्रित नारी चंडी अथवा दुर्गा नहीं, केवल कामिनी है। जौहर की ज्वाला उनके शृंगार की मादकता के सामने क्षीण प्रतीत होती है। चित्रण की इस प्रधानता का केवल एक कारण दिखाई देता है कि उस युग के कवि जनता के कम तथा राजाओं और आश्रयदाताओं के अधिक थे। तत्कालीन शास्त्रनिष्ठ काव्य में और लोकगीतों में अंकित नारी-चित्रों में अन्तर है। राजसभाओं में पोषित वीर काव्यों में स्थूल शृंगार की प्रधानता है, पर उस समय के लोकगीतों में नारी का रूप-चित्रण पूर्णतया भिन्न है। इन रचनाओं में शौर्य और शृंगार की जो भाव-नाएँ हैं उनमें उस युग की नारी के वास्तविक रूप का आभास मिलता है।

इस विषय में एक स्मरणीय बात यह भी है कि लोकगीतों तथा अपभ्रंश काव्य में चित्रित नारी के चरित्र साधारण जनता के हैं। वैधानिक संकीर्णताओं का प्रभाव सामन्तीय तथा उच्च वर्गों पर अधिक था। साधारण जीवन में यह विषमताएँ थीं ही नहीं ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, पर जीवन की सभी वस्तुओं का मूल्यांकन स्वर्ण-मुद्राओं से न होने के कारण नारी की उपयोगिता के साथ उसका अस्तित्व शेष था। इसलिए वह पुरुष के संघर्षमय जीवन की पूरक थी; उसकी कटुता में माधुर्य बन उसके जीवन को स्पंदित करती थी; और उसके ढलते तथा शिथिल क्षणों में प्रेरणा और उद्गार बन उसे शौर्य से भर देती थी।

राजपूतों के सामाजिक जीवन तथा उनकी भावनाओं का सुन्दर चित्रण श्री हेमचन्द्र द्वारा संकलित काव्य में मिलता है। उस काल के शौर्य के इतिहास में राजपूत नारी की देन बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह प्रेरणा है, तलवार से भयभीत होकर रक्षा की आर्त पुकार करने वाली नारी राजपूतनी नहीं है, वह शौर्य की साकार प्रतिमा है। अपने प्रेमी के रण-कौशल पर उसे गर्व है। वह कहती है—

भागउँ दोक्खि निअय वलु, पसरि उउ परस्सु।
उम्मिलह ससिरेह जिव, करि करवाल पियस्सु॥

—अपनी सेना को उखड़ते और शत्रु-सेना को फैलते हुए देखकर मेरे प्रिय के हाथों में तलवार बंकिम चन्द्र की भाँति चमक रही है।

प्रेरणा ही बनकर नहीं, सक्रिय सहयोग और युद्ध में भाग लेने के विवरण का भी अभाव नहीं है। राजपूत वीरांगना के ये शब्द केवल कल्पना के आधार पर

लिखे हुए नहीं प्रतीत होते। जिस युग का कवि नारी से इन शब्दों की कल्पना कर सकता है, उस युग की नारी के शौर्य में संदेह नहीं किया जा सकता।

पइ मइ वेहि विरण गयहिं, को जयसिरि तक्केइ।
केसहि लेघिणु जम घरिणि, मय सुह को तक्केइ॥

—जब हम और तुम रण-क्षेत्र में रहेंगे, विजयश्री की आशा दूसरा कौन कर सकेगा, यम की धरणि के केशों को खींच कर कौन सुख पा सकेगा ?

जेइ मग्ग पार कड्डा तो बव्सहि मज्जु पियेण।
अह भागा अमृहं तणा तो ते मारिअ जेण॥

—यदि शत्रु पराजित हुए हैं, तो हे सखि, वह मेरे प्रेमी द्वारा पराजित किये गये होंगे; यदि हमारे सैनिक हारे हैं, तो इसलिए कि वह मृत्यु को प्राप्त हो चुके होंगे।

शौर्य के इन ओजपूर्ण चित्रों के साथ उसकी नारी-सुलभ भावनाओं के चित्रों की कमी नहीं है। पर अपनी मर्यादा वह कभी भूलती नहीं, उसके जीवन का सबसे बड़ा आदर्श है शौर्य और उसकी भावना तथा कल्पना का व्यक्ति है शूरवीर।

आयहिं जम्महि वि गौरि दिज्जस कन्तु।
तय मत्तहं चत्तंकु सहं अभि डह हसन्तु॥

—हे गौरी ! इस जन्म में तथा अन्य जन्म में हमें ऐसा पति देना जो अंकुश से वश में न आने वाले हाथियों को मुस्कराते हुए वश में कर ले।

वीरत्व की इन उच्च भावनाओं के साथ ही नारी-हृदय की कोमलताओं का भी चित्रण है। कहीं-कहीं विरह की यह अनुभूतियाँ इतनी गहन और मार्मिक मिलती हैं कि राजपूत स्त्रियों के चरित्र में शौर्य और शृंगार का अनुपम मिश्रण दिखाई देता है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सिंहावलोकन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्पीड़न और अनाचार का प्रभाव यद्यपि तीव्र गति से बढ़ रहा था, पर राजपूत स्त्रियाँ, कम-से-कम साधारण स्त्रियाँ, अपने गौरव और आत्मसम्मान का ऊँचे-से-ऊँचा मोल चुकाती थीं। इस युग में कुछ चारण स्त्रियों और भटियारिणियों के नाम का उल्लेख मिलता है परन्तु प्रायः उन सभी ने वीरता के गीत गाने की अपेक्षा मान, मिलन, रिझावन इत्यादि के गीत अधिक गाये हैं। इन चारणियों का क्षेत्र रंगभूमि नहीं वरन् अन्तःपुर का रंगमहल होता था। अन्तःपुर के विलासमय वातावरण में शृंगार की प्रधानता स्वाभाविक थी। राजा जहाँ अपनी छोटी-छोटी महत्त्वाकांक्षाओं के नाम पर सदैव तलवार रंगने की चेष्टा में रहते थे, वहीं उनका नैतिक स्तर भी निम्नतर होता जा रहा था। सजीव नारियों की प्राप्ति के लिए भी भूमि और अर्थ-प्राप्ति की चेष्टा की भाँति आपस में प्रतिद्वंद्विता चला करती थी। पुरुषों के अनेक विवाह की प्रथा के अनुसार उनकी इस इच्छा पर कोई प्रतिबन्ध था ही नहीं, फलस्वरूप

अनेक स्त्रियों के जीवन, यौवन और प्रेम एक ही पर केन्द्रित होने के कारण अन्तःपुर में स्पर्द्धा और ईर्ष्या की प्रतिद्वंद्विता चला करती थी। सभी रानियाँ अपने जीवन की सार्थकता प्राप्त करने का प्रयास करती थीं जो केवल नायक की प्रेमपात्री बन जाने पर ही अवलम्बित थी। जहाँ राजपूत स्त्रियों का शौर्य और उनकी आत्मशक्ति, उनके युद्ध और जौहर में प्रतिबिम्बित मिलती है वहीं प्रेम के क्षेत्र में उनकी दुर्बलता आश्चर्य का कारण बनती है। यह बात केवल विलास और वैभवपूर्ण वातावरण में अंकुरित और पल्लवित राजकुमारियों और रानियों तक ही सीमित नहीं थी, लोक-जीवन के चित्रों में भी इसकी झलक यत्र-तत्र दिखाई देती है। उदाहरणतः—

जे महु दिणणा दिहेअडा दइये वयसन्तेण।
ताण गणन्तिय अंगलिउ जज्जा आउ गहेण॥

युद्ध-यात्रा पर जाते समय जितने दिवस की अवधि उसका प्रियतम दे गया था उन्हें गिनते-गिनते उसकी उँगलियों पर घाव हो गये हैं। विश्वास नहीं होता कि यह उक्ति उन्हीं राजपूतनियों की है जिनके मुख से ये शब्द निकले हैं—

भल्ला हुआ जो मारियाँ बहणि म्हारा कंत।
लज्जवन्तु वयसि अहु मइभग्ग घरु अंत॥

उसे गर्व है कि उसका पति युद्ध-क्षेत्र में मारा गया, नहीं तो पराजित होकर लौटने पर उसे अपनी सहेलियों के सामने लज्जित होना पड़ता। शक्ति और दौर्बल्य का यह सम्मिश्रण अद्भुत लगता है। एक ओर हृदय पर पाषाण रख मर्यादा पर सर्वस्व लुटाकर सन्तुष्ट होने वाली शक्ति है, और दूसरी ओर एकमात्र निधि आँसू का भण्डार लिये उसी का अवलम्बन लेकर जीने वाली अबला; पर दोनों ही सत्य हैं, कल्पना नहीं। इन दो रूपों से उस युग की नारी अपनी शक्ति, सौन्दर्य और विवशता में साकार हो गई है।

जब राजनीति और समाज में ऊहापोह के लक्षण दृष्टिगत हो रहे थे, भाषा भी अपभ्रंश से दो दिशाओं में मुड़कर डिंगल तथा पिंगल नाम से विकसित हो रही थी। राजस्थान में नागर अपभ्रंश होकर जो साहित्यिक भाषा बन रही थी वही डिंगल कहलाई। डिंगल भाषा का विकास प्रधानतया चारणों और भाटों द्वारा हुआ। यद्यपि परिस्थितियों ने स्त्रियों को बिलकुल पृष्ठभूमि में रख छोड़ा था, पर इस क्षेत्र में स्त्रियों के प्रयास का अभाव नहीं है। इनमें से कुछ कवयित्रियों के स्वर में चारणों का स्वर मिला हुआ सुनाई देता है और कुछ का उद्भव शृंगार तथा भक्ति की प्रेरणा से हुआ है।

डिंगल काव्य का रचना-काल बहुत विस्तृत है। आरम्भ में अन्य प्रादेशिक भाषाओं की साहित्यिक उन्नति के अभाव के कारण इसका बहुत महत्त्व रहा, पर आगे

चलकर अवधी और ब्रज के सौष्ठव तथा माधुर्य के सामने इसका महत्त्व कम पड़ गया, परन्तु इसका अस्तित्व पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हो गया। डिंगल में रचना करने वाली स्त्रियों का जीवन-काल यद्यपि बारहवीं शती के पश्चात् आता है, पर उनके काव्य की सांस्कृतिक प्रेरणा राजस्थान ही है। कुछ कवयित्रियाँ मुग़लकालीन वैभव के युग में हुईं, पर उनका मुग़ल दरबार और मुसलमानी संस्कृति से बिलकुल सम्पर्क नहीं रहा, चारणों का युग यद्यपि राजस्थान के प्रधान राज्यों के पतन के साथ समाप्त-प्राय हो रहा था, पर उनके चिह्न उनके बाद आने वाले छोटे-छोटे राजाओं की सभाओं में विद्यमान थे। चारणों के प्रशस्ति गानों की प्रधानता यद्यपि समाप्त हो रही थी, पर सामन्तीय वातावरण में, छोटे-छोटे नरेशों और जागीरों की छत्रछाया में, भाटों की परम्परा के अनेक दरबारी कवि रहते थे जो अपने स्वामी की इच्छानुसार उन्हें प्रसन्न करने के लिए रचनाएँ करते थे। उनकी स्त्रियाँ यद्यपि काव्य के गुणों से पूर्ण भिज्ञ नहीं रहती थीं, अधिकतर उनके जीवन का क्षेत्र गृह ही था, पर अपवाद रूप में कुछ ऐसी चारणियों का उल्लेख मिलता है, जो अपने पति के आश्रयदाताओं के महल में रानियों के मनोविनोद के लिए रहती थीं। उनकी भाषा यद्यपि परम्परागत डिंगल है, पर उनकी रचनाओं में युद्ध की प्रेरणा प्रायः नहीं है, शृंगार की ही दो-चार पंक्तियाँ यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती हैं, साहित्यिक दृष्टि से जिनका कुछ महत्त्व नहीं; पर नारी द्वारा रचित ये पृष्ठ चाहे कितने महत्त्वहीन ही क्यों न हों, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

झीमा चारणी—झीमा बीकानेर राज्य के बीठू चारण की बहन थी, उसका समय विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी से १५६० के लगभग अनुमान किया जाता है। उस समय खीचीवंश का राजा अचलदास कोटा पर शासन कर रहा था। झीमा अपनी जीविका के लिए वहाँ पहुँची। अपनी वाचाल प्रकृति और मुखर स्वभाव से उसने राजा को प्रसन्न किया और इसके पुरस्कार में अपनी सहेली उमादे का विवाह भी उसने उनसे निश्चित कर लिया। अचलदास के साथ उमादे का विवाह हो जाने पर झीमा भी उन्हीं के साथ आ गई। झीमा की वीरता की कहानियाँ मारवाड़ में बहुत प्रसिद्ध हैं। झीमा की कहानी उस अन्धकारमय नारी के इतिहास में जुगनू की चमक की भाँति दिखाई देती है। कई युद्धों के अवसर पर उसने चारणी का कार्य किया। कला और सौन्दर्य की कोमलता में राजनीति और युद्ध की कटुता मिलाकर उसने एक नई भावना को जन्म दिया। अपने संगीत और वीणा से झीमा ने कई विपक्षी राजाओं को षड़यन्त्र में फँसाकर अपने आश्रयदाता का नमक चुकाया और उन युद्धों पर विजय-प्राप्ति के अवसर पर उसे सहस्रों मुद्रायें, अश्व और गज पुरस्कार में मिले। मुंशी देवीप्रसाद ने इस चारणी की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की है, पर दुर्भाग्यवश

चारण काव्य पर प्राप्त सामग्री में इस चारणी की रचनाओं का बहुत थोड़ा उल्लेख मिलता है। वीर गीत उसने लिखे थे ऐसा कहा जाता है, पर वे प्राप्त नहीं होते। हाँ, अपनी सखी उमादे और उसकी सपत्नी लालादे के बीच चलने वाले संघर्ष में उसने किस प्रकार वाचालता और प्रवीणता से उमादे को विजय दिलाई, उसका उल्लेख आकर्षक और रुचिकर है।

एक पुरुष, दो स्त्रियाँ। दोनों ही उसकी कृपा और प्रेम की आकांक्षी हैं। समस्या की इस उलझन में उमादे व्यथित है। लालादे राजा अचलदास की प्रथम पत्नी है। उसे पति का प्यार और उस पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। नव वधू उमादे अपने अरमानों, अपनी अभिलाषाओं तथा कामनाओं को समेटे पूर्ण वैभव के बीच में भी अकेली और दुःखी है। झीमा अपने पदों से उसका मन बहलाने का प्रयास करती है, पर उमादे जिसकी वीणा के तार बिना बजे ही अस्त-व्यस्त हो रहे हैं, उस संगीत में शान्ति और सुख कहाँ से प्राप्त करती? एक दिन वह कह बैठी, 'झीमा तेरी वीणा के यह स्वर, तेरा यह संगीत क्या राजा पर प्रभाव नहीं डाल सकते?' झीमा अपनी कला की हार मानने को तैयार नहीं। उसने यह झूठा समाचार फैलाकर कि उमादे के पास एक हार है जिसे वह राव साहब के आने पर ही देगी, सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। नारी-सुलभ चांचल्य और औत्सुक्य से लालादे ने वह हार माँगा। झीमा ने इस शर्त पर कि एक रात राव साहब उमादे के महल में रहें, हार देने का वचन दिया। उत्सुक और भीत लालादे ने यह स्वीकार किया।

पर राव साहब से उसने वचन ले लिया कि उमादे के महल में वे सैनिक-वेश परिवर्तित नहीं करेंगे। राव साहब अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हो शय्या पर लेट जाते हैं। उमादे उनके चरण दबा मानो जीवन की पहली सार्थकता प्राप्त करती है, और झीमा तान छेड़ देती है—

धिन उमादे सांखली, तैं पिय लियो मुलाय।
सात बरसरो बांछड्यो, तो किम रैन बिहाय॥
किरती माथे ढल गई, हिरणी लूबां खाय।
हार सटे पिय आणियों, हँसे न सामो थाय॥
अचल एराक्या न चढ़े, रोढा रो असवार।
लाला लाल मेवाड़ियां, उमा तीज बल भार॥

—उमादे सखी तू धन्य है! आज तूने प्रियतम को क्रय कर लिया, सात लम्बे बर्षों का यह वियोग-काल कैसे व्यतीत किया है? कृतिका ढल गई, मृगशिरा उदित है। तुम्हें हार के बदले तुम्हारा प्रिय मिला है, पर अभी तुम दोनों के बीच हास्य नहीं फूटा। लालादे मेवाड़ की रत्न है पर उमा के सौन्दर्य का बल उससे तिगुना है,

परन्तु अचल ऐराकी अश्व पर नहीं रोढे पर चढ़ता है।

इन तीक्ष्ण व्यंग्यों का प्रभाव अचलसिंह पर कैसे न पड़ता, पर व्यंग्य से तिलमिलाते हुए भी उन्हें लालादे को दी हुई प्रतिज्ञा याद आ जाती है। वह अपनी कमर नहीं खोलते। सूर्य की प्रथम किरणों के साथ लालादे की दासी उनको बुलाने के लिए आती है, तो उमादे का आकुल अन्तर पुकार उठता है—

पहो फटी पगड़ो हुआ, बिछरण की है बार।
ले सखि थारो बालमो, उरदे म्हारो हार॥

झीमा इस असफलता पर झुँझलाकर पूरी झनकार से फिर गा उठती है—

हार सटे पिय आणियो...

इस बार दबा हुआ पौरुष रुद्र बनकर इस पंक्ति का भेद पूछता है। झीमा गाती है—

लाला मेवाड़ी करे, बीजे करे न कोय।
गायो झीमा चारणी, उमा लियो मोलाय॥
पगे बजाऊँ घूँघरू, हाथ बजाऊँ तूँब।
उमा अचल मुलावियो, ज्यूँ सावन की लूँब॥
आसावरी अलापियो, धिन झीमा धण जाण।
धिन आजूँणे दीहने, मनावणे महिराण॥

—मेवाड़ी लालादे जो करती है उसे कोई दूसरा नहीं कर सकता। उमादे ने जो क्रय-विक्रय किया है वही मैंने आपको गाकर सुनाया है। नृत्य और वीणा पर नीर-भरे वारिद की भाँति मैंने उसी गीत की वर्षा कर दी है। मेरी स्वामिनी उमादे धन्य है, जो राजा को मनाने का अवसर मिला है।

नारियों के इंगित पर नाचने वाले तर्क और विवेक से रहित इस पुरुष की कल्पना मनोविज्ञान और स्वाभाविकता की कसौटी पर चाहे कैसी ही उतरे, पर झीमा की वाक्-चातुरी और व्यंग्योक्तियाँ उसके अद्भुत व्यक्तित्व का परिचय देती हैं।

इन कतिपय पंक्तियों के आधार पर झीमा के काव्य चातुर्य तथा वाक्-विदग्धता पर एक दृष्टि डाली जा सकती है। इन पंक्तियों में कला के सौष्ठव की आशा करना ही झीमा के प्रति अन्याय करना है। काव्य-शास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ, भाषा के प्रवाह और माधुर्य की महत्ता का मूल्यांकन करने में असमर्थ, छंद तथा अलंकार के नाम से भी अपरिचित, उस चारणी की इन पंक्तियों में विदग्धता तथा व्यंग्य ही प्रधान है। यही व्यंग्य तथा उपमायें किसी कुशल कलाकार की भाषा के परिधान में सुन्दर काव्य बन जाते, पर झीमा की तीक्ष्ण तथा मधुर भावनाय उसकी भाषा की ग्रामीणता तथा कर्कशता में लुप्त होती-सी जान पड़ती हैं। चारण-परम्परा के अनुसार उसने अपने काव्य का विषय जीवन से ही लिया तथा जीवन की समस्याओं को यथार्थ

रूप में रख उसी ढंग से उसने उनका समाधान भी ढूँढ़ने का प्रयास किया। आदर्शों की आड़ ले उसने जीवन के सत्य से पलायन नहीं किया वरन् समस्या के प्रत्यक्ष पार्श्व को प्रधानता देते हुए अपनी विदग्धता को काव्य तथा संगीत में बाँधकर कला को जीवन में उपयोगिता की कसौटी बनाया।

इन पंक्तियों में हृदय-पक्ष यदि प्रबल नहीं तो क्षीण भी नहीं है। आन्तरिक अनुभूतियों का सूक्ष्म विवेचन यद्यपि इनमें नहीं मिलता, पर अपनी बाल-सहेली के प्रति स्नेह, सहानुभूति तथा उपकार की भावनाएँ हृदय से विच्छिन्न तो नहीं की जा सकतीं। उमादे के प्रति प्रगाढ़ स्नेह के कारण ही उसकी व्यथा से झीमा को काव्य-प्रेरणा मिलती है। यह स्नेह यद्यपि मानव-स्वभाव की मूल तथा प्रधान प्रवृत्तियों में से नहीं है, पर इसके हृदयस्पर्शी होने में कुछ भी सन्देह नहीं है। जहाँ तक उसके काव्य के भाव-पक्ष का सम्बन्ध है, वह साधारण है। कलापक्ष के अस्तित्व के विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है, क्योंकि न तो कला की साधना इन पंक्तियों का उद्देश्य है, और न इनमें भावों की वह चरमाभिव्यक्ति है, जहाँ साधना की चेष्टा न होते हुए भी अनुभूतियाँ कला बन जाती हैं। भाषा में न तो परिष्कार है और न पाण्डित्य। स्थानीय प्रचलित शब्दों के बहुल प्रयोग हैं, कहीं तो भावों की सरसता भाषा की ग्रामीणता में बिलकुल खो ही गई है। इन सब अभावों तथा त्रुटियों के होते हुए भी उसमें जीवन है, व्यंग्य है और विदग्धता है जिसे देखकर ऐसा भास होता है कि अपने अनुकूल वातावरण तथा अपने विकास का थोड़ा भी अधिक अवसर पाकर झीमा की प्रतिभा कहीं अधिक प्रस्फुटित होती, प्रतिकूल परिस्थितियों के द्वारा उत्पन्न कुंठा के अभाव में शायद वह अपने युग के प्रमुख कवियों में स्थान प्राप्त करने की अधिकारिणी होती।

पद्मा चारणी—इनका समय सन् १५९७ के लगभग माना जाता है। यह चारण माला जी साहू की पुत्री तथा बारहट शंकर की पत्नी थीं। बीकानेर राज्य के अन्तःपुर में यह जीविका-निर्वाह के लिए रहती थीं। ऐसा भास होता है कि इनका कार्य झीमा चारणी की भाँति अंतःपुर की रानियों का मनोविनोद करना तथा वहाँ चलती हुई प्रतिस्पर्द्धा को लेकर पद और कविता बनाना था। डिंगल में यह गीत और कविता लिखा करती थीं। बीकानेर-नरेश अमरसिंह उन दिनों अकबर के विरुद्ध क्रान्तिकारी स्वर उठाकर उसके कोष इत्यादि को लूटने में प्रवृत्त रहते थे, पर अकबर के विशाल वैभव के सामने इस छोटे से आत्माभिमानी राजा की क्या चलती? मुग़ल-सेना ने उनके सैनिकों को कुचलते हुए उनका गढ़ घेर लिया। अमरसिंह उस समय निद्रावस्था में थे। सोते हुए सिंह को छेड़ने का साहस किसी में नहीं था क्योंकि अमरसिंह क्रोध में अपना विवेक खो बैठते थे। ऐसी स्थिति में पद्मा ने राग छेड़ उनकी निद्रा भंग की। उस गीत की

बस एक ही पंक्ति प्राप्त है—

जाग जाग कल्याण जाया।

राजा की निद्रा टूटी। आक्रमणकारियों को परास्त करते हुए, वह वीर गति को प्राप्त हुए। उनके जीवन के साथ बँधी हुई पत्नियाँ और रक्षितायें उनके साथ सती हो गईं। पद्मा ने उन सतियों की वीरता पर कई दोहे कहे, जो प्राप्त नहीं हैं। पर राठौरों के प्रशस्ति गीतों के एक संग्रह में एक गीत इस आशय का अवश्य मिलता है जो इसकी सत्यता का प्रमाण देता है—

गगणे गाज आवाज रणतूर पारवर गरर।
सालु लै सिंधु ओ राग साथै॥
दुरित धनराज रो वैर जल डोलतो।
झलकियो मूँगली फौज माथे॥
धी खे कमंध खगधार और धूलिये॥

× × ×

सारदल सामुँही हंस पावासारी।
झीलियो नारियण लोहु जाभे॥
सती पुहपा अने अछर अग्र सिवा णँ।
जाह नह नाम संसार जमी यो॥
हरि सहर को चले हंस अविहड हरो।
कवध नारायणो सरोग झमियो॥......

—आकाश में रणतूर का कठोर गर्जन गूँज रहा है। सिंधु का भयानक स्वर लेकर सेना झुकी आ रही है। वीर राजा के वैर रूपी जल को मथता हुआ मुग़ल सेना का अग्रणी आगे बढ़ रहा है। उसकी तलवार की धार राजा के धड़ पर पड़ती है और उसे उड़ा देती है। राजा अपनी रक्षा का भरसक प्रयास करता है। पाबासर में इस प्रकार खड्ग-युद्ध चल रहा है। राजा वीरतापूर्वक लड़ने के बाद नाड़ियों से निकले हुए रक्त से नहाया पड़ा है। सती पुष्पा तथा दूसरी अप्सरावत् रूपवाली सती स्त्रियाँ उसके सम्मुख आती हैं। हरि की नगरी से आये हुए विमान पर उसके झूलते हुए प्राण आसीन होते हैं और राठौरराय इस प्रकार स्वर्ग को प्रयाण करते हैं।

इन कुछ पंक्तियों में व्यक्त ओज और करुणा काव्य की कसौटी पर उत्कृष्ट नहीं ठहरते। कला का इनमें स्पर्श भी नहीं है, पर भाव-दृष्टि से इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मुग़ल सेना की गर्जना, रक्त-रंजित राजा का शरीर, पति के साथ जलती हुई सतियों के दृश्य, टेढ़ी-मेढ़ी भाषा तथा भंग छंदों में व्यक्त होने पर भी हमारी आँखों में सजीव हो उठते हैं। राठौरराय के झूलते हुए प्राणों के उल्लेख में

युद्ध-जनित मृत्यु साकार हो उठती है। विकृत शब्दावली की बीहड़ता में छिपे हुए भावों को प्रयास करके निकालना पड़ता है। स्वर्ग का अपभ्रंश सरग तो समझा जा सकता है, पर सरोग की व्युत्पत्ति स्वर्ग तक ले जाने की कल्पना दुरूह है। परन्तु ओज तथा करुणा का व्यक्तीकरण पूर्णतः असफल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन भावनाओं की एक हल्की छाप हृदय पर पड़े बिना नहीं रहती। कवि-कल्पना का भी हल्का-सा पुट मुग़ल-सेना के अग्रणी की शौर्यपूर्ण गति के वर्णन में मिलता है।

इन पंक्तियों की लेखिका में यद्यपि विदग्धता, काव्योचित कल्पना तथा भावुकता का अभाव है, पर वह विकास के साधनों के अभाव के कारण है। सीधी-सादी रीति से भावों के व्यक्तीकरण में जो थोड़ी-बहुत मार्मिकता आ सकी है, वह उनकी अविकसित प्रतिभा की द्योतक है।

बिरजूबाई—इनका रचनाकाल लगभग सन् १७४३ अनुमान किया जाता है। यह जोधपुर के महाराज श्री अभयसिंह जी की राजसभा में रहने वाले चारण कविराज करनदीन की बहन थीं। कविराज के सदृश ही वह भी भड़कीले कवित्तों और गीतों की रचना करती थीं। यद्यपि वह किसी राजा के अन्तःपुर में नहीं रहती थीं, और न स्त्री होने के कारण यह किसी राजसभा में जाकर प्रशस्ति-गान सुना सकती थीं, पर उनमें कविता लिखने की रुचि थी। कहा जाता है कि एक बार उनका भतीजा चंपावत ठाकुर प्रतापसिंह के पास जाने लगा। स्वयं कवित्त या गीत लिखने की प्रतिभा उसमें न थी। पर चारण-परिवार का होकर अपनी यह अक्षमता प्रदर्शित करने में उसे लज्जा का अनुभव हो रहा था। उसकी बुआ बिरजूबाई को उसकी इस बालाकांक्षा का आभास मिला। उन्होंने उससे किसी से न कहने का वचन लेकर उसे कुछ पद लिखकर दिये। चारणों का कार्य युद्धकाल में उत्तेजना की कविता लिखना था। पर साधारणतः वे राजाओं और शासकों की प्रशंसा, जीवन के दूसरे अंगों से विषय लेकर भी किया करते थे। राजा की वेश-भूषा, उसकी सेना, उसका अन्तःपुर और स्त्रियाँ सभी उन्हें काव्य-रचना के लिए सामग्री और प्रेरणा प्रदान करते थे। बिरजूबाई की इन पंक्तियों में भी इन चाटूक्तियों वाली प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। राजा के अश्वों का वर्णन और उसके दान पर कुछ पंक्तियाँ मिलती हैं, पर भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से यह रचनाएँ अधिक महत्त्व नहीं रखतीं। न तो उनमें अनुभूति की तीव्रत है, न कल्पना की सजीवता और न सगुण सुगढ़ कला, पर सीधी-सादी तुकबन्दी ही उस युग की नारी की आशातीत देन है।

कहो सुचाला ऐराकी, नाव जेरी की बखाण कीजै।
ऐराकी रूप माँ आछा नाखां रीझावर पती॥

रीझाँ दे ऐराकी काछी एहा बाजराज।
छछेहा बछेक रथा····················
फील मत्था ठेके खुराँ डोहणेस फौज।
सोहणेस कारजाँ, आरोहणेस पातसाहा॥
मोहणेस नन्द देव एहातुरी भोज।
भूप लग्गा रूप लोभ बोल दे दलाला भाई।
रवकमा अमोल दे बड़ाई हेमरास॥
नगासूं तोल दे जराँ खोल दे खंखधारी नीठ।
हाथी साईं डोल देता, मोल दे हवास॥
पातरती ताते गीस रीती पंथ बिनू पंथी।
यूँ सारे दूसरेरे परीती, चीती कंत ज्यूँ उडाण॥

—यह कितनी सुन्दर गति वाला ईराकी अश्व है। इसका वर्णन किस प्रकार किया जाय। यह रूप का इतना सुन्दर है कि मन को मुग्ध कर लेने का इसमें अद्भुत गुण है। यह तो अश्वों का राजा ज्ञात होता है। इसके इस गुण का क्या वर्णन करूँ। यह प्रतापसिंह के रथ में जुतने योग्य है। इसके मस्तक पर फील और खुरों में नाल जड़ी है। सेना में इसकी शोभा अलग ही दिखायी देती है। इस पर आरोहित कुँवर प्रताप बादशाह के समान प्रतीत होते हैं। इसका सौन्दर्य देवताओं के मद को मथने वाला है। इसके रूप के प्रति राजा महीपसिंह भी आकर्षित हो गये हैं, इसके लिए अमूल्य धन दो, हेमराशि दो, रत्नों से इसका मोल करो। खड्गधारी प्रतापसिंह को इस पर आरोहित देख मैं मोहित हो गई हूँ।

वर्णन के क्रिया-पद में स्त्रीलिंग के प्रयोग से शंकित हो राजा ने बालक से पूछ ही लिया कि यह पद किसका लिखा हुआ है, और अपनी प्रशंसा के महत्त्वाकांक्षी बालक को भयभीत और निराश होकर स्वीकार करना पड़ा कि उसकी बुआ बिरजूबाई ने यह पद लिखा है।

बिरजूबाई की इन पंक्तियों को काव्य की संज्ञा देना उतना ही उपहासप्रद है जितना कि किसी बालक के टूटे-फूटे शब्दों को, जोड़ के प्रयास को, कविता कहना। परन्तु प्राचीन काव्य में अक्षर के नाम पर जो कुछ भी स्त्री द्वारा रचा गया, उसका उल्लेख आवश्यक समझकर यहाँ उद्धृत किया गया है।

नाथी—नाथी द्वारा रचित जो हस्तलिखित ग्रंथ उपलब्ध हैं उसका उल्लेख श्री टेसीटरी ने अपनी 'डिस्क्रिप्टिव कैटालॉग ऑव बार्डिक पोयट्री' की एक प्रति में किया है। नाथी के व्यक्तित्व के विषय में इस प्रति में कोई उल्लेख नहीं है, केवल अनुमान किया जाता है कि वह भोजराज की पुत्री थी। टेसीटरी ने भोजराज को अमरकोट का

शासक माना है और नाथी को उनकी पुत्री। उनका कथन है कि चन्द्रसेन के पुत्र राजा भोजराज संवत् १६०० के आसपास शासन कर रहे थे। नाथी उसकी पुत्री थी। उनका रचनाकाल १६७३-७४ सम्वत् माना गया है। उनका विवाह डेरवारा नामक स्थान पर हुआ था, और वहीं विष्णु की भक्ति में रत होकर उन्होंने इन भक्तिपदों की रचना की। हस्तलिखित प्रति में प्राप्त सामग्री को उन्होंने इस प्रकार विभाजित किया है—

भगत भाव का चन्द्रायण	२१० चरण
गूढारथ	७७ ,,
साख्याँ	३३८ ,,
हरि-लीला तथा नाम-लीला	५३५ ,,
बालचरित	६२ ,,
कंस-लीला	१०६ ,,

रचना की मात्रा इतनी अधिक होते हुए भी इस प्रति की अप्राप्ति के कारण उसकी देन का उचित मूल्यांकन करना असम्भव है। परन्तु उस युग में इस परिमाण में उसकी रचना देखकर, स्त्रियों के साहित्य को साधारण अनुमानित देन से कहीं अधिक मात्रा का आभास मिलता है।

राव योधा की सारवाजी रानी—'कृष्ण जी री वेली' के नाम से डिंगल काव्य में अनेक रचनाएँ की गईं। इसी नाम की एक हस्तलिखित प्रति की रचयिता श्री टेसीटरी ने इस रानी को माना है। यद्यपि इस रचना का नाम 'कृष्ण जी री वेली' है, पर वास्तव में इसमें केवल रुक्मणी के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन है जिसकी प्रथम पंक्ति है—

अनोपम रूप सिंगार अनोपम भूषण अंग।

ठकुरानी काकरेची—श्रीमती काकरेची गुजरात के अन्तर्गत काकरेची प्रदेश के एक ग्राम दियोधर के ठाकुर बाघेला अगराजी की पुत्री थी। इनका विवाह मारवाड़ देश के पश्चिम परगने केशीनगर के चौहान राव बल्लू जी के पुत्र नरहरि दास जी से हुआ था। इनके पति की मृत्यु शाहजहाँ के पुत्रों के साथ युद्ध करते हुए हुई। उनके श्वसुर और पति शाहजहाँ की अधीनता में थे। कहा जाता है कि इनके पति की मृत्यु के बाद उनके रूप-साम्य का एक व्यक्ति उनका रूप धारण करके आया और यह कहकर कि शत्रुओं ने मेरे मरने की झूठी खबर उड़ा दी है, उन्हें छलना चाहा। पर उन्होंने उसे पहचान लिया और कहा—

धर काली का करधरा, अधकाला अगरेस।
नाहर नेजाँ ने बजिया, क्यों पलटाऊँ बस॥

इसके अतिरिक्त उनके लिखे हुए और भी दोहे कहे जाते हैं पर उपलब्ध नहीं हैं।

चम्पादे रानी—यह जैसलमेर के राव लहरराज की पुत्री और बीकानेर के राजा के अनुज पृथ्वीराज की रानी थी। मुन्शी देवीप्रसाद ने इनका रचनाकाल १६५० वि० सम्वत् माना है। श्री निर्मल जी ने इस विषय में भ्रान्तिपूर्ण मत दिया है। एक ओर वे पृथ्वीराज को अकबर के दरबार में होना बतलाते हैं और दूसरी ओर इनका समय वि० स० १८१० मानते हैं। अकबर की मृत्यु स० १६६२ में हो गई थी, अतः मुन्शी देवीप्रसाद जी का मत अधिक विश्वसनीय जान पड़ता है। पृथ्वीराज स्वयं डिंगल और पिंगल के श्रेष्ठ कवि थे। प्रेम दीपिका नाम से रचनाओं की हस्तलिखित प्रति प्राप्त होने का उल्लेख नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में है। पृथ्वीराज के उजड़े हुए जीवन में चम्पा सौरभ लेकर आई। अपनी पूर्व पत्नी लीलादे की मृत्यु पर पृथ्वीराज के हृदय और जीवन में छाई हुई उदासी और निराशा का आभास उनके इस दोहे से मिलता है:

तो राध्यो नहि खान रूपा रे, वारा दे निसड्ड।
मो देखत तू बालिया, लील रहदा हड्ड॥

—हे अग्नि, अब से मैं तुझ में पका हुआ भोजन कभी नहीं करूँगा। तूने मेरी लीला को मेरे देखते-ही-देखते जला दिया; केवल अस्थियाँ शेष रह गईं।

चम्पा ने अपने मृदु स्वभाव और सौन्दर्य से पृथ्वीराज के जीवन के सूनेपन को मिटा दिया। अपने विवाहित जीवन में प्राप्त प्रेम और सुख से प्रेरणा पा उसने अनेक दोहे लिखे। उनके जीवन के अत्यन्त रोचक प्रसंग का उल्लेख मिलता है। रसिक और भावुक पृथ्वीराज को दर्पण में एक श्वेत केश दिखाई दिया। उन्होंने उसे उखाड़कर फेंक दिया। उनकी इस चेष्टा पर चपल और किशोरी चम्पा ने अपनी मुस्कान बिखेर दी, जिसके दर्पण पर पड़ते हुए प्रतिबिम्ब पर पृथ्वीराज की दृष्टि गई। उस प्रसंग को लेकर उन्होंने कुछ दोहे लिखे—

पीथल धोता आबियाँ, बहुली लग्गी खोड़।
पूरे जोवन मदमणी, ऊँभी मूह मरोड़॥
पीथल पल्लि टमुक्कियाँ बहुल्ली लग गई खोड़।
सामीनता हासा करे, ताली दे मुख मोड़॥

—श्वेत केश आ गये हैं, एक बहुत बड़ा दोष आ गया है। पूर्ण यौवन में मदमाती युवती मुँह फेरकर खड़ी है। श्वेत केशों को देखकर नवयुवती खड़ी होकर भी उपहास कर रही है।

चम्पा किन सुन्दर शब्दों में उनकी इस मानसिक ग्लानि का उपचार बनकर कहती है—

प्यारी कहे पीथल सुनो, धोला दिस मत जोय।
नरा नाहरा ......, पाका ही रस होय॥
खेड़ज पक्का धोरियाँ, पंथज गउघाँ पाव।
नरा तुरंगा बन फला, पक्का साव॥

—हे प्रियतम ! सुनो, श्वेत को सदैव ही बुरा नहीं कहते। नर, नाहर और ..... परिपक्व होने पर ही रस से पूर्ण होते हैं। लोगों की सार्थकता पकने में है, ऊँट की मार्ग तय करने में। नर, तुरंग और वनफल पकने पर ही स्वादिष्ट होते हैं।

ऐसी भावुक और मुखर रानी की रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं, पर अपने पति की काव्य-रचना में उसका पूर्ण सहयोग रहता था। ऐसे तो वह उनके काव्य की प्रेरणा ही थी, पर उनके सक्रिय सहयोग की बात भी काफ़ी प्रसिद्ध है। एक बार राजा को अपने रुक्मणी वेश नामक ग्रंथ में प्रासादों की शोभा का वर्णन करते समय छन्द की मात्राएँ पूर्ण करने में कठिनाई पड़ रही थी। काव्य का प्रभाव उनके विन्यास के अनुसार नहीं आ रहा था। चम्पा ने उनके सोचे हुए 'चन्दन पाट' के आगे 'कपाट हि चन्दन' जोड़कर चरण पूरा किया—

चन्दन पाट कपाट हि चन्दन।

इन पंक्तियों का साहित्यिक मूल्य तो कुछ भी नहीं है, परन्तु इन दो-चार उल्लेखों से तथा इन पंक्तियों में व्यक्त मुखरता से चम्पा के सौरभ के एक कण का आभास अवश्य मिल जाता है।

रानी रारधरी जी—इनका उल्लेख श्री मुन्शी देवीप्रसाद की राजपूताना के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज-रिपोर्ट में है। इसके अतिरिक्त 'महिला मृदुवाणी में' उनकी रचना के कतिपय उदाहरण तथा उनके जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश है। उनका वास्तविक नाम क्या था, यह तो अनिश्चित है, परन्तु मारवाड़ के रारधरा प्रान्त के राणा की पुत्री होने के कारण उन्हें रारधरी रानी के नाम से ही पुकारा जाता था। उनका विवाह सिरोही के राव जी से हुआ था। खेद का विषय है उनके निवास का यह संकेत प्राप्त होने पर भी उनके पिता और पति का नाम अप्राप्त है। सिरोही राज्य में आबू पर्वत की रमणीय और सुरम्य स्थली के प्रति आकर्षित होना राव साहब के लिए स्वाभाविक था। राव साहब तथा रारधरी जी की जो पंक्तियाँ प्राप्त हैं उनसे उनके सुखमय विवाहित जीवन का संकेत मिलता है। आबू की सुरम्य प्रेरणा से राव साहब ने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखीं—

टूंके टूंके केतकी, झिरने झिरने जाय।
अर्बुद की छवि देखता, और न आवे आय॥

—गिरि के एक-एक शिखिर पर केतकी खिली है, जूही के पुष्प झड़ रहे हैं,

अर्बुद की इस छवि को देखने के पश्चात् मन और कहीं नहीं लुब्ध हो सकता।

पर्वत की असम चढ़ाइयों से श्रमित रानी को यह पंक्तियाँ अच्छी न लगीं। अपने पिता के देश के सामने पति के स्थान को तुलना में निम्न सिद्ध करने की चेष्टा में उन्होंने इन पंक्तियों की रचना की—

पिय आछो भखनो जहर, पालो चलनो पंथ।
अर्बुद ऊपर बैठनो, भलो सरायो कंथ॥

—इतने विषम पंथ पर चलने से अच्छा ही अफ़ीम खा लेना है। अर्बुद की क्रीड़ा की, हे कंत! तुम व्यर्थ ही प्रशंसा कर रहे हो।

नारी-सुलभ चपलता से निकले हुए ये शब्द राव जी को बुरे लगे या भले, पर उन्होंने मानो उनकी खीझ का आनन्द उठाते हुए कहा, क्या तुम्हारे निर्जल-निर्गुण देश से भी हमारा आबू गया-बीता है? इस पर रानी उत्तर देती है—

घर ढाँगी, आलम धनी, परगण लूना पास।
लिखियो जिण ने लाभ-सी, राड़धड़ा-से वास॥

—मेरे गृह पर ढाँगी है, वहाँ आलम ईश की पूजा होती है। निकट ही लूण नदी का प्रवाह है, ऐसे राड़धड़े का वास बड़े भाग्यवान् को प्राप्त होता है।

ढाँगी राड़धरे में बालू के एक विशेष टीले का नाम है जिसके लिए कहा जाता है कि एक बार किसी बादशाह ने अपने अरबी घोड़ों के लिए अरब देश से रेत मँगवाया था, जिसे एक वणिक बैलों पर लादकर दिल्ली की ओर जा रहा था। राजस्थान के राड़धर नामक स्थान पर पहुँचकर उसने बादशाह की मृत्यु का समाचार सुना और निराश होकर सब रेत वहीं डाल गया।

रानी रारधरी की लिखी हुई यह चार-पाँच साधारण पंक्तियाँ हिन्दी-साहित्य के विशाल महासागर में एक क्षुद्र बिन्दु के समान भी नहीं हैं, पर विशालता की गरिमा में क्षुद्रता की पूर्ण उपेक्षा नहीं की जा सकती।

हरिजी रानी चावड़ी जी—इनका विवरण भी मुन्शी देवीप्रसाद की 'महिला-मृदुवाणी' में मिलता है। इनका समय अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनका जन्म गुजरात प्रान्त में एक प्रसिद्ध ठाकुर-परिवार में हुआ था। धजोपुर के महाराजा मानसिंह की रसिक दृष्टि ने इनके भाग्य में राजमहिषि बनने की रेखाएँ खींच दीं। यह जोधपुर के महाराजा मानसिंह जी की दूसरी रानी थीं। रसिक मानसिंह के सम्पर्क से रानी की प्रतिभा भी प्रस्फुटित हो रही थी। अनेक रानियों से घिरे हुए मानसिंह के हृदय पर उनकी गुण-ग्राहिता, सौंदर्य तथा कला-प्रियता का प्रभाव सबसे अधिक था। उनके सुखी विवाहित जीवन का संकेत राजा मानसिंह तथा स्वयं उनकी रचनाओं में मिलता है।

एक बार वह स्नानालय में थीं कि राजा मानसिंह आ गये। उन्होंने दासी से उनके पास अपने कुलदेव नाथ जी की शपथ भेजी कि अभी वह न आयें। राजा लौट तो गये, परन्तु शृंगारोपरान्त रानी के, राजा को बुलाने का, सन्देश भेजने पर राजा ने यह कहकर—तुमने मुझे इतनी बड़ी शपथ दिलाई है, मैं कैसे आ सकता हूँ ?—जाना अस्वीकार कर दिया। राजा का यह मान लगभग ६ मास तक चला। इसी अन्तर में वर्षा-ऋतु आ गई। सावन की तीज पर सुहागिनों के शृंगार और सौन्दर्य सार्थक होने लगे, तब रानी ने निम्नलिखित ख्याल लिखकर राजा के पास भेजा, और उससे राजा मानसिंह का मान टूट गया—

बेगानी पधारो म्हारा आलीजा जी हो।
छोटी-सी नाजक धीण रा पीव॥
ओ सावणियो उमंग रयोदे।
हरि जी ने ओडन दिखाती चीर॥
हण ओसर मिलयो कह होसी।
लाडी जी रो थाँ पर जीव॥
छोटी-सी नाजक धण रा पीव॥

—हे आलीजा ! मैं तुम्हारे अभाव में बेसुध हो रही हूँ। तुम्हारी कोमल धन कुम्हला रही है। सावन की उमंगें चारों ओर छा रही हैं, तुमसे मिलने की उत्कण्ठा बढ़ रही है। हे प्रिय ! मेरे प्राण तुम्हीं पर लगे हैं, तुम्हारी कोमल धन्या की यह दशा हो रही है।

मानसिंह की रसज्ञता और रसिकता ने रानी के व्यक्तित्व के विकास का साधन दिया, पर बहुलता का अभ्यासी उच्छृंखल पुरुष एक की सीमा में बँधकर कब तक रहता। मानसिंह ने इनके देखते-देखते अनेक विवाह किये, और रानी ने उन अवसरों पर मंगल-गीतों की रचना करके अपने दुःख में भी सुख के गीत गाये थे। उन मंगल-गानों में से एक यह है—

चाली मृगा नैणिया जी चम्पा व्याहियाँ।
उठे लाल तम्बूडा तणियाँ,
पनो सुमरे संगरा साथी।
ज्यूँ माल्या रा मणियाँ,
रसीलो राज नींद मदमातो॥
सुख समाज रंग वणियाँ।
फेर बंधावण चालो सखी,
पिव केसरिया बणियाँ॥

—मृग-नेत्र वाला नायक चम्पा से विवाह करने जा रहा है। लाल ताम्बूल का रंग उसके अधरों पर है। अपने इष्ट मित्रों के साथ वह ऐसा शोभित होता है मानों किसी माला की मणि हो। रसीलेराज, यौवन की तन्द्रा में मदमस्त सुख-समाज से घिरा हुआ है। चलो सखी, उसके सिर पर आज फिर केसरिया पाग बाँधें।

राजा की अत्यन्त विलास-प्रियता और राज-कार्य के प्रति उपेक्षा का लाभ उठाकर उनके राज्य-कर्मचारियों ने अनेक षड्यन्त्र रचकर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि राजा को सिंहासन-च्युत होना पड़ा, राजनीति की जटिलताओं को अपने जीवन के आनन्द और विलास-प्रियता के साथ-साथ समन्वित न कर सकने के कारण उन्होंने युवराज को राज्य का भार सौंप दिया। योग्य राजा के योग्य पुत्र होने के नाते कुँवर भी राज्य-कर्मचारियों की चाटूक्तियों से प्रभावित होकर, उनके परामर्श के अनुसार अपने पिता को मरवाने का षड्यन्त्र करने लगे, पर स्वयं दुर्व्यसनों के भाजन हो पिता से पहले ही स्वर्ग सिधार गये। यह स्वाभाविक था कि उपेक्षित पत्नीत्व, मातृत्व में सफलता पाने का प्रयास करता, हरिजी रानी निरन्तर अपने पुत्र का साथ दे रही थीं, अतः उन्हें भी इसके लिए राजा का कोपभाजन होना पड़ा। इस प्रकार एक प्रतिभा, केवल नारी होने के कारण, पति और पुत्र को माध्यम बना अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का स्वप्न देखते-देखते लुप्त हो गई। शयन-कक्ष की एक कोठरी में बन्द, अपने अहं की रक्षा करती, भूख और प्यास से तड़पकर, उसने रोष से प्राण त्याग दिये।

रानी चावड़ी द्वारा रचित काव्य में कल्पना, अनुभूति तथा कला तीनों ही तत्त्वों का थोड़ा-बहुत समावेश है। पहले उद्धृत दोनों ही पदों में माधुर्य और कल्पना है। मंगल-गीत में अपने पति के वर-वेश धारण करने पर उनकी हार्दिक अनुभूतियाँ अपने आप फूट निकलती हैं। हृदय में समाई हुई टीस उनके बहुत प्रयास करने पर भी छिप नहीं सकी। यौवन की तन्द्रालस्य में मदमस्त रसीलेराज के विवाह के अवसर पर, हृदय पर पाषाण रखकर, आनन्द के गीत गाये, पर उनके हृदय की छिपी भावना इस पंक्ति में फूट ही पड़ी—

फेर बँधावण चालो सखी।
पिव केसरिया बणियाँ॥

विवाह के उल्लासमय वातावरण में वर के वेश और सौन्दर्य की गाथा गाते-गाते जो व्यंग्यानुभूति अपने आप व्यक्त हो गई है वही काव्य की सफलता है। विवशता की पराकाष्ठा पर आई हुई मुस्कान के समान यह वाक्य हृदय में चुभ जाता है—चलो, फिर प्रिय के सिर पर केसरिया पाग बाँधें। गीतों की भाषा प्रसंगानुकूल सुन्दर तथा प्रवाहयुक्त है। साधारण भाषा में सरल भावों का व्यक्तीकरण कल्पना के सूक्ष्म पुट के साथ काफ़ी अच्छा बन पड़ा है। सरलता के कारण भाषा शृंगारहीन नहीं जान

पड़ती, बल्कि सरल वाक्य-विन्यास में छिपी हुई विदग्धता मर्म-स्थल पर आघात करती है। मानसिंह के रसिक व्यक्तितत्व से ही उन्हें रस की प्राप्ति हुई। उन्हीं की छत्रछाया में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त कर आनन्द प्राप्त किया। आत्माभिव्यक्ति की यथेष्ट शक्ति का आभास उनके गीतों में मिलता है, तथा उनके गीतों को पढ़कर एक रसिक, विलास-भरी, मुखर सुहागिन की भावनाएँ और उपेक्षिता की विवशता साकार हो जाती है।

हिन्दी के विस्तृत तथा विशाल डिंगल काव्य के शौर्य और माधुर्य की गरिमा तथा सौष्ठव की तुलना में इन चारणियों की दो-चार पंक्तियों का मूल्य शून्य से बहुत अधिक नहीं है। पर विशालता की गरिमा में क्षुद्र की पूर्ण उपेक्षा असम्भव है। विभिन्न कंटकाकीर्ण परिस्थितियों से उलझते हुए व्यक्तित्व का यह अवशेष उसके अस्तित्व का महत्त्व प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

चौथा अध्याय

निर्गुण धारा की कवयित्रियाँ

राजपूत इतिहास के पृष्ठों पर वैमनस्य की छाया देख जब विदेशी यवन शासक अपने लोलुप नेत्रों से भारतीय वैभव और ऐश्वर्य की ओर देख रहे थे, साधारण-से-साधारण बात पर तलवार उठाने का ओज और साहस रखने वाले राजपूत एक संगठन के अभाव के कारण अपने वीरत्व और शौर्य के होते हुए भी एक के बाद दूसरी पराजय से आक्रान्त हो रहे थे, और यवन अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में आशातीत सफलता पा एक के बाद दूसरी विजय के स्वप्न देख रहे थे। भारतीय गौरव की अनेक शक्तियाँ अलग-अलग अस्तित्व लेकर छिन्न-भिन्न हो गईं। शक्ति के संगठन के अभाव ने स्वर्ण और रत्नों से क्रीड़ा करने वालों को भिक्षु बना दिया। इस वैमनस्य और महत्त्वाकांक्षा में स्त्री एक प्रधान कारण बनकर आई। भारत के महान् भाग्य-निर्माताओं की सफल नीति ने वैभव और ऐश्वर्य के जो उपकरण एकत्रित किये थे; मौर्य, गुप्त और वर्धनों की सफल राजनीति ने जिस वातावरण की सृष्टि की थी उसमें भोग-विलास और आनन्द प्रधान था। काम की तृप्ति जीवन की सफलता की कसौटी थी, इन्हीं भावनाओं से प्रेरणा पा शृंगार के ग्रंथों की रचना हुई। जीवन में प्रेम की प्रधानता के कारण साहित्य में भी शृंगार की अभिव्यक्ति ही प्रधान रही। ऐसे वातावरण के बाद राजपूतों के लिए स्वाभाविक था कि वे अपने वीरत्व में शृंगार की प्रेरणा को प्रधानता देते। प्राचीन काल की नारी, अपनी परिस्थितियों से उलझती, नये विधानों में जकड़ती, छटपटाती, अब इस अवस्था को पहुँच चुकी थी जहाँ इन सोने की जंजीरों में ही उसे अपना जीवन सार्थक दिखाई देता था। वैधानिक और सामाजिक बन्धन उसने धर्म और मर्यादा के चमकीले आवरण में अपने आप लिपटा रखे थे। उसके लिए पुरुष को आनन्द की सामग्री बनने के अतिरिक्त और दूसरा कार्य शेष नहीं रह गया था, केवल एक रूप में उसका अस्तित्व शेष था, जो था उसका कामिनी रूप। यह कामिनी पुरुषों के जीवन में झंझा बनकर आई। राज्य और यश-प्राप्ति के हेतु किये गये युद्धों का वैषम्य नारी-अपहरण के लिए किये गये युद्धों से बहुत पीछे रह गया। संयोगिता की कहानी राजपूत इतिहास के पृष्ठों पर अंकित एक ही कहानी नहीं है, कन्या-अपहरण एक साधारण-सी बात हो गई थी। यद्यपि अपने इस रूप के लिए नारी स्वयं उत्तरदायी नहीं थी। पुरुष ने जो कुछ किया, वह कहाँ तक नारी की ओर देखकर किया और कहाँ तक स्वयं अपनी असंयत उच्छृं-

खल प्रवृत्ति की ओर देखकर; इस प्रश्न की प्रतिध्वनि बिना उत्तर के गूँजकर लौट आती है। पर यह सत्य है कि समाज और राजनीति नारी के प्रति लोलुप दृष्टिकोण के कारण विचित्र-से हो रहे थे। भारतीय इतिहास के प्राचीनतम पृष्ठों में दृष्टिगत नारी के रूप और शक्ति का आलोक क्षीण होते-होते मध्य पृष्ठों पर आकर पूर्णतया लुप्त हो गया। राजस्थान के जौहरें की आग भी क्षीण होती जा रही थी, हिन्दी के जिस युग में निर्गुण काव्य-रचना आरम्भ हुई, नारी की स्थिति गम्भीरतर होती जा रही थी।

राजनीतिक स्थिति—पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी काव्य में निर्गुण धारा का प्रादुर्भाव हुआ। अनेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक कारणों के संयोग से इस आध्यात्मिक आन्दोलन को प्रेरणा मिली। तत्कालीन राजनीति की अव्यवस्था से भी इस आन्दोलन का विकास हुआ। मुसलमानी विजयों के द्वारा दो विभिन्न संस्कृतियों तथा दो असम शक्तियों का पारस्परिक सम्पर्क हुआ। फलस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनेक प्रतिक्रियायें हुईं। यद्यपि बलात् धर्म-परिवर्तन कुरान के सिद्धान्तों के विरुद्ध था, पर इस्लाम के प्रचार में तलवार का प्रचुर सहयोग रहा। अरबों तथा उनके पदचिह्नों का अनुसरण करने वाले दूसरे मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ मृत्यु की विभीषिका, विनाश, बलात्कार इत्यादि साथ-साथ चलते थे। हिन्दुओं ने अपनी सामर्थ्यानुसार उनका सामना किया। पर अनेक विषम परिस्थितियों ने उनकी पराजय निश्चित कर दी।

युद्ध-भूमि में मारे गये सैनिकों के अतिरिक्त प्रत्येक मुसलमान विजेता के हत्या-काण्ड में सहस्रों मारे जाते थे तथा लाखों बन्दी कर लिये जाते थे। शिक्षा तथा संस्कृति के केन्द्र तक अरक्षित रहते थे। भारत में स्थायी रूप से बस जाने तथा साम्राज्य-स्थापन के पश्चात् भी मुसलमानों ने हिन्दुओं के जीवन को प्रायः असम्भव बना देने की रीति का त्याग नहीं किया। हिन्दू प्रजा को मुसलमान शासक की पीड़न-नीति से छुटकारा नहीं था, उनके व्यथित जीवन का उपयोग केवल कर चुकाने वाली इकाइयों के रूप में ही शेष रह गया था। शासकों की मर्यादा की रक्षा के नाम पर हिन्दुओं के लिए अश्वारोहण, शस्त्र-धारण, सुन्दर वस्त्र-धारण, ताम्बूल-पान इत्यादि अपराध माने जाते थे। हिन्दुओं की दशा इतनी दयनीय थी कि उनकी स्त्रियों को मुसलमानों के घर में किराये पर कार्य करने के लिए जाना पड़ता था।

विषय-निर्वाह के लिए निर्गुण काव्यधारा के उद्भव काल की राजनीतिक विषमताओं का स्त्रियों के जीवन पर जो प्रभाव पड़ा, उस पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है। युद्ध में जय-पराजय के निर्णय के पश्चात् विजित जाति की स्त्रियों की अकल्पनीय दुर्दशा होती है। विदेशियों के युद्धों में ही नहीं अपितु राज्यों के पारस्परिक

झगड़ों के फलस्वरूप भी स्त्रियाँ विजयी राज्य के प्रासादों की शोभा बढ़ाने लगी थीं। तातारों तथा मुग़लों के आक्रमण की भयावहता में तत्कालीन नारी का करुण चीत्कार कल्पना के कर्ण-कुहरों में छा जाता है। सैनिक जीवन का अनुशासन उच्छृंखलता प्रदर्शन का पूर्ण अवसर पाकर अपनी सम्पूर्ण विभीषिका के साथ जीवन पर छा जाता है। उस समय नारी तथा कन्या-अपहरण द्वारा सैनिकों की चिर-तृषित कामनाओं को अभिव्यक्ति का साधन प्राप्त होता था। अराजकतापूर्ण तथा उच्छृंखल राजनीति तथा शासन से स्त्रियों की रक्षा के लिए और उनके जीवन को सुरक्षित बनाने के लिए आवश्यक था कि उसे घर की दीवारों में बन्दी बनाकर रखा जाता, इस प्रकार राजनीतिक परिस्थितियाँ नारी के जीवन-क्षेत्र को संकुचित बनाने में प्रधान कारण बनीं।

सामाजिक स्थिति—भारत की सामाजिक व्यवस्था की विषमताओं में भी स्त्री के प्रति उपेक्षा का कारण निहित दिखाई देता है। अनेक विचित्र तर्कों द्वारा बाल-विवाह का प्रतिपादन किया गया। भारतीयों के भाग्य-नियामकों ने धर्म के नाम पर बारह वर्ष से अधिक आयु की कन्या का विवाह शास्त्र-विरुद्ध कर दिया। कुछ इतिहासकार इस विषाक्त प्रथा का मूल यवनों का आक्रमण बतलाते हैं। यवन धर्म-युद्ध में विश्वास न करने के कारण लूटमार और स्त्रियों का अपहरण करने में बिलकुल नहीं हिचकिचाते थे। इसीलिए छोटी आयु में कन्याओं का विवाह शास्त्रविहित बना दिया गया, पर आक्रमणकारियों के लिए विवाहित और अविवाहित कन्याओं में कोई अधिक अन्तर का कारण नहीं दिखाई देता तथा इस विषाक्त प्रथा का अंकुर पौरुष की चरम और हेय स्वार्थवृत्ति में ही फूटता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

कन्या को समाज और राष्ट्र के लिए भार बना देने का दूसरा उत्तरदायित्व सती-प्रथा पर है। राजस्थान के जौहर का यह विकृत रूप उसके इतिहास में एक ऐसी गहरी कालिमा है कि मर्यादा और त्याग की चाहे जितनी गहरी सफ़ेदी हम उस पर पोतना चाहें उसका धब्बा मिट नहीं सकता। एक पुरुष की मृत्यु के साथ उसकी स्त्रियों का जीवित जल जाना नहीं अपितु जला दिया जाना यह व्यक्त करता है कि संसार में नारी उपभोग की अधिकारिणी नहीं, सामग्री बनकर आई थी। जिस सामग्री का कोई मूल्य नहीं, जो पत्नी बनकर किसी का अनुरंजन करने और माँ बनकर किसी का पालन करने की क्षमता नहीं रखती, उसके जीवन का मूल्य क्या है? उसे जलाकर राख कर डालना ही उचित समझा गया। हिन्दू धर्म के रक्षकों ने दूसरे देशों के सामने भारतीय स्त्रियों के त्याग और बलिदान का ढिंढोरा पीटते हुए इस प्रथा को न्यायोचित बतलाया, पर हँसते-हँसते पति के शव के साथ जल जाने वाली स्त्रियों के मानसिक बल का भेद, दाह के पहले पिलाये गये धतूरे और भंग, खोल देते हैं। मद में चूर कभी हँसती, कभी रोती, अर्द्ध-चेतन नारी सोलह शृंगार से सजी, ढोल और अन्य वाद्यों के

रव के बीच चिता में प्रवेश करती थी। करुण चीत्कारों को वादनों के तुमुल नाद में छिपा दिया जाता था। दृश्य की वीभत्सता को छिपाने के लिए राल इत्यादि धुआँ देने वाली वस्तुएँ डाल दी जाती थीं। इस प्रकार संसार में साथ देने वाली सहधर्मिणी को पुरुष बलात् स्वर्ग में भी लेजाकर वहाँ उससे अपनी सेवा स्वीकार कराता। स्थिति की यह वीभत्सता और भयंकरता उस युग की विवश नारी का इतिहास कहने के लिए यथेष्ट है।

दुस्साध्य वस्तुओं का मूल्य अधिक होता है। समाज और राष्ट्र में उपयोगिता की दृष्टि से मूल्यहीन होने के साथ-साथ, नारी के मूल्यांकन में कमी का बड़ा कारण उसकी सुलभता रही है। आचार के बन्धन पुरुष के लिए नहीं के बराबर थे, अनुरंजन की सामग्री नारी के पत्नी-रूप तक ही नहीं सीमित थी। पत्नी-रूप में भी बहु विवाह प्रथा ने स्त्रियों का पक्ष बिलकुल हल्का कर दिया था। इस प्रकार शारीरिक बल ने मानसिक बल पर विजय पाकर इतिहास के आरम्भ में जिस पीड़न का प्रथम अध्याय आरम्भ किया था, वह मध्यकाल में इस सीमा पर पहुँच गया था।

धार्मिक स्थिति—एक ओर वैधानिक और सामाजिक क्षेत्र में निरीह और मूक नारियों के साथ यह न्याय हो रहे थे, राजनीति में पुरुष की उच्छृंखल पिपासा के कारण उसके नाम पर युद्ध हो रहे थे और दूसरी ओर इन सभी भौतिक क्षेत्रों से जनता की वृत्तियों को हटाकर आध्यात्मिकता की ओर झुकाने का प्रयास किया जा रहा था। नारी का मूल्य जड़ पदार्थों से किसी भी प्रकार अधिक न रह गया था। ऐसे युग में जनता के नैराश्यमय संघर्ष को जीवन की सफलता और सार्थकता में परिणित करने का आध्यात्मिक आश्वासन दिया गया। संघर्ष में नारी सबसे बड़ी आकर्षण थी। अतः उसकी भर्त्सना और उपेक्षा के बिना पुरुष की उच्छृंखल प्रवृत्ति को बाँध सकना असम्भव था। मुसलमानों के आक्रमण से अधिक भयावह उनका हिन्दुओं के प्रति व्यवहार था। मुसलमान अपने प्रभुत्व के मद में और हिन्दू अपनी अरक्षित अवस्था के भय से एक दूसरे के निकट आने में असमर्थ थे। यद्यपि स्थिति की विषमता चरम सीमा पर थी, पर दोनों ही मत के कुछ विशिष्ट जन एक मिलनसूत्र की आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे और भौतिकता के नैराश्य को आध्यात्मिक सफलता में परिवर्तित करना चाहते थे। सूफ़ी फ़क़ीरों का इस क्षेत्र में प्रयास सराहनीय है। उन्होंने जनता के अन्तस्तल के उस भाग को स्पर्श करने की चेष्टा की जो दोनों में ही सामान्य थे। नारी का जो बाधक चित्र उन्होंने खींचा उसमें उसके कामिनी रूप की ही प्रधानता थी। यह सत्य है कि उस युग में नारी का वही रूप शेष रह गया था और संत कवियों के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह नारी की भर्त्सना करते। निवृत्ति के लिए काम का निरोध आवश्यक था, और उस निरोध के लिए नारी के प्रति उपेक्षा और विमुखता भी अनिवार्य

थी। इस प्रकार नारी रूपी विकार की अनिवार्यता पर भी कुठाराघात आरम्भ हो गया। अभी तक वह एक अनिवार्य विकार, युद्ध की प्रेरणा और महत्त्वाकांक्षा की सामग्री प्रदान करने वाली थी; पर संत कवियों ने पूर्ण रूप से उसका विरोध और खंडन आरम्भ कर दिया। यह एक दयनीय प्रसंग है कि उन्होंने नारी के रतिभाव को ही देखा और उसके आध्यात्मिक महत्त्व की ओर से अपने नेत्र बन्द रखे। कबीर ने कामिनी को विरोधी तत्त्व घोषित करते हुए कहा—

एक कनक और कामिनी दुर्गम घाटी दोय।

× × × ×

तथा

नारी की झांईं परे, अंधा होत भुजंग।

दूसरे संतों ने भी उसी स्वर में स्वर मिलाया—

असी बरस की नारिहू, पलटू न पतियाय।
जियत निकोवे तत्त्व को, मुये नरक ले जाय॥

नारी के दूसरे अंगों को छोड़ केवल इसको ही ध्यान में रख घृणा, भर्त्सना और उपेक्षा के सभी सम्भव शब्दों द्वारा जनता के मस्तिष्क में नारी के प्रति उपेक्षा की भावना भरी गई। नारी की यह विकृति यद्यपि घृणा और पीड़ा उत्पन्न करती है परन्तु निर्गुण मत में दीक्षित नारियों की वाणी हमें मुस्कराने का अवसर भी देती है। उन संतों में इन स्त्रियों की उपस्थिति ही उनकी भर्त्सना को चुनौती देती है। काव्य की इस धारा में स्त्रियों की वाणी तथा ज्ञानात्मक विवेचनायें मानों अपने गुरुओं का ध्यान इस ओर आकर्षित करती प्रतीत होती हैं कि नारी में केवल आकर्षण ही नहीं है।

उमा—यद्यपि निर्गुण काव्य, जो युग की व्यथित और पीड़ित चेतना को संघर्ष से पलायन और सूक्ष्म में आश्रय पाने का संदेश दे रहा था, संघर्षमूलक स्त्रियों के प्रति कोई सहानुभूति रखने में असमर्थ था, पर भावना की इस धारा में नारियों का अभाव नहीं है। उमा भी किसी संत को गुरु बनाकर उनसे सतगुरु का भेद जानने की जिज्ञासु कोई शिष्या प्रतीत होती है। नागरी-प्रचारिणी सभा की अप्रकाशित खोज-रिपोर्ट में उनका उल्लेख है, तथा उनके पद वहाँ के संग्रहालय में एक हस्तलिखित ग्रंथ में संकलित हैं। यद्यपि उनके रचनाकाल के विषय में कोई विशेष संकेत नहीं मिलता, पर पदों में वर्णित निराकार ब्रह्म की विवेचना तथा सूफ़ीमत के आभास से यही ज्ञात होता है कि इन पदों की लेखिका का जीवन-काल वही होगा जब भारत की जनता की प्रवृत्तियों का झुकाव विशेषकर योग और ज्ञान की ओर हो रहा था। इनके पदों में आये हुए सतगुरु और सैयाँ न तो राम और कृष्ण हैं और न रीति-

काल के नायक। इन धाराओं के विशेष उत्थान-काल में स्त्री के सीमित जीवन के लिए यह असम्भव है कि यह किसी अप्रधान धारा का सहारा लेकर चले।

उमा द्वारा रचित पदों की भाषा की अपरिपक्वता और ग्रामीणता के कारण यद्यपि भावनायें स्पष्ट नहीं होतीं, पर उनमें अनुभूतियों की तीव्रता और भावों की प्रखरता की कमी नहीं है। आत्मा एक बार अपनी वियोग-अवस्था की अनुभूति प्राप्त कर लेने पर किस प्रकार अपना अस्तित्व सतगुरु के अस्तित्व में लीन कर देने को व्याकुल हो उठती है। सतगुरु का सैन पाकर वह विवश हो व्याकुल-सी पुकार उठती है—

सहेल्या है भारो बहुत सुधारो, सतगुरु सैन मिलायो।
राम तमारा नाम मै को रैण-दिवस तलफाय ॥

सतगुरु में लीन हो जाने की उनकी प्रबल इच्छा है—

सतगुरु मैं लय जाइया हो मिलिया पूरन ब्रह्म माह।

उनके पदों से मालूम होता है कि उन्हें योग और ज्ञान से काफ़ी परिचय था। पंचतत्त्व से निर्मित शरीर रूपी उद्यान में उन्होंने प्रेम की पिचकारी और ज्ञान-गुलाल से जो फाग खिलवाया है, वह उनकी तीव्र अनुभूति और कल्पना दोनों का परिचय देती है। राम शब्द का प्रयोग कबीर की भाँति दशरथ के पुत्र के लिए नहीं, निर्गुण ब्रह्म के लिए ही किया है—

ऐसे फाग खेले राम राय।
सुरत सुहागण सम्मुख आय ॥
पंच तत को बन्यो है बाग।
जामें सामन्त सहेली रमत फाग ॥
जहँ राम झरोखे बैठे आय।
प्रेम पसारी प्यारी लगाय ॥
जहाँ सब जनन को बन्यो है, ज्ञान-गुलाल लियो हाथ।
केसर गारो जाय ॥

ऐसा फाग खेलने की उनकी कामना है। उनमें सन्तों का दम्भ नहीं, वह विनय और प्रार्थना से उसी फाग की प्राप्ति चाहती हैं जो सन्तों के जीवन में समाया हुआ है।

सतगुरु जी फगवा बगसाव उमा की अरदास सुनो।

एक दूसरे पद में भी वह हर प्रकार से अपनी दीनता और तुच्छता प्रकट करती है जहाँ वह हृदय में वास करने वाले ब्रह्म के सूक्ष्म रूप पर विश्वास करती है वहाँ अधम-उधारन विरद वाले ईश्वर भी उनके अविश्वास के पात्र नहीं हैं। उनके सैयाँ और स्वमी का हृदय करुणा और दया से द्रवित हो जाने वाला है। उनका उपास्य देव न

तो अरूप ब्रह्म है और न साकार अवतार।

साधना भी उनकी किसी विशिष्ट मार्ग का अवलम्ब लेकर नहीं चलती। एक ओर सुरत और शब्द उनकी साधना के आधार हैं, पर दूसरी ओर केवल एक मुक्त आराधक-सी प्रतीत होती है। सभी को तारने वाले व्यक्तित्व को सम्बोधित करते हुए वह कहती है—

सैयाँ हो मेरी सब ही न बीरी हों गुनो।
करुणानन्द सामी अरज सुनो॥
कामी, कपटी, क्रोधी मन बसु लालच में अति लीन!
अधम उधारन विरद तुम्हारो सो क्यों होवेगा दीन?
जो तुम तारी सन्तन का हो मेरी समारत नाहिं।
अधम उधारन नाम सुना हो, खुसी रहुँ मन माँह।

ऐसा ज्ञात होता है कि ज्ञान-मार्ग की विषम कठिनाइयों के साथ अपने हृदय की नारी-सुलभ सरलता का ठीक समन्वय न कर सकने के कारण ही उन्होंने अमूर्त्त ब्रह्म और साकार राम का तादात्म्य कर दिया है।

उनकी भाषा पर राजस्थानी का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। तत्सम और तद्भव शब्दों के साथ पद-विन्यास और क्रियापदों में देश-भाषा के रूप मिलते हैं। न तो इन पदों में छन्दों का आयोजन है और न भाषा का परिष्कार।

भाषा के ज्ञान का अभाव उन्हें था, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तत्सम और तद्भव शब्दों के प्रयोगों का बाहुल्य है, पर काव्य के दूसरे उपकरणों के अभाव तथा दोष खटकते हैं, पदों की विभिन्न पंक्तियों में मात्राओं की संख्या की विषमता खटकती है। पर उनके पदों में काव्य-सौन्दर्य के उपकरण खोजने का प्रयास करना उनके साथ अन्याय करना है। कला को ही साध्य समझकर साधना के प्रयास में उन्हें असफल घोषित कर देना उचित नहीं है। साध्य तो उनकी अनुभूतियों का दिग्दर्शन है और उसमें उन्हें यदि अधिक सफल नहीं तो असफल भी नहीं कहा जा सकता।

मुक्ताबाई—इनका उल्लेख मिश्रबन्धु विनोद में मिलता है। लेकिन वह संक्षिप्त वर्णन मुक्ता जी के काव्य की कसौटी बनने की क्षमता नहीं रखता। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर उनके भाई थे। उन्हीं के संसर्ग से उन्हें बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो गया था। उनकी भाषा और शैली पर महाराष्ट्र की छाप है। वह अपने सब भाइयों से छोटी थीं। भाइयों के साथ सात्विक वातावरण में पलकर वह बड़ी हुईं। जहाँ उनकी धार्मिक प्रवृत्तियों ने ज्ञानेश्वर जी का मार्ग अनुसरण किया, उन्हीं के संसर्ग से उनकी काव्य-प्रतिभा भी कुछ चमकी, पर प्रतिभा प्रस्फुटित होकर बढ़ने भी न पाई थी कि कुमारावस्था में ही उनका देहान्त हो गया।

इनके पदों में ईश्वर का निर्गुण रूप ही प्रधान है। केवल यही नहीं वरन् हठयोग के कुछ सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण का भी प्रयत्न इन रचनाओं में दिखाई देता है। 'भ्रमर-गुफ़ा' सहस्र दल इत्यादि के संकेत इस बात की पुष्टि करते हैं। इनके द्वारा रचित कुछ थोड़े ही से पद उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त सत्संग पर भी उन्होंने काफ़ी जोर दिया है। साधु के दर्शन से उनका मन अपने आप मुग्ध हो जाता है—

जहाँ तहाँ साधु दसवा आपहि आप विकाना।

वह योग और सत्संग का आश्रय लेकर आगे बढ़ता है। ऐसी अवस्था भी आती है जब सतगुरु और साधक का अस्तित्व भिन्न-भिन्न नहीं रह जाता बल्कि ससीम असीम में लय हो उसी में खो जाता है।

सद्गुरु चेले दोनों बराबर एक दसा भो भाई।

इस प्रकार के उपदेशात्मक पदों की रचना केवल अपने मत के प्रचार के लिए ही की गई होगी इसमें सन्देह नहीं है। योग-मार्ग में भावना की तीव्रता से अधिक तपस्या और साधना है, इसलिए इन पदों में भाव-लालित्य और सौन्दर्य की अपेक्षा उपदेश और शिक्षा ही अधिक है। दुर्भाग्य से मुक्ता जी के अधिक पद खोज में नहीं प्राप्त हो सके। केवल दो-चार पद मराठी के पुराने साहित्य के कुछ संकलनों में मिलते हैं। यद्यपि काव्य-गुण की दृष्टि से इनकी रचनाओं का महत्व अधिक नहीं है, पर उस समय काव्य के क्षेत्र में स्त्रियों का निर्बल प्रयास बोलता हुआ-सा दिखाई देता है।

पार्वती—सेवादास की वाणी नामक अनेक संतों की वाणियों के संग्रह में कुछ पद पार्वती जी की शब्दी के नाम से संकलित हैं। उनका जीवन तथा समय अज्ञात है। अन्तःसाक्ष्य से केवल इतना ज्ञात होता है कि वह किसी निस्पृह और काम को दग्ध कर देने वाले गुरु की शिष्या थीं—

निसप्रेही निहस्वादी कामदग्धी दिने दिने,
तासु शिष्याँ देवी पार्वती।

हस्तलिखित प्रति या उसकी रचना-काल की तिथि के विवरण के अभाव में अन्य बातों के विषय में अनुमान करना असम्भव है। उनके पदों में आये हुए प्रसंग उन्हें किसी साधु की शिष्या प्रमाणित करते हैं। कई स्थलों पर उन्होंने इस बात का आभास दिया है—

रुक्ख बंस गिरि कन्दर बास।
निरधन कंथा रहै उदास॥
शिष्या भोजन सहज में किए।
ताकी सेवा पारवती करे॥

जीवन और सांसारिक मोह से विराग और विकर्षण की भावना से प्रायः

सभी पद ओत-प्रोत हैं, धन के प्रति निरपेक्षता, भौतिक सुख और ऐश्वर्य के प्रति उपेक्षा तथा गुरु की सेवा द्वारा मुक्ति की प्राप्ति उनके पदों का सार है। प्रायः सभी पदों में गुरु के महत्त्व को प्रधानता दी गई है। सांसारिकता से मोह और भौतिकता से प्रेम मनुष्य की सम नहीं असम गति है, और यही वैषम्य उसे बार-बार आवागमन के चक्र में फँसा देती है—

उलटे पवन गगन समाई।
ता कारणि ये सब मरि मरि जाई॥

शुष्क योग-मार्ग ही उनके गुरु की दीक्षा प्रतीत होती है। कहीं भी योग के साथ प्रेम का पुट नहीं दिखाई देता। केवल जगत् से विराग, यौवन की उपेक्षा और कामिनी से विरक्ति कर जो साधना से तपकर अपने घट में नाद और बिंदु का प्रकाश व्याप्त कर चुका है वही सार्थक पुरुष है। अपने गुरु में इन्हीं सब विशेषताओं का आरोपण कर तथा अपने को उनकी सेवा में लीन कर वह परोक्ष रूप से इसी मार्ग का प्रतिपादन करती हुई ज्ञात होती हैं—

धन जोवन की करे न आस।
चित्त न राखे कामिनी पास॥
नाद [illegible] जाके घट जरै।
ताकी सवा पारवती करै॥

कन्थाधारी योगियों के नाद और बिंदु की सराहना करते-करते वह नहीं थकतीं। पर एक स्थान पर स्पष्ट रूप से उन्होंने अवधूत वैरागियों पर अपनी अनास्था प्रकट की है। ऐसा ज्ञात होता है कि अवधूत शब्द का प्रयोग उन्होंने किसी विशेष पंथ के साधुओं के लिए किया है जिनमें समय के साथ कुछ भ्रष्टाचार और पाखंड आ गया था। बहुत सम्भव है कि उनका यह आक्षेप नाथपंथी साधुओं पर हो जिनका वर्णन करते हुए वह लिखती हैं—

काक दृष्टि बको ध्यानी।
बाल अवस्था भुवंगम अहारी॥
अवधूत सी वैरागी पारवती।
है या सब भेषधारी॥

इनके काव्य में योग-वर्णन तथा गुरु-महिमा वर्णन के पद अधिक मिलते हैं। शुष्क योग ही इनके पदों का विषय है जिसमें न तो सूफीमत के प्रेम तत्व का पुट है, और न कोई दूसरी रागात्मक अनुभूतियों का जो हृदय को स्पर्श कर सकें।

सर्वसाधारण की दृष्टि से दूर एक वृहद् संग्रह के बीच में दबे हुए ये शब्द जिन पर न मालूम स्त्री से सम्बन्धित होने के कारण अथवा आकार में छोटा होने के

कारण स्त्रीलिंग का आरोपण किया गया है, बिलकुल उपेक्षणीय नहीं कहे जा सकते। यह वह अवस्था है जब कामिनी ही कामिनी के सम्पर्क का विरोध करते हुए नहीं हिचकिचाती थी; जब परिस्थितियों की विषमता में कहीं कोई बिरली स्त्री ही अपनी प्रतिभा का कुछ-कुछ विकास कर सकती थी। पार्वती की रचनाएँ भी उस काल के इन्हीं अपवादों में से हैं।

सहजोबाई—सहजोबाई का जन्म सन् १७४३ के लगभग दिल्ली के एक प्रसिद्ध ढूसर कुल के वणिक के यहाँ हुआ था। इनके पिता दिल्ली के प्रतिष्ठित व्यवसायियों में से थे। अपने पिता, कुल तथा गुरु का परिचय उन्होंने स्वयं दिया है—

हरि प्रसाद की सुता, नाम है सहजो बाई।
ढूसर कुल में जन्म, सदा गुरु चरण सहाई॥
चरणदास गुरुदेव, सेव मोहिं अगम बसायो।
जोग जुगुत सो दुर्लभ, सुलभ करि दृष्टि दिखायो॥

इनके लिखे हुए हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिलिपियों का उल्लेख नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में है। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं का संग्रह 'सहज प्रकाश' के नाम से वेलवेडियर प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित हो चुका है। इस संग्रह में वह सब रचनाएँ सम्मिलित हैं जिनका उल्लेख अलग-अलग ग्रंथों के नाम से खोज-रिपोर्ट में है। 'सहज प्रकाश' का उल्लेख श्री मोहनसिंह दीवान ने भी अपने पंजाबी साहित्य के इतिहास में किया है।

सहजोबाई निर्गुण मत के चरणदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक चरणदास की शिष्या थीं। चरणदास और सहजो का एक संयुक्त हस्तलिखित ग्रंथ पंजाब विश्वविद्यालय के संग्रहालय में है। इसकी लिपि फ़ारसी है। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि यह ग्रंथ चरणदास के द्वारा मंगलदास को उपहार में दिया गया था, जो सम्भवतः उनकी गद्दी के उत्तराधिकारी थे। श्री निर्मल जी ने स्त्री कवि कौमुदी में उनका उल्लेख राजपूताना निवासी के रूप में किया है, पर प्रामाणिक सामग्री को देखने से ज्ञात होता है कि वह दिल्ली-निवासिनी थीं। अपने गुरु चरणदास के साथ वह वहीं रहती थीं। चरणदास जी का मन्दिर अब तक विद्यमान है। इस ग्रंथ में संकलित सहजोबाई के पद बहुत सुन्दर हैं, जो उस युग के स्वर में नारी की भावनाओं के समन्वय का आभास देते हैं। चरणदासी सम्प्रदाय का यह अमूल्य ग्रंथ है। इतिहासकारों ने इस सम्प्रदाय की प्रेरणा कबीर मत को माना है, पर दिल्ली-निवासी वणिकों का सम्बन्ध स्थापन कबीरपंथियों की अपेक्षा नानकपंथियों के साथ अधिक सरलता से किया जा सकता है। इस हस्तलिखित ग्रंथ के आरम्भ और अन्त में चरणदास के नाम की मुद्रा अंकित है। चरणदास के ग्रंथ 'ज्ञान सर्वोदय', 'ब्रह्मसागर' तथा 'शब्द ग्रंथ' के बाद सहजोबाई के

पद संकलित हैं । इनकी संख्या चालीस है । हस्तलिखित प्रति का हस्तलेख स्वयं चरणदास द्वारा किया हुआ जान पड़ता है । श्री बड़थ्वाल ने भी सहजोबाई और चरणदास को गुरु और शिष्या माना है । उनके अनुसार सहजोबाई तथा दयाबाई दोनों ही उनकी चचेरी बहनें थीं । चरणदास के बावन शिष्यों ने अलग-अलग स्थानों पर इस मत की शाखाएँ खोल रखी थीं । सहजोबाई और दयाबाई भी उनकी शिष्याएँ थीं ।

सहजो का लिखा हुआ 'सहज प्रकाश' नामक ग्रंथ प्राप्त है । 'सहज प्रकाश' के अन्तर्गत तीन विभिन्न शीर्षक हस्तलिखित अलग-अलग ग्रंथों के रूप में मिलते हैं । 'सहज प्रकाश' में सबको एक ही ग्रंथ के विभिन्न भागों के रूप में रख दिया है । जिन विषयों पर सहजो ने लिखा है वह ये हैं —

१. सतगुरु महिमा
२. गुरु महिमा
३. साधु महिमा साधु लक्षण साध वचन
४. दशाएँ
    जन्म दशा
    वृद्ध अवस्था
    मृत्यु दशा
    काल मृत्यु
    अकाल मृत्यु
५. अंग
    नाम अंग
    नन्हा महा उत्तम का अंग
    प्रेम का अंग
    जपना गायत्री का अंग
    सत वैराग जगत् मिथ्या का अंग
    नित्य-अनित्य साध्य मत का अंग
    निर्गुण-सगुण संशय निवारण
६. सोलह तिथ्य निर्णय
७. सात वार निर्णय
८. मिश्रित पद

सतगुरु महिमा—दोहे और चौपाई छन्दों में इस विषय पर लिखते हुए उन्होंने सर्वप्रथम श्री चरणदास के गुरु शुकदेव जी की स्तुति की है । निर्गुण मत के अनुसार सुरति की जागृति के लिए उसके अभ्यास की भी आवश्यकता होती है

जिसके हेतु ऐसा निर्देशक आवश्यक होता है जो उसे अभीष्ट उपकरणों से सतत सहायता करता रहे। साधक की साधना को प्रत्येक आध्यात्मिक अनुभूति के पग-पग पर मार्ग निर्देशक की आवश्यकता होती है, साधक को मार्ग पर आने वाली कठिनाइयों के प्रति सावधान करना तथा पतनोन्मुख न होने देना गुरु का कर्त्तव्य है। उसका सम्बल प्राप्त कर साधक आगे बढ़ता है, सहजोबाई ने अन्य निर्गुणपंथियों की भाँति ही सतगुरु-वन्दना की है, जिसमें साधना के मार्ग में गुरु की महिमा प्रदर्शित की है—

निर्मल आनन्द देत हो, ब्रह्म रूप करि लेत।
जीव रूप की आपदा, व्याधा सब हरि लेत ।।

शुकदेव जी के शिष्य चरणदास की महिमा-वर्णन तथा प्रशस्ति के बाद उन्होंन गुरु के विषय में विवेचना करते हुए उन्हें चार श्रेणियों में बाँटा है—

गुरु हैं चार प्रकार के, अपने अपने अंग।
गुरु पारष दीपक गुरु, मलयगिरि गुरु भृंग ।।

—गुरु पारस हैं जो शिष्य की लौह भावनाओं का स्पर्श कर उन्हें कंचन बना देता है। मलयगिरि के समान अपने सौरभ से शिष्य रूपी पलाश को भी चन्दन के समान सुरभित कर देता है। ज्योतिहीन शिष्य को समस्त ज्योति प्रदान कर उसके हृदय में ज्योत्सना का-सा आलोक प्रसारित कर देता है। गुरु के सामने साधक कीट के समान निम्न अस्तित्व लेकर आते हैं, पर गुरु उनकी लघुता को गरिमा में परिवर्तित कर अपने ही समकक्ष बना लेता है।

गुरु की इन विशेषताओं के वर्णन के पश्चात् कबीर के 'बलिहारी गुरु आपने गोबिन्द दियो बताय' स्वर में मिलता हुआ स्वर ध्वनित होता है—

राम तजूँ पर गुरु न बिसारूँ। गुरु के सम हरि को न निहारूँ।।
हरि ने पाँच चोर दिये साथा। गुरु ने लई छुड़ाइ अनाथा ।।
हरि ने कर्म भर्म भरमायो। गुरु ने आतम रूप लखायो ।।
हरि ने मोसूँ आप छिपायो। गुरु दीपक देता ही दिखायो ।।
चरनदास पर तन-मन वारूँ। गुरु न तजूँ हरि को तज डारूँ ।।

इतनी स्पष्टता से हरि और गुरु की तुलना में गुरु को उच्चतर पद प्रदान करने पर भी उन्हें सन्तोष नहीं होता। गुरु की गरिमा और विशालता के वर्णन की सामर्थ्य सृष्टि के विशालतम और गुरुतम उपकरणों में भी नहीं है। गरिमा की पराकाष्ठा का एक चित्र देखिये—

सब परबत स्याही करूँ, घोलूँ समन्दर जाय।
धरती का कागद करूँ, गुरु अस्तुति न समाय ।।

गुरु मार्ग का वर्णन करते हुए जो शब्द उन्होंने लिखे हैं, इस मत के विशेष और प्रधान प्रचारकों के शब्दों के समान ही दृढ़ और शक्तिशाली हैं—

गुरु के प्रेम पंथ सिर दीजै। आगा पीछा कबहुँ न कीज ॥
गुरु के पंथ पैंज का पूरा। गुरु के पंथ चले सो सूरा ॥
गुरु के पंथ चले सो जोधा। गुरु के पंथ चले सो बोधा ॥
गुरु के पंथ चलै सतवादी। सहजो पावै नेह अनादी ॥

—गुरु-प्रेम के पंथ पर शीष-दान देने में भी आगा-पीछा नहीं करना चाहिए। इस पंथ पर चलने वाला अपनी टेक का पूरा होने पर ही सफल हो सकता है। जो इस मार्ग को अपनाता है वही शूर है, कायरों में इतनी शक्ति नहीं कि वह इस मार्ग पर पग भी रख सकें।

संत मत में प्रचारित इस गुरु-पूजा का क्षेत्र केवल भावना तक ही सीमित नहीं। गुरु-सेवा के इस रूप का परिचय सार वचन से लिए हुए निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा—

चरण दबावे पंखा फेरे। चक्की पीसे पानी भरे ॥
मोरी धोवे झाड़ू को धोवे। खोद खुदाना मिट्टी लावे ॥
हाथ धुला दातुन करवावे। काट पेड़ से दातुन लावे ॥
बटना मल असनान करावे। अंग पोंछ धोती पहिनावे ॥
धोती धोय अंगोछा धोवे। कंघा बाल बनावे ॥
वस्त्र पहनावे तिलक लगावे। करे रसोई भोग धरावे ॥
जल अंचवावे हुक्का भरे। पलंग बिछाय बिनती करे ॥
पीकदान ले पीक करावे। फिर सब पीक आप पी जावे ॥
× × ×
उनकी मेहर मुफ्त पावे। जो उनको परसन्न करावे ॥
उनका खुश होना है भारी। सात पुरुष निज किरपा धारी ॥

सहजोबाई की गुरु-सेवा का रूप यद्यपि इतना स्थूल नहीं है, पर गुरु के चरणों का उनकी दृष्टि में महात्म्य इन पंक्तियों में लक्षित होता है—

अड़सठ तीरथ गुरु चरन, परबी होत अखंड।
सहजो ऐसा धाम नहीं, सकल अंड ब्रह्मंड ॥

उनका विश्वास है कि गुरु के चरणों में आश्रय पाने पर ही गति और मुक्ति है अन्यथा नहीं—

गुरु के चरन कवल चित राखूँ। आठ सिद्धि नौ निधि सब नाखूँ ॥
गुरु पग परसे ब्रह्म विचारै। गुरु पग परसे माया छाड़ै ॥

गुरु पग परसे जोग जगन्ता। गुरु पग परसे जीवन मुक्ता।
गुरु पग परसे हरि पद पावे। रहै अमर ह्वै गर्भ न आवे।।

अपने गुरु के शब्दों को इतना महत्त्व देती है; उनको संजोकर रखना चाहती है जैसे कृपण अपने धन को सम्हालकर रखता है—

गुरु वचन हियरे धरे, ज्यों किरिपण के दाम।
भूमि गड़े माथे दिये, सहजो लहै तो राम।।

गुरु-महिमा का वर्णन संत मत में स्थापित गुरुता की परिभाषा के अनुसार ही किया है। गुरु की महत्ता के सामने हरि की उपेक्षा करते वह कहीं नहीं हिच-किचाती, गुरु के अस्तित्व पर ही ईश्वर का आभास निर्भर है, इस बात की चुनौती-सी देती हुई वह कहती है—

परमेसर सूँ गुरु बड़े, गावत वेद पुरान।
सहजो हरि के मुक्ति है, गुरु के घर भगवान।।

अठारह पुराण पढ़-पढ़कर अर्थ करने से कोई लाभ नहीं है, गुरु की कृपा के बिना इन सबका भेद पाना असम्भव है और उसका प्रयास भ्रम है, भ्रान्ति है, गुरु के बिना ज्ञान और पाण्डित्य का भी कोई मूल्य नहीं—

अष्टादश और चार षट, पढ़ि पढ़ि अर्थ कराहिं।
भेद न पावे गुरु बिना, सहजो सब भर्माहिं।।

गुरु का प्रताप अलौकिक है, जिस प्रकार सूरदास ने अपने उपास्य के प्रति श्रद्धावेश में आकर एक बार गाया था—

बहिरो सुनै मूक पुनि बोले, रंक चलै सिर छत्र चढ़ाई।

उसी प्रकार सहजो अपने गुरु की अलौकिक प्रतिभा का गीत गाती हुई उनमें असम्भव को सम्भव कर दिखाने की क्षमता रखने वाली सत्ता के रूप में चित्रित करती है—

सहजो गुरु परताप सूँ, होय समुन्दर पार।
वेद अर्थ गूँगा कहै, बानी कित इक बार।।

जिसके सामने चींटी का आकार भी बड़ा है, सरसों से भी सूक्ष्म जिसकी गति है, ऐसे सूक्ष्म में स्थूल के आवरण को मिटा सूक्ष्म में सूक्ष्म को मिला देने की क्षमता सतगुरु में ही है और किसी में नहीं।

चिऊँटी जहाँ न चढ़ि सके, सरसों ना ठहराय।
सहजो कूँ वह देश में, सतगुरु दई बताय।।

ऐसे सतगुरु की महानता में अपने अस्तित्व को पूर्णतया सौंपकर ही शिष्य सुख पा सकता है—

सहजो सिष ऐसा भला, जैसे माटी मोय ।
आपा सौंपि कुम्हार कूँ, जो कुछ होय सो होय ।।

अपने गुरु को पाकर ही अपने आपको गुरु के नाम पर मिटा दिया है—

चरनदास के चरन पर, सहजो वारै प्रान ।
जगत व्याध सूँ काढ़िकर, राख्यो पद निर्वान ।।

साधु महिमा—निर्गुण मत की साधना में सत्संग तथा आध्यात्मिक वातावरण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य माना गया है। सांसारिक जीवन की अस्थिरता तथा पीड़न से उद्भूत नैराश्य की प्रतिक्रिया से उत्पन्न आध्यात्मिकता के विकास के लिए उसके अनुकूल वातावरण आवश्यक है। सुरति को चैतन्य और जाग्रतावस्था में बनाये रखने के लिए उन व्यक्तियों से सम्पर्क आवश्यक है, जिन्हें इस क्षेत्र में सफलता मिल चुकी है।

जिन्होंने सुरति की मन्द चिनगारी साधना द्वारा प्रज्वलित अग्नि में परिवर्तित कर, उस स्थूल बन्धन को भस्मीभूत कर दिया है, जो उसकी आत्मा को शृंखलित किये हुए था, वही संत है। इनका सत्संग साधक के लिए अनुकूल आध्यात्मिक वातावरण के निर्माण में सहायक होता है, यही कारण है कि निर्गुण-पंथियों ने उन्हें और उनके संसर्ग को बहुत बड़ा महात्म्य दिया है। इस मत के सभी प्रधान कवियों ने इस विषय पर बहुत-कुछ कहा है। कबीर ने तो एक स्थान पर साधु और साहब में कोई अन्तर ही नहीं माना है—

साधु मिले साहब मिले, अन्तर रही न रेख ।
मनसा वाचा कर्मना, साधू साहब एक ।।

इसी प्रकार दादू की यह उक्ति साधु की महत्ता पर प्रकाश डालती है—

साधु मिले तब ऊपजे, हिरदे हरि का हेत ।
दादू संगति साधु की, कृपा करत तब देत ।।

सत्संग की आध्यात्मिकता के प्रभाव का वर्णन इन पंक्तियों में देखिये—

साधु मिले हरि ही मिले, मेरे मन परतीत ।
सहजो सरजू धूप ज्यों, जल पाले की रीति ।।

मलिनतम आत्मा भी सत्संग से प्रभावित होकर उच्चतम अवस्था को प्राप्त हो सकती है, साधु की संगत निम्नतम को सर्वोत्कृष्ट में परिवर्तित कर देने की सामर्थ्य रखती है।

सहजो संगत साधु की, काग हंस ह्वै जाय ।
तजि के भच्छ अभच्छ कूँ, मोती चुगि चुगि खाय ।।

साधु और सत्संग के अतिरिक्त साधुओं के लक्षणों का वर्णन करते हुए भी

उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है। वास्तविक साधु को पहचानना समस्या का सबसे प्रधान पहलू है, क्योंकि बाह्याडम्बरों के आधार पर ही साधु की संज्ञा देना असंगत है, इस कारण निर्गुणियों ने साधु और असाधुओं के विशेष लक्षण बताये हैं। साधु वह है जिसका मस्तिष्क संतुलित और स्वभाव विनय-सम्पन्न है, जो सांसारिक कामनाओं के प्रवाह में बह न सके, द्वैत भावना से रहित हो, प्रशंसा और निन्दा जिसके लिए समान हों तथा शारीरिक पीड़ा और बाह्य अपमान भी जिसकी सहनशीलता को विचलित न कर सके। इस निर्गुण मत के इन मान्य सिद्धान्तों का प्रचार सहजोबाई ने भी किया है—

साधु सोह जो काया साधे। तजि आलस और वाद विवादे।
छिमावन्त धीरज कूँ धारे। पाँचौ बस करि मनकूँ मारे।
जत सत नख सिख सीतलताई। नम मन वचन सकल सुखदाई।
निर्गुण ध्यानी ब्रह्म गियानी। मुख सूँ बोले अमृत बानी।
समझ एकता भाव न दूजे। जिनके चरन सहजिया पूजे।
दीर्घ बुद्धि जिनकी महा, सील सदा ही नैन।
चेतनता हिरदै बसै, सहजो सीतल बैन॥
तन कूँ साधे ही रहे, चित कूँ राखै हाथ।
सहजो मन कूँ यों गहै, चले न इन्द्रिन साथ॥

साधुओं के लक्षण वर्णन के साथ-साथ दुष्ट लक्षण भी हैं। दुष्टों के स्वभाव का अंग कितने चुटीले शब्दों में व्यक्त है—

दुष्टन की महिमा कहूँ, सुनियो सन्त सुजान।
ताना दै दै दृढ़ करें, भक्ति जोग अरु ज्ञान॥

दशा वर्णन—इसमें मनुष्य-जीवन की चार अवस्थाओं का वर्णन है। मानव-जीवन के इतिहास का प्रारम्भ ही पीड़न से होता है। जीवन के मूल में एक वेदना है जिसका अन्त मृत्यु के चिर वियोग में होता है। निर्गुण संतों ने जनता की भावना में जीवन की नैराश्यपूर्ण आदि और अन्त की वीभत्सता और भयानकता की गम्भीर पृष्ठभूमि बनाने के पश्चात् अपने मत के सिद्धान्तों के चित्र बनाने आरम्भ किये थे। सहजोबाई ने भी अपने गुरु की आज्ञा से इस प्रयास में योग दिया—

जन्म मरण अब कहत हूँ, कहूँ अवस्था चार।
चौरासी जमदण्ड को, भिन्न भिन्न विस्तार॥
चरणदास आज्ञा दई, सहजो परगट गाय।
तासू पढ़ि सुचि जीव की, सकल बन्ध कटि जाय॥

इस शीर्षक के अन्तर्गत पंक्तियाँ बहुत सजीव हैं। वृद्धावस्था और मरणावस्था

के वीभत्स और करुण रूपों के प्रदर्शन के साथ तरुणावस्था तथा बाल्यकाल के सुन्दर और उन्नायक अंगों की उपेक्षा कर केवल अवनायक अंशों पर ही प्रकाश डाला है। शैशव का भोला आकर्षण, यौवन का मादक उल्लास निर्गुण मत के विकर्षक सिद्धान्तों तथा कठोर नियमों के कारण उपेक्षा और घृणा के स्वर में रंगे गये हैं।

जीवन के मूल, उद्भव, विकास और अन्त, पीड़ा और वेदना से सिक्त हैं। वह पीड़ा उनके शब्दों में साकार हो, भावना में उस नैराश्य और विकर्षण को जन्म देने में सफल होती है जो उनके गुरु का उपदेश था, उनकी आशा थी। जन्म-दशा के ये घृणाजन्य चित्र किसके मन के उल्लास को अवसाद में न परिवर्तित कर देंगे—

पापी जीव गर्भ जब आवै। भवन अंधेरो बहु दुःख पावै॥
तल मूड़ी ऊपर को पाऊँ। भूख लगी और विष्ठा ठाऊँ॥
जठर अग्नि षटरस जहँ लागी। अधिक तपै जहँ पतित अभागी॥
खट्टा मीठा माता खावै। लाग छुरी सी बहु दुःख पावै॥

इसी प्रकार यौवन की शक्ति और शील में उन्हें जीवन के पतन के अंकुर दिखाई देते हैं—

तरुनापा भया सकल सरीरा। अंधा भया बिसरि हरि हीरा॥
विषय वासना के मद माती। अहं आपदा के रंग राती॥
मूँछ मरोड़ अकड़ता डोले। काहू ते मुख मीठ न बोले॥
मैं बलवन्त सबन पर भारी। द्रव्य कमाऊँ नरन अगारी॥
महा दुःखी सुख मान लियो है। मोह अमल अज्ञान पियो है॥
द्रव्यहीन भटकत फिरै, ज्यों सराय को स्वान।
झिड़कि दियो जेहि घर गयो, सहजो रह्यो न मान॥

युवावस्था और बाल्यकाल की परिणति के आधार पर उसे उपेक्षित और घृणित घोषित करने के पश्चात् जरा-मरण का करुण और वीभत्स आभास देती हुई वह इस संसार की असारता सिद्ध करती है। वृद्धावस्था के एक चित्र का यथार्थ, सजीव पर वीभत्स आभास देखिये—

लागी विरध अवस्था चौथी। सहजो आगे मौतहि मौती॥
हाथ पैर सिर काँपन लागे। नैन भये बिनु जोति अभागे॥
सर्वन ते कुछ सुनियत नाहीं। दाँत डाढ़ नहिं मुख के माहीं॥
× × ×
जिन कारण पचिया दिन राती। बात करै नहिं कुटम्ब संगाती॥
सुत पोते दुर्गन्ध घिनावै। टहल करै तब नाम चढ़ावै॥
चरनदास गुरु कही विसेषी। हरि बिन यों जग जाता देखी॥

इसी प्रकार मृत्यु का यह असह्य दृश्य अपनी भयावह वीभत्सता लिए मुँह फाड़े हुए दिखाई देता है—

सहजो मृत्यु आइया, लेटा पाँव पसार।
नैन फटे नाड़ी छुटी, सौं ही रहा निहार॥

विविध अंगों के नाम से उन्होंने कई विषयों पर रचनाएँ की हैं। नाम का अंग इस शीर्षक के दोहों में ईश्वर के नाम का महात्म्य वर्णित है, अन्य संतों की भाँति सहजो भी आवागमन के चक्र से विलोड़ित इस संसार में सद्गुरु के नाम का ही अवलम्बन पाती हैं।

सहजो भवसागर बहे, तिमिर बरस घनघोर।
तामें नाम जहाज है, पार उतारे तीर॥

एक स्थल पर उन्होंने भक्ति को ईश्वर-प्राप्ति का सबसे श्रेष्ठ साधन बताया है, इस प्रसंग में वह संत मत की अपेक्षा साकारोपासना के निकट प्रतीत होती हैं—

बिना भक्ति थोथे सभी, जोग जज्ञ आचार।
राम नाम हिरदे धरो, सहजो यही विचार॥

पर इस दोहे में आये हुए भक्ति के उल्लेख का तात्पर्य प्रेम तथा राम का तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म से ही स्पष्ट है, दशरथ-पुत्र राम से नहीं।

इस अंग पर लिखे हुए दोहे श्रेष्ठता और गाम्भीर्य की दृष्टि से पूर्ण सफल और संत काव्यधारा के अन्य कवियों की वाणी के समकक्ष हैं। इस पीड़ा से भरे संसार में, सुख का एक आलोक है; वह है राम का नाम—

जन्म मरन बन्धन कटै, टूटै जम की फाँस।
राम नाम से सहजिया, होय नहीं जग हाँस॥

उनके शब्दों में यद्यपि कबीर की गर्जन तथा कर्कश ताड़ना नहीं है, पर चुटीले व्यंग्यों का अभाव नहीं है, उपहास और व्यंग्य से भरे उनके इन शब्दों की गुरुता और गम्भीरता संत मत के दूसरे कवियों से किसी भी प्रकार कम नहीं है—

कूकर ज्यों भूँसत फिरै, तामस मिलवा बोल।
घर बाहर दुःख रूप है, बुधि रहै डाँवाँडोल॥

इसी प्रकार—

प्रभुताई को चहत है, प्रभु को चहै न कोइ।
अभिमानी घट नीच है, सहजो ऊँच न होइ॥

नन्हा महा उत्तम का अंग—इस वर्णन में विनम्रता की महानता सिद्ध करने की चेष्टा है। संत मत के अनुसार अहं का विनाश अनिवार्य है, अपने को तुच्छ

मानकर चलने वाला ही महान् है। संसार के विविध क्षेत्रों में से अनेक तुच्छ उपकरणों के साथ उनकी महानता का परिचय देकर उन्होंने विनम्र को महान सिद्ध किया है। इसी आधार पर इसका नामकरण भी उन्होंने नन्हा महा उत्तम किया है।

अपने अस्तित्व को मिटाकर ही, मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। संतों की दीक्षा में इस तथ्य को प्रधान माना गया है। चरणदास की शिष्या भी गुरु के वचन के अनुसार इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है—

धन छोटापन सुख सदा, धिरग बड़ाई ख्वार।
सहजो नन्हां हूजिये, गुरु के वचन संभार॥

दीनता के प्रतीक और उनके महात्म्य ध्यान देने योग्य वस्तुएँ हैं—

अभिमानी नाहर बड़ो, भरमत फिरत उजाड़।
सहजो नन्हीं बाकरी, प्यार करै संसार॥

इसी प्रकार—

सहजो नन्हा बालका, महल भूप के जाय।
नारी परदा न करै, गोद हि गोद खिलाय॥
चरनदास सतगुरु कही, सहजो कू यह चाल।
सको तो छोटा हूजिये, छूटै सब जंजाल॥

प्रेम का अंग—इस शीर्षक के दोहों में प्रेम के महत्त्व और प्रतिक्रिया का सजीव और सुन्दर वर्णन है। गुरु की दीक्षा में प्रेम का संदेश था, उसी के रंग में सिक्त सहजो प्रेम की अनुभूति में ही जीवन की सार्थकता देखती हैं। प्रेम-मार्ग पर चलने वाला पथिक पागल होता है, दीवाना होता है; प्रेम की मादकता में वह इतना डूब जाता है कि शारीरिक बन्धन, सांसारिक उपहास, मार्ग के व्यवधान, उसके लिए नगण्य हो जाते हैं; जीवन की दूसरी प्रक्रियाओं की ओर वह उपेक्षा की दृष्टि से ही देख सकता है। ऐसे प्रेम-दीवानों का वर्णन सहजो ने सुन्दर, आकर्षक तथा सजीव ढंग से किया है।

प्रेम का दीवाना, जिसके हृदय का अणु-अणु चूर्ण होकर किसी के अस्तित्व में मिल गया है, उसे जीवन में तृप्ति-ही-तृप्ति दिखाई देती है—

प्रेम दिवाने जो भये, मन भयो चकनाचूर।
छकै रहै घूमत रहै, सहजो देख हजूर॥

प्रेम की प्रबलता के समक्ष नियम और धर्म का ज्ञान पूर्णतया लुप्त हो जाता है, जगत का उपहास उनके मन को ग्लानि नहीं आनन्द प्रदान करता है—

प्रेम दिवाने जो भये, नेम धरम गयो खोय।
सहजो नर नारी हँसे, वा मन आनन्द होय॥

प्रेमी अपने चारों ओर के वातावरण को भूल, अपनी भावनाओं में ही लीन, कभी विरह के आँसू बहाता है, तो कभी मिलन की तीव्र अनुभूति की मादकता से पूर्ण हास्य करने लगता है; यह अनुभूति उसके जीवन में एक उद्वेलन और आन्दोलन लेकर आती है—डगमग पग, टपकते नेत्र, अर्द्ध चेतनावस्था, अटपटी वाणी; बस, वह अपने प्रियतम में लीन रहता है, उसी में खो जाता है—

प्रेम दिवाने जो भये, कहे बहकते बैन ।
सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपके नैन ॥
प्रेम दिवाने जो भये, जाति बरण गई छूट ।
सहजो जग बौरा कहे, लोग गये सब फूट ॥
प्रेम दिवाने जो भये, सहजो डिगमिग देह ।
पाँव पड़े मित कै किसी, हरि सम्हाल जब लेह ॥

पर प्रेम की इस चरमावस्था की प्राप्ति के साधन सरल नहीं हैं, अनुभूति की यह तीव्रता और मादकता की उपलब्धि आसान नहीं है—

प्रेम लटक दुर्लभ महा, पावै गुरु के ध्यान ।
अजपा सुमिरन कहत हूँ, उपजै केवल ज्ञान ॥

सत वैराग जगत् मिथ्या का अंग—इन दोहों में वैराग के सत्य और जगत की नश्वरता का वर्णन है, सांसारिक माया के स्वप्न को सत्य मान मनुष्य कार्य करता है, पर अज्ञानी ही इस माया में लिप्त हो सत्य को भूल जाता है। ज्ञानी संसार के आनन्द और शोक के परे अपने में मस्त रहने वाला व्यक्ति है—

अज्ञानी जागत नहीं, लिप्त भया करि भोग ।
ज्ञानी तो द्रष्टा भये, सहजो खुसी न सोग ॥

आत्मानुभूति ही इस अनित्य जगत और ईश्वर पर विजय पा सकती है—

मन माहीं वैराग है, ब्रह्म माँहि गलतान ।
सहजो जगत अनित्य है, आतम को नित जान ॥

संसार की नश्वरता के चित्र बहुत ही सुन्दर और सजीव बन पड़े हैं, कला सचेष्ट न होते हुए भी स्वतः आ गई है।

जगत भोर का तारा है, ओस की बूँद है, और अंजलि का जल है—

जगत तरैया भोर की, सहजो ठहरत नाँहि ।
जैसे मोती ओस की, पानी अंजुलि माँहि ॥

क्षणभंगुरता के ये उपमान कितने उपयुक्त और पूर्ण हैं।

धूम्रकोट में राज्य करने की इच्छा कभी कैसे सत्य हो सकती है—

धुवाँ को सो गढ़ बन्यो, मन में राज संयोग ।
झांई माई सहजिया, कबहुँ साँच न होय ।।

इस प्रकार यह नश्वर संसार मिथ्या है, भ्रम है, आत्मानुभूति द्वारा परमात्मा से तादात्म्य ही जिससे मुक्ति दिला सकता है—

ऐसे ही जग झूठ है, आत्म कूँ नित जान ।
सहजो काल न खा सके, ऐसो रूप पिछान ।।

सच्चिदानन्द का अंग—इनमें, अनादि और अनन्त शक्ति का रूप-निरूपण तथा महिमा-गान है। निर्गुण मत के मान्य पूर्ण ब्रह्म के रूप-निर्णय का प्रयास है, यद्यपि प्रसिद्ध निर्गुणियों ने उस सत्ता को वर्णनातीत कहा है, पर अपनी सामर्थ्य और कल्पना के अनुसार, मत के स्थूल सिद्धान्तों के अनुसार, कुछ-न-कुछ प्रकाश डालने का प्रयास सभी ने किया है। कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास इत्यादि सब संतों ने उस शक्ति का कुछ-न-कुछ आभास दिया है, पर उस आभास की अपूर्णता भी इस प्रकार के शब्दों से प्रतिपादित की है—

वो वैसा वोहि जाने, वोहि आहि, आहि नहिं आने ।।

अथवा—

जस तूँ तस तोहि कोई न जान। लोग कहहिं सब आनहिं आन ।।

सहजोबाई ने भी निर्गुण मत द्वारा मान्य सच्चिदानन्द के रूप का निरूपण इन दोहों में किया है—

रूप वरन वाके नहीं, सहजो रंग न देह।
मीत इष्ट वाके नहीं, जाति पाँति नहिं गेह ।।
ब्रह्म अनादि सहजिया, घने हिराने हेर ।
परलय में आने नहीं, उत्पति होय न फेर ।।
आदि अन्त ताके नहीं, मध्य नहीं तेहि माँहि ।
वार पार नहिं सहजिया, लघू दीर्घ भी नाहिं ।।

ऐसे अनादि, अनन्त और अरूप ब्रह्म की प्राप्ति आत्मानुभूति से ही हो सकती है—

आपा खोजे पाइये, और जतन नहिं कोय ।
नीर छीर निताय के, सहजो सुरति समोय ।।

निर्गुण-सगुण संशय निवारण अंग—इन दोहों में उन्होंने निर्गुण और सगुण भक्ति की तुलना की है। उनके इन दोहों में सगुण भक्ति के प्रति निर्गुणियों का सामान्य व्यवहार नहीं है। कबीर की वक्रोक्तियाँ, व्यंग्य और उपहास से उनके विचार भिन्न हैं। वास्तव में चरणदास की आध्यात्मिक प्रेरणा का मुख्य आधार भागवत पुराण था। भागवत की आध्यात्मिक छाया के अनुसार, केवल रहस्य-साधना ही

नहीं, प्रेम के माध्यम द्वारा भी अनन्त शक्ति विषयक ज्ञान-यापन का प्रयास लक्षित होता है। चरणदासी, कृष्ण को भागवत के नायक के रूप में, सम्पूर्ण सांसारिक क्षेत्र में प्रेरक मानते हैं। कृष्ण के प्रति ज्ञानमूलक आस्था और सूफ़ीमत का पुट उनको पूर्णतया निर्गुण बना देता है। इस प्रकार चरणदासी मत के अनुसार निर्गुण और सगुण में वह सैद्धान्तिक मतभेद नहीं, जो कबीर और दूसरे सन्तों के लांच्छनों से लक्षित होता है।

सहजोबाई पर उनके गुरु चरणदास का प्रभाव स्पष्ट है। सगुण तथा निर्गुण एक ही तत्त्व पर दो दृष्टिकोण हैं। सैद्धान्तिक अन्तर उनमें कहीं नहीं है। सगुण और निर्गुण एक ही ब्रह्म के पोजिटिव और नेगेटिव पक्ष हैं, एक स्थान पर जहाँ वह कहती हैं—

कहा कहूँ कहा कहि सकूँ, अचरज अलख अभेद।
सुनो अचम्भो सो लगै, सहजो ब्रह्म अलेव॥

वहीं दूसरे स्थान पर उन्हीं के ये स्वर सुनाई पड़ते हैं—

वहीं आप परगट भयो, ईसुर लीलाधार।
माहिं अजुध्या और ब्रज, कौतुक किये अपार॥
चार बीस अवतार धरि, जन की करो सहाय।
राम कृष्ण पूरन भये, महिमा कही न जाय॥

गीता की विवेचनाओं और उद्धरणों से यह पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाता है कि चरणदास की ही भाँति उन पर भी भागवत तथा गीता का पूर्ण प्रभाव था। एक स्थान पर तो ऐसा भास होता है कि वे ज्ञान और योग की उपेक्षा कर प्रेम और भक्ति में अधिक आस्था रखती थीं—

जोगी पावे जोग सूँ, ज्ञानी लहै विचार।
सहजो पावे भक्ति सूँ, जाके प्रेम आधार॥
धन्य जसोदानन्द धन, धन बृजमंडल देस।
आदि निरंजन सहजिया, भयो ग्वाल के भेस॥

सगुण और निर्गुण के इस सामंजस्य प्रयत्न के साथ ही 'सहज प्रकाश' ग्रंथ का अन्त होता है। रचना की प्रेरणा, अपने वास स्थान और 'सहज प्रकाश' के पाठन का महात्म्य वह इन शब्दों में करती है—

फाग महीना अष्टमी, सुकल पाख बुधवार।
संवत अठारह तैं हुनैं, सहजो किया सिचार॥
गुरु अस्तुत के करन कू, बढ़यो अधिक उल्लास।
होते होते हो गई, पोथी सहज प्रकास॥

दिल्ली सहर सुहावना, परीछित पुर में वास।
तहाँ सभापत्त ही भई, नवका सहज प्रकास॥

सोलह तिथि निर्णय—उनकी दूसरी प्राप्त रचना है: सोलह तिथ्य निर्णय। वर्णन का विषय उन्होंने स्वयं बताया है—

चरनदास के चरन कूँ, निस दिन राखूँ ध्यान।
ज्ञान भक्ति और जोग कूँ, तिथि को करूँ बखान॥

यह सम्पूर्ण रचना कुंडलिया छन्द में है, छन्द के नियमों का निर्वाह यद्यपि अपूर्ण है। छन्द के प्रथम पंक्ति के प्रथम शब्द से अन्तिम पंक्ति का अन्त होना इस छन्द का नियम है; पर सहजो की इन कुंडलियों में केवल मात्राएँ ही उस छन्द के अनुसार मिलती हैं। प्रत्येक तिथि के नाम का प्रथम वर्ण लेकर पद आरम्भ किया है और सोलहों कुंडलियों में मिथ्या संसार की नश्वरता तथा योग, प्रेम और ज्ञान की विवेचना है। उदाहरणार्थ, पंचमी तिथि का वर्णन करती हुई कहती हैं—

पाँचों इन्द्री बस करै, मन जीतन की बात।
पवन रोक अनहद लगी, पावो पद निर्वाण॥
पावो पद निर्वाण, करो तुम ऐसी करनी।
आसन संजम साध, बन्ध लार्गा जब धरनी॥
चित मन बुद्धि हँकार कूँ, करो इकट्ठे आन।
सहजो निज मन होय जब, निश्चय लागै ध्यान॥

पूनों के प्रसंग में गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए ये शब्द हैं—

पूना पूरा गुरु मिलै, मेटै सब सन्देह।
सोवत सूँ चैतन्य हो, देखें जागृत देह॥

सोलह तिथियों के इस वर्णन के समान ही सात दिवसों का निर्णय भी उन्होंने अपनी एक रचना में किया है। यह उनकी तीसरी रचना है।

सात वार निर्णय—गुरु को सम्बोधित उनके ये शब्द, उनके हृदय की आस्था और दृढ़ता प्रदर्शित करते हैं—

सात वार वरनन करूँ, कुंडली माहिं उचार।
याही मुख सूँ कहत हूँ, तुमको हिरदे धार॥

इन्हीं सात दिवसों के क्रम में बँधकर संसार का उद्भव और अन्त होता है। यह रचना भी कुंडलिया छन्द में है। कुछ वारों के वर्णन के दोहों से विषय पूर्णतया स्पष्ट हो जायगा—

मंगल: मंगल माली राम है, जाको यह जग बाग।
निस दिन ताही में रहे, वाही सेती लाग॥

बुद्धः बुद्ध वारो में फल घने, जो पै देवै बाड़।
रखवारी के बिन किये, पाँचों करै उजाड़॥
बृहस्पति : बृहस्पति वारो आइया, पाई अनूपम देह।
सो तन छिन-छिन घटत है, भयो जात है खेह॥

इसी प्रकार प्रत्येक वार के नाम के प्रथम अक्षर से आरम्भ कर कुंडलिया छन्द में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

मिश्रित पद—राग-रागिनियों के अनुसार लिखे हुए ये पद अपने ढंग के अनूठे हैं। ये विभिन्न प्रसंगों और अवसरों पर लिखे हुए हैं। इनके वर्ण्य-विषय यद्यपि गुरु-महिमा और ज्ञान-महिमा इत्यादि ही हैं, पर शैली और विन्यास की दृष्टि से पूर्व रचनाओं में और इनमें बहुत अन्तर है। इन पदों में वर्णित गुरु उनके मान से अधिक हृदय के निकट है। चरणदास के जन्म-प्रसंग पर लिखी बधाइयाँ कुल-जन्मोत्सव की स्मृति खींच लाती हैं, जहाँ एक ओर गुरु के प्रति उनके हृदय के अगाध और असीम प्रेम की छाया मिलती है वहीं उनकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा असत्य के निकट आती हुई ज्ञात होती है।

अस जन धन जननी जिन जाये।
दूसर कुल में भक्ति नहीं थीं, जाकूँ तारन आये॥

× × ×

सखी री आज जन्मे लीलाधारी।
तिमिर भजेंगी, भक्ति खिड़ेंगी, पारायन नर-नारी॥
दर्शन करते आनन्द उपजे, नाम लिये अघ नासै।
चर्चा में सन्देह न रहसी, खुलिहै प्रबल प्रगासै॥
बहुतक जीव ठिकानो पै हैं, आवागमन न होई॥
जम के दण्ड दहन पावक की, नित कूँ मूल निकोई।

गुरु-महिमा के अतिरिक्त इन पदों में निर्गुण मत के अन्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी है, पदों के विषय में कोई नवीनता नहीं। केवल शैली में ही अन्तर है। कबीर के पदों से मिलते-जुलते यह पद कहीं जगत् की नश्वरता के चित्रों से भरे हैं तो कहीं सूफ़ीमत के प्रेम-पुट से; कहीं योग और ज्ञान की विवेचना है तो कहीं प्रभु के संग होली खेलने की मादक अनुभूति का चित्रण।

इन पदों में योग और ज्ञान की अपेक्षा भागवत धर्म का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। विनय, भक्ति, उपालम्भ और याचना इत्यादि के ये पद निर्गुण की नीरसता की अपेक्षा सगुण के रस के अधिक निकट आते हैं। इन पदों की रागात्मकता, मार्मिकता और हृदयग्राहिता, आत्मपीड़न-जनित अवनयन से बहुत दूर है, नैराश्य की अपेक्षा

उसमें आशा अधिक है। साधना के ये शब्द सन्तों के आत्मपीड़न-सिद्धान्त की अपेक्षा भक्तों की रागात्मक भक्ति के अधिक पास हैं। केवल एक-आध पद में ही कबीर की सांसारिक संघर्ष और भौतिक नश्वरता-जन्य नैराश्य से भरी वाणी की आवृत्ति-सी दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, कबीर के 'मन फूला-फूला फिरे जगत् में कैसा नाता रे' की आवृत्ति इन पदों में लक्षित होती है—

पुत्र कलत्तर कौन के, भाई अरु बन्धा।
सब ही ठोक जलाइ हैं, समझे नहिं अन्धा॥

दूसरे पदों की रागात्मकता और अनुभूतियाँ उनके मन के दूसरे पक्ष पर भी प्रकाश डालती हैं।

अब तुम अपनी ओर निहारो।
हमारे औगुन पै नहिं जाओ, तुम्हीं अपनो विरद सम्हारो॥

—तुम मुझ पर कृपा करके नहीं बल्कि अपने विरद का ध्यान करके मेरा उद्धार कर दो, मेरे अवगुणों की ओर ध्यान मत दो।

याचना के ये स्वर निर्गुणी सन्त की शिष्या के नहीं ज्ञात होते, पर इस प्रकार की भावनाएँ इन पदों में प्रचुर मात्रा में हैं। एक ओर चरणदासी सम्प्रदाय की भागवतीय प्रेरणा और दूसरी ओर स्वयं उनकी नारी-सुलभ आर्द्रता और भावना-प्रधान व्यक्तित्व, इन पदों के प्रेरक प्रतीत होते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि इस प्रकार के पदों की अनुभूति तीव्र है और भावनाएँ स्पष्ट और शुद्ध, पर उनके व्यक्तित्व और साधना का प्रधान ध्येय निर्गुण ब्रह्म का निरूपण, मिथ्याचार का खण्डन और लौकिकता का मूलोच्छेदन है। इन्हीं विषयों पर लिखे हुए पदों में उनका व्यक्तित्व निखरकर साकार हो जाता है। चरणदास की कुटिया में संसार की नश्वरता और मरीचिका के गीत गाती हुई शिष्या के ये स्वर अधिक स्वाभाविक लगते हैं—

सुमिर नर उतरो पार, भौसागर का तीछन धार।

× × ×

मान पहाड़ी तहाँ अड़त है, आसा तृष्ना भँवर पड़त है।
पाँच मच्छ जहँ चोर करत हैं, ज्ञान आँखि बल चली निहार॥

निर्गुण काव्यधारा के काव्य के तत्त्व हमें उसी अंश में मिलते हैं जिसमें कवि आत्मानुभूति की विह्वल मादकता का चित्रण करता है। इस क्षेत्र के बाहर आते ही, वह केवल एक उपदेशक और प्रचारकमात्र रह जाता है। सन्त कवि अपने उपदेशों को वास्तविक काव्य के आवरण से सजाने में प्रायः पूर्णतया असफल रहे हैं। कबीर की रचनाएँ यद्यपि इस उक्ति में अपवाद रूप में आती हैं, परन्तु कबीर की उक्तियों में कल्पना की जो प्रचुरता मिलती है, वह इस धारा के अन्य कवियों में नहीं मिलती।

सहजोबाई की रचनाओं में भी कल्पना का प्राचुर्य नहीं कहा जा सकता, प्रेमानुभूति और मिलन के जो थोड़े-से चित्र हैं वे यद्यपि सजीव तथा चित्रोपम हैं, पर दूसरे प्रसंगों में केवल उपदेशात्मक प्रचार ही प्रधान है। प्रसंगानुसार कहीं-कहीं रूढ़िवादी उपमानों से संसार की नश्वरता इत्यादि का वर्णन किया है, पर इन परम्परागत उपमानों को उन्होंने अपनी उक्ति की स्वाभाविकता द्वारा मौलिक बना दिया है। उनकी रचनाओं में अनुभूतिमूलक चित्रों का अभाव है, अतः उन भावनाओं का भी अभाव है जो प्रयासरहित ही कविता बन जाती हैं। कुछ मात्रा में जो रागात्मक अनुभूतियाँ, प्रेम और श्रद्धा की भावनाएँ गुरु और हरि विषयक कविताओं में मिलती हैं, वह उतनी तीव्र और उच्च नहीं, जो काव्य की कल्पना तथा उत्कृष्ट भावना को रूप दे सके।

सहजो की इन रचनाओं में उनकी साधना ही प्रधान है। उन्होंने जीवन तथा प्रकृति के अनेक उपकरणों से उपमान ग्रहण कर, गुरु से सीखे हुए सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। निर्गुण काव्यधारा की अटपटी वाणी, विषय-साधना और चरम भावानुभूति में मिले हुए सहजो के स्वर की गम्भीरता, साधना की दृढ़ता तथा ज्ञान, प्रेम और भक्ति की समन्वित रागात्मकता, नारी की कोमलता के साथ कठोरतम साधना का सामंजस्य स्थापित करती है। इस मत के प्रमुख प्रचारकों में उनके नाम का उल्लेख ही उनकी सफलता का द्योतक है।

दयाबाई—दयाबाई भी श्री चरणदास जी की शिष्या थीं। बड़थ्वाल जी ने इनका उल्लेख भी उनकी चचेरी बहन के रूप में किया है, पर ये सहजो की सहोदरा थीं, इस बात का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता। दोनों का जन्म-स्थान दैवात् एक ही सिद्ध होता है। इनके विषय में भी प्रसिद्ध है कि ये दिल्ली में चरणदास जी के मन्दिर में उनके साथ उन्हीं की सेवा में रहती थीं। इनका जन्मकाल १७७५ सं० के बीच में माना जाता है। सन् १८१८ में इनके ग्रंथ दयाबोध की रचना हुई। इनके दो ग्रंथों का उल्लेख नागरी-प्रचारिणी सभा की अप्रकाशित खोज-रिपोर्ट में मिलता है।

दयाबाई की रचनाओं में उनके तीन नाम मिलते हैं—दया, दयादासी और दया कुँवरि। श्री निर्मल जी ने स्त्री कवि कौमुदी में कुँवरि शब्द के आधार पर उन्हें किसी राजवंश की माना है, पर उनके जन्मकुल के विषय में किसी प्रकार का संशय नहीं है। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. दयाबोध

२. विनयमालिका।

दयाबोध—इस रचना का आकार सहजोबाई के ग्रंथ 'सहज प्रकाश' से बहुत

छोटा है। सौष्ठव में यह किसी प्रकार उससे कम नहीं, भाषा पर दयाबाई का अधिकार अधिक है। वर्ण्य-विषय यद्यपि दोनों के लगभग समान हैं, पर दयाबाई की रचनाएँ उतनी शुष्क और प्रचारात्मक नहीं हैं जितनी सहजोबाई की।

सम्पूर्ण ग्रंथ कतिपय अंगों में विभाजित है जिनका विभाजन वर्ण्य-वस्तु के आधार पर हुआ है—

१. गुरु महिमा
२. सुमिरन
३. सूर
४. प्रेम
५. वैराग्य
६. साध
७. अजपा

गुरु महिमा—जैसा कि सहजोबाई के प्रसंग में कहा जा चुका है, सन्त मत में गुरु का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने भी गुरु में ब्रह्म की छाया देखी है। गुरु ब्रह्म का रूप है, नर-रूप नहीं। जो उसकी सूक्ष्म भावना को नहीं बल्कि स्थूल शरीर को प्रधान मानता है वह मनुष्य नहीं पशु है—

सतगुरु ब्रह्म स्वरूप है, आन भाव मत जान।
देह भाव मानें दया, ते हैं पशू समान॥

इस सांसारिक अंधकूप से उद्धार करने वाला एक सद्‌गुरु ही है। अभिव्यक्ति की सजीवता उनमें सहजोबाई से बहुत अधिक है—

अँधकूप जग में पड़ी, दया करम बस आय।
बूड़त लई निकासि करि, गुरु गुन ज्ञान गहाय॥

सहजोबाई की भाँति दया की श्रद्धा में अत्युक्ति नहीं है। गुरु हरि के रूप हैं, हरि दर्शन के दिग्दर्शक हैं पर हरि से बढ़कर कहीं नहीं हैं। भावना में उन्हें मनुष्य मानकर भी कहीं हरि के साथ उनकी तुलना कर उनकी उपेक्षा नहीं की। हाँ, उनके समक्ष रख उन्हें हरि की छाया बड़े दृढ़ और सुन्दर शब्दों में सिद्ध किया है—

चरनदास गुरुदेव जू, ब्रह्म-रूप सुख धाम।
ताप हरन सब सुख करन, दया करत परनाम॥

सुमिरन—निर्गुण दर्शन के अनुसार चरमानुभूति एक अतीन्द्रिय सूक्ष्म वृत्ति है जो ब्रह्म से पूर्ण साक्षात्कार करने की क्षमता रखती है, वेदान्ती जिसे ज्ञान अथवा अनुभव ज्ञान के नाम से पुकारते हैं। इसी अनुभूत ज्ञान के क्षेत्र में मन अमूर्त्त सिद्धान्तों को पीछे छोड़ता हुआ पूर्ण सत्य-दर्शन के लिए अग्रसर होता है। अनुभूति की इस

चरमावस्था के अभाव में, दर्शन तथ्यरहित वाद बनकर रह जाता है। सुन्दरदास के शब्दों में—

'जाके अनुभव ज्ञान वाद में बँध्यो है।'

परन्तु सहजो और दया दोनों ही ने सहज अनुभव की अपेक्षा सुमिरन पद को ही अधिक वर्णन किया है। इसके दो कारण दिखाई देते हैं, प्रथम तो यह कि यद्यपि वह चरणदास की शिष्या थीं, निर्गुण मत के विविध सिद्धान्तों से परिचित होते हुए भी, भारतीय दर्शन की रूपरेखा से उनका अधिक परिच्चय नहीं था। जीवन की विरोधी प्रक्रियाओं की प्रतिक्रियास्वरूप विराग धारण कर किसी गुरु की शिष्या बनकर भजन करना दूसरी बात है, और धर्म तथा दर्शन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार-धाराओं से परिचित होना दूसरी बात। चरणदास के चरणों में रहकर यद्यपि उन्हें मत की रूपरेखा का ज्ञान हो गया होगा, पर ज्ञानानुभव के कठोरतम साधन के टेढ़े-मेढ़े सोपानों पर चढ़ने की न तो उनमें शक्ति रही होगी न क्षमता। दूसरा कारण इनका और भी हो सकता है, वह यह कि चरणदास-सम्प्रदाय में निर्गुण की साधना के साथ भागवत के प्रेम-तत्त्व का भी काफ़ी प्राधान्य था। दयाबाई द्वारा लिखित सुमिरन के इस अंग में एक ओर ज्ञान की शुष्कता है और दूसरी ओर वर्णन की स्थूलता। भागवत के प्रेम और ज्ञान के सूक्ष्म का समन्वय इसके रूप को बहुत उत्कृष्ट बना देता, पर ऐसा नहीं हुआ है, और सुमिरन के यह दोहे साधारण कोटि के भाव और भाषा से युक्त बिलकुल साधारण बनकर रह गये हैं। सुमिरन के अधिक पदों में ईश्वर का भागवत रूप ही है। अनेक पतितों को तारने वाले प्रभु की वन्दना के दोहे, सतगुरु के स्मरण के दोहों से संख्या में अधिक और श्रेष्ठतर हैं। राम, मनमोहन, गोविन्द इत्यादि के सम्बोधनों के पीछे सगुण उपासना-पद्धति में इनके रूप उन्हें मान्य प्रतीत होते हैं, कबीर के राम की भाँति निराकार ब्रह्म के प्रतीक नहीं—

अर्द्ध नाम के लेत ही, उधरे पतित अपार।
गज गनिका अस गाधि बटु, भये पार संसार॥

इसी प्रकार—

राम-नाम के लेत ही, पातक झरें अनेक।
रे नर हरि के नाम की, राखो मन में टेक॥

सूर का अंग—निर्गुण मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति शूर है। वासनाओं से विमुख होकर, गोविन्द के प्रेम और भक्ति रूपी गदा से जो विषय-वासनाओं की मलिनता को कुचल डालता है वह शूर है। प्रेम के मार्ग पर चलने वाला पथिक शूर होता है। वह मार्ग में आने वाले व्यवधानों को सत्य की ठोकर से दूर कर देता

है। उसका बल है प्रेम, और शस्त्र है त्याग। त्याग की चरम सीमा तक पहुँच जाने की क्षमता और साहस ही की शक्ति से वह प्रेम के मार्ग पर पग रखता है। प्रेम के मार्ग पर चलने वाले को चुनौती देने हुए जिस प्रकार कबीर ने कहा था—

सीस उतारे भुइँ धरै, ऐसा होय तो आव।

इसी प्रकार का वर्णन दयाबाई ने भी सूर के इस अंग में किया है—

कायर कम्पै देख करि, साधू को संग्राम।
सीस उतारे भुइँ धरे, जब पावे निज ठाम॥

प्रेम का अंग—सहजोबाई के प्रसंग में इस तथ्य पर प्रकाश डाला जा चुका है कि प्रेम की चरम अनुभूति की विह्वलता, मादकता तथा भावात्मकता के अतिरिक्त शेष विषयों पर लेखनी उठाते समय सन्त कवि केवल प्रचारक अथवा उपदेशक-मात्र ही बन सके हैं। दयाबाई द्वारा रचित इस विषय के दोहों की सरसता तथा भावात्मकता सराहनीय है। उनकी भावात्मक उक्तियों में विरहानुभूति तथा प्रेम-प्रसूत विविध अनुभूतियों के चित्र सजीव तथा स्वाभाविक हैं। शृंगार की विविध स्थितियों के चित्रों में जो सजीवता है, उनमें भावों की मधुर सरिता का प्लावन ज्ञात होता है। प्रतीक्षा का यह चित्र—

काग उड़ावत थके कर, नैन निहारत बाट।
प्रेम सिन्धु में पर्‌यो मन, ना निकसन को बाट॥

शृंगार रस के किसी कवि के प्रतीक्षा के चित्र से कम नहीं है। इसी प्रकार मूर्च्छा इत्यादि के चित्रों की सजीवता इन दोहों की उत्कृष्टता प्रमाणित करती है।

मिलन की प्रतीक्षा में आकुल विरही को अपनी अवस्था की भी सुधि नहीं है। एक लगन है, उसी में रत वह अपने जीवन की सार्थकता प्राप्त करता है। पुलकित वाणी, डगमग पग, हरि के प्रेम के रंग में सराबोर उनके विरही के कुछ चित्र देखिये—

कहूँ धरत पग परत कहूँ, डगमगात सब देह।
दया-मग्न हरि रूप में, दिन-दिन अधिक सनेह॥
प्रेम-मग्न गद्‌गद् बचन, पुलकि रोम सब अंग।
पुलकि रह्यो मन रूप में, दया न ह्वै चित भंग॥

विह्वलता का यह चित्र कितना सजीव है—

बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवें केहि ओर?
छिनहिं उठूँ छिन गिरि परूँ, राम! दुःखी मन मोर॥

प्रतीक्षा के उन्माद तथा व्याकुलता के ये चित्र अनुपम हैं।

प्रेम के इन चित्रों के अंकन में दयाबाई सहजो से कहीं आगे ठहरती हैं। प्रेम

की तन्मयता, रसमयता तथा भावात्मकता इन दोहों में बहुत सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त हैं।

वैराग का अंग—वैराग्य के इन दोहों में संसार की नश्वरता तथा क्षणभंगुरता का चित्रण है। आध्यात्मिक लौ की लगन में लीन साधक को संसार तथा उससे सम्बन्धित भावनाएँ, सुख-संतोष इत्यादि सभी वस्तुएँ क्षणिक, निरर्थक तथा सारहीन प्रतीत होती हैं। संसार का कोई भी व्यक्ति अपना नहीं है; सांसारिकता में लिप्त ज्ञान, स्वप्न को सत्य समझने के समान मूर्खता है। सराय में वास की भाँति यह क्षणिक है। जगत् माया है, मिथ्या है। क्षणभंगुरता का एक सुन्दर चित्र दयाबाई के शब्दों में सजीव हो उठता है—

जैसो मोती ओस को, तैसो यह संसार।
विनसि जाय छिन एक में, दया प्रभु गुर धार॥

मृत्यु का नैराश्य तथा वैभव की निरर्थकता इन शब्दों में कितनी सफलता से व्यक्त है—

आसु गाज कंचन दया, जोरे लाख-करोर।
हाथ झाड़ रीते गये, भयो काल को जोर॥

विराग की इन भावनाओं में केवल उपदेशात्मक और बौद्धिक तर्क ही नहीं, भावना और कल्पना का सरल और मार्मिक पुट भी है। वायु के प्रबल झोखों से नभचर वारिद का अस्तित्व जिस प्रकार पल भर में विलीन हो जाता है, संसार में अपनी स्थिति को इसी प्रकार की समझकर भी मनुष्य शान्ति-प्राप्ति का प्रयास नहीं करता। कैसी विडम्बना है—

विनसत बादर बात वसि, नभ में नाना भाँति।
इमि नर दीखत कालि बस, तऊ न उपजै सांति॥

कल्पना तथा तर्क के इस सुन्दर सामंजस्य की सजीवता तथा सफलता देखकर विश्वास नहीं होता कि ये पंक्तियाँ काव्य-रचना के ज्ञान से रहित किसी स्त्री द्वारा रचित हैं।

साधक का अंग—निर्गुण साधना में सत्संग का प्रधान महत्त्व है। साधक को अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक प्रेरणा की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति सत्संग से होती है। संतों के लक्षण तथा गुणों का वर्णन प्रायः सभी संत कवियों ने अपनी रचनाओं में किया है। दयाबाई द्वारा रचित साधु-वर्णन किसी भी प्रकार दूसरे संतों की रचनाओं से पीछे नहीं है। साधु-महिमा वर्णन के ये पद साधारण कोटि के हैं। कल्पना और भावना की प्रचुरता का अभाव होना विषय की नीरसता के कारण स्वाभाविक ही है। साधु की निरपेक्ष वृत्ति, सुख-दुःख के प्रति समान भाव

इत्यादि साधु के प्रमुख गुण माने गये हैं और उन्हीं का वर्णन इन दोहों में हुआ है। सत्संग की शक्ति के प्रभावोत्पादन पर उनका कितना विश्वास है, यह इन पंक्तियों से प्रकट होता है—

साधु-संग छिन एक को, पुन्न न बरनो जाय।
रति उपजै हरि नाम सूँ, सब ही पाप विलाय॥

तथा—

साधु-संत जग में बड़ो, करि जानै सब कोय।
आधो छिन सत्संग को, कलमख डारै खोय॥

नाम सुमिरन—संसार के समस्त धर्मों में नाम-स्मरण को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। हिन्दू धर्म की विभिन्न शाखाओं में भी नामावृत्ति के महत्त्व की प्रधानता है। विष्णु सहस्रनाम, ओम् जाप तथा सूक्तियाँ-स्मरण आदि इसी के द्योतक हैं। परन्तु निर्गुण पंथ में इस अंग को जितना महत्त्व दिया जाता है उतना और कहीं नहीं। यह भौतिक आपदाओं से मुक्तिदात्री संजीवनी है। नाम-स्मरण करने वाला व्यक्ति अपने को तथा दूसरे व्यक्तियों को मुक्ति दिलाने की क्षमता रखता है। राम का नाम स्मरण करने वालों पर कर्म की काली छाया का प्रभाव नहीं पड़ सकता तथा स्मरण के अभाव से बड़े-से-बड़े कर्म भी सार्थकता नहीं रखते। पर निर्गुणपंथियों का स्मरण दूसरे मतों के स्मरण की भाँति यांत्रिक बाह्याडम्बर नहीं है। कुछ मान्य पवित्र शब्दों की पुनरावृत्ति से स्मरण पूरा नहीं होता। इस बाह्य क्रिया के प्रति निर्गुण के हृदय में घृणा और उपेक्षा है। कबीर के शब्दों में—

पंडित वाद वदंते झूठा।
राम कह्या दुनिया गति पावै, खांड कह्या मुँह मीठा॥
पावक कह्या पाँव जे दाझै, जल कहि तृषा बुझाई।
भोजन कह्या भूख जे भाजे, तो सब कोई तरि जाई॥
नर के साथ सूआ हरि बोले, प्रभु परताप न जाने।
जो कहूँ उड़ि जाई जंगल में, बहुरि न सुरतैं आने॥

निर्गुणपंथियों के लिए नाम-स्मरण प्रेम का अलक्ष्य मार्ग है। प्रेम के लौकिक क्षेत्र में भी प्रेम-पात्र का नाम ही प्रेमी के लिए एकमात्र सम्बल होता है, जो परिस्थितियों की झंझा में उससे विलग हो जाता है। निर्गुणी भी स्मरण को उसी अर्थ में लेता और समझता है। यह पूर्णरूपेण एक ऐसी आन्तरिक अवस्था है जिसमें हृदय की सारी अनुभूतियाँ प्रेमी के चारों ओर ही लिपटी रहती हैं।

स्मरण में साधु के मस्तिष्क की अवस्था जल भरकर लाती हुई किशोरी की मानसिक अवस्था के समान होनी चाहिए। जिस प्रकार चलते तथा बातचीत करते हुए भी

शीश पर रखे हुए कलश के संतुलन पर ही उसका ध्यान केन्द्रित रहता है, उसी प्रकार साधक को भी इसी अवस्था की प्राप्ति का प्रयास आवश्यक है। पनिहारी की गति की भाँति वह अलौकिक सत्ता के स्मरण में ही रत रहे, यद्यपि बाह्य-दर्शन में वह संसार में ही लिप्त दिखाई दे। ऐसी मनःस्थिति की प्राप्ति के पश्चात् वह अवस्था आती है जब होठों से स्मरण की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। उसका स्थान वे तन्मय अनुभूतियाँ ले लेती हैं, जिनको संत अजपा जाप के नाम से पुकारते हैं। इसके लिए जिह्वा अथवा माला की आवश्यकता नहीं होती, इसमें स्वयं आत्मा में आन्दोलन आवश्यक होता है तथा आत्मानुभूति के द्वारा ही अपने अन्तर में निवास करने वाली अलौकिक सत्ता के प्रत्यक्ष दर्शन तथा स्पर्श का अनुभव होता है। जब आत्मानुभूति की मादकता से मन ओतप्रोत हो जाता है तब मुँह से निकले हुए शब्दों की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है। जब प्रेम आत्मा तथा हृदय में व्याप्त हो जाता है, तो प्रेमी के यशःज्ञान के निमित्त एक-एक रोम मुख के समान हो जाता है।

जब यह अवस्था चिरस्थायी तथा अनिवार्य बनकर जीवन के मूल तत्त्व तथा प्रेरणा का रूप धारण कर लेती है तब समय के शब्द का अलौकिक संगीत उसके कर्ण-कुहरों में गूँज जाता है, और उसे अनुभव होता है कि यद्यपि उसने ब्रह्म को भुला दिया था, पर ब्रह्म ने उसको कभी नहीं भुलाया। दादू ने इस अवस्था का वर्णन बहुत सुन्दर शब्दों में किया है—

प्रीति जो लागी घुल गई, बैठ गई मन माँहि।
रोम-रोम पिंड-पिंड करै, मुख की सरधा नाँहि॥

तदनन्तर, अन्ततः अलौकिक स्मरण स्मरणमात्र नहीं रह जाता। आत्मा ब्रह्म की उस सत्ता में लय हो जाती है जिसे साधक अब अपने ही जीवन तथा शरीर का एक अंग समझने लगता है। इसको निर्गुणी लौ के नाम से जानता है।

अजपा जाप इस प्रकार निर्गुण साधना का मुख्य अंग होने के कारण सभी संत कवियों का वर्ण्य-विषय रहा है। सहजो तथा दया दोनों ने ही नाम-स्मरण तथा अजपा जाप की मनःस्थिति की मादकता पर सुन्दर रचनाएँ की हैं।

अजपा का अंग—अजपा निर्गुण साधना का वह सोपान है, जिस पर पहुँचकर आत्मा ब्रह्म में इतनी लय हो जाती है कि उसके स्मरण, ध्यान इत्यादि के लिए किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं रह जाती। माला तथा सुमिरनी के साथ अधर और जिह्वा से राम-नाम के उच्चारण की महत्ता भी नहीं रहती, वरन् साधक के रोम-रोम से सतत किसी बाह्य प्रयास के बिना ही उसके उपास्य के नाम का जपन हुआ करता है, इसी कारण उसका नाम अजपा जाप रखा है। अजपा जाप की इस अवस्था की मादक अनुभूति, उद्वेग और विह्वलता का वर्णन दयाबाई ने किया है।

इस वर्णन के विषय-निर्वाह में इतनी परिपक्वता है कि इन दोहों के उनके द्वारा रचित होने में भी सन्देह मालूम होने लगता था।

अजपा के इस अंग में मनःस्थिति की अपेक्षा लक्ष्य-प्राप्ति के पश्चात् की अवस्था का वर्णन प्रधान है। चरणदास गुरु से सोहं स्मरण की दीक्षा पाकर दया ने नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को एकाग्र कर, पद्मासन लगा, अजपा जाप का आयोजन आरम्भ किया। इस जाप के आरम्भ का वर्णन करते हुए वह कहती है—

अर्ध-अर्ध मधि सुरति धरि, जपें जु अजपा जाप।
दया लहै निज धाम कूँ, छुटै सकल संताप॥

इस प्रकार के जाप से ब्रह्मरंध्र में अनहद का सुललित स्वर गुंजरित हो उठता है, और निर्वाण-पद की प्राप्ति होती है—

गगन मध्य मुरली बजै, मैं जु सुनी निज कान।
दया दया गुरुदेव की, परस्यो पद-निर्वाण॥

इस पद की प्राप्ति के पश्चात् जो अलौकिक दृश्य उन्हें दिखाई देते हैं, उनका नैसर्गिक आलोक इन पंक्तियों में व्यक्त है—

बिन दामिनि उजियार अति, बिन घन परत फुहार।
मगन भयो मनुवाँ तहाँ, दया निहार-निहार॥

आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य का पूर्ण और सुन्दर वर्णन देखिये—

चेतन रूपी आत्मा, बसै पिंड ब्रह्मंड।
ना करता ना भोगता, अद्वै अचल अखंड॥

आत्मवासी ब्रह्म की प्राप्ति के लिए दृष्टि की विशालता की आवश्यकता है, साधना की चेष्टा तथा ज्ञान द्वारा उस सूक्ष्म में निहित विराट के दर्शन होते हैं—

घर मठादि में रम रह्यो, रमता राम जु होय।
ज्ञान दृष्टि सूँ देखिये, है आकासवत् सोय॥

दयाबोध की रचना के मूल में चरणदास की प्रेरणा तथा आज्ञा थी। उन्हीं की आज्ञा से इसकी रचना हुई थी, इसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने किया है—

चरनदास की कृपा सूँ, मो मन उठो उमंग।
दयाबोध बरनन कियो, जहँ सुख की उठत तरंग॥

दयाबाई की इस रचना में ज्ञान तथा योग की सम्यक् विवेचना के साथ-साथ काव्य का कोमल पुट भी है। परिमाण में इनकी रचनाएँ सहजो की रचनाओं से कम अवश्य हैं; पर गाम्भीर्य, सौष्ठव तथा विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से दयाबाई के पद अधिक उत्कृष्ट ठहरते हैं। वर्ण्य-विषय दोनों के लगभग एक-से ही हैं। जहाँ सहजो की शैली वर्णनात्मक, शुष्क और पिष्ट-पेष्टित है वहाँ दया की शैली प्रवाहमयी, सरल

तथा काव्यात्मक है। दयाबाई की रचनाएँ काव्य से उतनी दूर नहीं हैं जितनी सहजो की।

विनयमालिका—दयाबाई की बानी का दूसरा अंग है विनयमालिका। इस अंग के रचयिता के विषय में बहुत मतभेद है। इसकी पंक्तियों में दयादास का प्रयोग है, जिससे यह अनुमान किया जाता है कि इसकी लेखिका दयाबाई नहीं, दयादास नाम का व्यक्ति होगा। विनयमालिका तथा दयाबोध के सिद्धान्त में मौलिक अन्तर है। दयाबोध में निर्गुण ब्रह्म की उपासना का वर्णन संत मत के सिद्धान्तों पर आधारित है। विनयमालिका में विष्णु के अनेक अवतारों की कथाओं का वर्णन है। चरणदास जी पर भागवत का प्रभाव था, उन्होंने अपनी साधना में कृष्ण को परम ब्रह्म का रूप मानकर उनसे सम्बन्धित अनेक लीलाओं को ब्रह्म की लीलाएँ माना है। भागवत के कृष्ण और संत मत के ब्रह्म में उनके अनुसार मूलतः कोई अन्तर नहीं है। सहजोबाई के पदों में भी इस प्रकार के आभास यत्र-तत्र मिलते हैं, पर उनके कृष्ण का अस्तित्व ब्रह्म से अलग नहीं है। जहाँ उन्होंने गोविन्द, नारायण इत्यादि का प्रयोग किया है, उसका प्रतिपादन उन्होंने मूलतः ब्रह्म के उसी रूप में किया है जो निर्गुण मत में मान्य थे। चरणदास जी के जन्मोत्सव-वर्णन इत्यादि में कृष्ण-लीलाओं का आभास अवश्य मिल जाता है, पर विष्णु के अनेक अवतारों और राम-कृष्ण की विविध कहानियों पर उनकी आस्था प्रायः लक्षित नहीं होती। परन्तु विनयमालिका के इन दोहों में सगुणोपासना की स्पष्ट छाप है। प्रथम पंक्ति में एक जिज्ञासा है कि तुम्हें क्या कहकर पुकारूँ—

किस विधि रीझत हो प्रभु, का कहि टेरूँ नाथ ?
लहर मेहर जब ही करो, तब ही होउँ सनाथ ॥

इस प्रश्न के उत्तर में उपास्य को अनेक नामों से सम्बोधित करते हुए लेखक ने पन्द्रह दोहों में उनके नामों की गणना की है। उपास्य के रूप में इस प्रकार एक मौलिक अन्तर है जो एक ही कवि के व्यक्तित्व में एक साथ होना असम्भव प्रतीत होता है।

उपासना-पद्धति भी दयाबोध में वर्णित पद्धति से पूर्णतया भिन्न है। जैसा कि नाम से प्रतीत होता है, विनय को ही इसमें प्रधान स्थान प्राप्त है। निर्गुण साधना में विनम्रता और सहनशीलता साधु के चरित्र के प्रधान अंग अवश्य हैं, पर लक्ष्य की प्राप्ति के ये साधन नहीं हैं। विनयमालिका का कवि ईश्वर को उसके विरद का स्मरण दिलाकर अपनी मुक्ति की प्रार्थना करता है। पतित-उधारन भगवान् की कृपा तथा यश की असंख्य कहानियों के स्मरण से उसे अपनी मुक्ति की आशा होती है। भक्ति के उद्‌गार बहुत प्रबल और सुन्दर हैं, उनमें श्रद्धा, याचना, विश्वास और लगन की जो झलक है वह निर्गुण साधना की अपेक्षा सगुण की रागात्मकता के

अधिक निकट है। यद्यपि दयादास भी चरणदास के ही शिष्य थे अतः उपासना के इन दो रूपों की असमता विनयमालिका और दयाबोध के रचयिताओं की एकता में नाम की विभिन्नता द्वारा उत्पन्न सन्देह को पुष्ट कर देते हैं। दयाबोध में अंकित साधना कबीर, दादू और नानक की निराकारोपासना चरणदासी पंथ की कृष्ण-भावना से रंजित है, परन्तु विनयमालिका की साधना में सूर तथा तुलसी के कृष्ण और राम की अनेक लीलाओं के साथ विभिन्न अवतारों से सम्बन्धित अलौकिक कहानियों का विवरण और उन्हीं की शक्ति तथा सामर्थ्य पर मुक्ति की आशा भरी है। उपास्य तथा साधना के रूपांकन में विभिन्नता के अतिरिक्त रचनाओं के बाह्य रूप अर्थात् भाषा तथा शैली में भी काफ़ी अन्तर है। दयाबोध की भाषा में परि-मार्जित पदावली तथा संस्कृत शब्दों का यद्यपि अभाव है, पर भाषा में एक प्रवाह है, उसकी सरलता ही उसकी सुन्दरता है। इस सौन्दर्य में परिष्कार नहीं है, अलंकार नहीं है, केवल कुछ स्थलों पर जहाँ भावावेश का आधिक्य है, भाषा स्वतः ही मार्मिक तथा लचीली हो गई है। उनकी भाषा अलंकारहीन, खुरदुरे वस्त्रों में अपने सरल सौन्दर्य को छिपाये एक ग्राम-बाला के समान है, जिसका सौन्दर्य बिना किसी प्रयास के ही निखरकर फूट नहीं पड़ता तो भी चमक अवश्य जाता है। विनयमालिका की भाषा सरल है, पर उसके सौन्दर्य के परिष्कार के प्रयास स्पष्ट लक्षित होते हैं।

इन विभिन्नताओं के साथ एक साम्य स्पष्ट और प्रधान है। दोनों ही रचनाओं के काव्य की आत्मा शुद्ध और प्रबल है। उपास्य तथा साधना के रूप में मौलिक अन्तर होते हुए भी दोनों की आत्मा में उनके मानस-हृदय का स्पष्ट आभास मिलता है। दयाबोध में आये हुए इस प्रकार के विवरणों का उल्लेख उस प्रकरण में हो चुका है—विनयमालिका का हृदय-पक्ष भी इन पंक्तियों में प्रतिबिम्बित है—

देह धरो संसार में, तेरो कहि सब कोय।
हाँसी होय तो तेरी ही, मेरी कछू न होय॥

प्रेम का यह उपालम्भ कितना विशद और चुटीला है—

बड़े-बड़े पापी अधम, तारन लगी न बार।
पूँजी लगै न कछु अंद की, हे प्रभु हमरी बार॥

परन्तु दयाबोध और विनयमालिका के भाव और भाषा में जो अन्तर स्पष्ट लक्षित होते हैं, उनसे यह पूर्णतया प्रमाणित होता है कि दोनों का लेखक एक व्यक्ति नहीं है। विनयमालिका चरणदास जी के किसी अन्य शिष्य द्वारा प्रणीत प्रतीत होती है, जिस पर चरणदासी सम्प्रदाय के निर्गुण पक्ष की अपेक्षा भागवत धर्म का अधिक प्रभाव पड़ा था। दयाबोध में कवि के नाम का संकेत दयाबाई तथा दया कुँवरि द्वारा हुआ है जब कि विनयमालिका में एक स्थल पर भी इस नाम का उल्लेख नहीं है। हर जगह

केवल दयादास शब्द ही मिलता है। इन आधारों पर यह मानने के लिए विवश हो जाना पड़ता है कि विनयमालिका दयाबाई की रचना नहीं हो सकती। भ्रमवश इस रचना को भी दयाबाई की बानी के अन्तर्गत स्थान दे दिया गया है।

दयाबोध के विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। यद्यपि उनकी रचनाओं का ध्येय प्रचारात्मक ही अधिक था, पर उनमें काव्य का अंश स्वतः आ गया है। परिमाण में उनकी रचनाएँ अधिक नहीं हैं। सहजोबाई की रचनाओं की अपेक्षा उनकी संख्या बहुत कम है, पर विषय के प्रतिपादन, भावों की अभिव्यंजना तथा आत्माभिव्यक्ति में दयाबाई को सहजो से बहुत अधिक सफलता मिली है। प्रेम की विह्वलता और सांसारिक मायाजन्य नैराश्य के जो सुन्दर तथा सजीव चित्र दया ने खींचे हैं, तद्विषयक सहजो द्वारा अंकित चित्र उनके समक्ष बिलकुल निष्प्राण जान पड़ते हैं। प्रचार तथा आत्माभिव्यक्ति, दोनों ही दृष्टियों से निर्गुण सन्तों की बानियों में दयाबाध का विशेष तथा उच्च स्थान रहेगा। उनकी बानी का ओज, उनके प्रेम का माधुर्य और उनके प्रचार की क्षमता अन्य कवियों की रचनाओं से कम नहीं है।

सहजो तथा दयाबाई की काव्य-तुलनात्मक विवेचना

दार्शनिक सिद्धान्त—निर्गुण सम्प्रदाय के विशिष्ट चरणदासी मत के प्रवर्तक श्री चरणदास की ये दो शिष्याएँ निर्गुण मत की अमर कवयित्रियाँ हैं। इन दोनों की ही भावनाओं तथा विचारधाराओं पर इस मत की स्पष्ट छाप है। इस सम्प्रदाय में संतमत तथा भागवत के दार्शनिक सिद्धान्तों का सामंजस्य है। साधना में ज्ञान, योग और प्रेम तीनों की ही प्रधानता है, परन्तु इनके ब्रह्म का रूप निर्गुण मत के निराकार अरूप ब्रह्म की अपेक्षा भागवत धर्म के साकार ब्रह्म की भावना के अधिक निकट है। ब्रह्म की कल्पना में सगुण भावना का आरोपण तो है, पर किसी स्थूल चित्र अथवा मूर्ति-रूप में वह पूज्य नहीं है। सहजोबाई तथा दयाबाई के ब्रह्म में भी निराकार और साकार का सामंजस्य है—सहजो के शब्दों में—

निर्गुण सो सर्गुन भये, भक्त उधारनहार।
सहजो की दंडौत है, ताकूँ बारम्बार॥

कृष्ण के लीलारूप की अपेक्षा विराटरूप उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके निर्गुण ब्रह्म गीता के उपदेशक कृष्ण हैं जिन्होंने घोषणा की थी—

मैं अखण्ड व्यापक सकल, सहज रहा भरपूर।
ज्ञानी पावै निकट ही, मूरख जाने दूर॥

ब्रह्म का मूल रूप निरंजन है जो भक्तों के हेतु, पृथ्वी का भार उतारने के लिए जन्म लेता है। सगुण तथा निर्गुण के इस सामंजस्य का उदाहरण इन पंक्तियों से मिल

सकता है—

नेति-नेति कहि वेद पुकारे। सो अधरन पर मुरली धारे॥
जाकूँ ब्रह्मादिक मुनि ध्यावें। ताहि पूत कहि नन्द बुलावें॥
सिव सनकादिक अन्त न पावै। सो सखियन संग रास रचावै॥
अनन्त लोक मेटै उपजावै। सो मोहन बृजराज कहावै॥
निर्गुन सगुन भेद नहिं दोई। आदि अन्त मधि एकहि होई॥

सृष्टि का प्रत्येक उपकरण ब्रह्म का अंश है, जीव की पृथक् सत्ता नहीं है। हरि अनेक रूपों में प्रकट होता है। जगत् तथा ब्रह्म के सम्बन्ध का रूप विकृत परिणामवाद है। जल जमकर हिम बन जाता है, पर फिर हिम गलकर जल का रूप धारण कर लेता है। जैसे सूर्य तथा उसके आलोक में कोई अन्तर नहीं, उसी प्रकार का सम्बन्ध जीव और ब्रह्म में है। एक वस्तु कारण है दूसरी कार्य, एक अंश है दूसरी अंशी। ब्रह्म तथा जीव में भी कार्य-कारण तथा अंश-अंशी का सम्बन्ध है। सहजोबाई के शब्दों में—

सहजो हरि बहुरंग है, वही प्रगट वहि गूप।
जल पाले में भेद ना, ज्यों सूरज अरु धूप॥

दयाबाई के ब्रह्म का रूप साकार के निकट नहीं है। उनके ब्रह्म का रूप कबीर के सतगुरु के अधिक निकट है। वह गुणातीत निर्गुण अलख निरंजन है, वह सर्वव्यापी है, उसी के सूत्र में बँधी सृष्टि का परिचालन होता है। दया के शब्दों में—

वही एक व्यापक सकल, ज्यों मनिका में डोर।

माला की मणिकाएँ जिस डोर में गुँथी रहती हैं, वही उस माला के अस्तित्व का आधार है। सृष्टि रूपी मनिका की सम्बद्धता तथा नियमन ब्रह्म पर निर्भर है। वह कबीर के सतगुरु के समान उस जगत् का वासी है जहाँ अनन्त भानु की अद्भुत ज्योति का आलोक फैला रहता है। उनका परब्रह्म उस सत्य-लोक का वासी है—

जहाँ काल अरु ज्वाल नहिं, सीत उष्ण नहिं बीर।
दया परसि निज धाम को, पायो भेद गंभीर॥

कवि तथा ब्रह्म के सम्बन्ध-स्थापन के मूल में उन्होंने भी अद्वैतवाद माना है। समस्त सृष्टि जड़ रूप है केवल आत्मा में ही ब्रह्म का चेतन अंश है, इसलिए आत्मा तथा परमात्मा में द्वैतभावना नहीं है। उनके शब्दों में—

चेतन रूपी आतमा, बसै पिंड ब्रह्मंड।
ना करता ना भोगता, अद्वै अचल अखंड॥

जगत् का परिणाम मिथ्या है, तन का सौंदर्य भ्रम है, केवल तू चेतन है, तुझ में लय होने की आत्मानुभूति ही आनन्द रूप है—

जग परनामी है मृषा, तन रूपी भ्रम कूप।
तू चैतन स्वरूप है, अद्भुत आनन्द रूप ॥

ब्रह्म की इस अरूप सत्ता पर सगुण अवतारवाद की छाप बिलकुल नहीं है, परन्तु इस अपार शक्ति की अनुभूति की प्राप्ति चरणदास की शिक्षाओं द्वारा ही हुई है, इसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है।

ब्रह्म और जीव के रूप तथा सम्बन्ध-निरूपण के अतिरिक्त उनकी दार्शनिकता में संसार की नश्वरता का स्थान भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसके चित्र दोनों ने ही बड़े सजीव तथा मार्मिक खींचे हैं। गुरु की महत्ता को दोनों ने ही विशेष स्थान दिया है, उनकी अवस्था और विश्वास की अधिकता ने अनेक बार उन्हें हरि से भी उच्च पदवी पर प्रतिष्ठित कर दिया है। सहजो की साधना पर भी साकारोपासना का यथेष्ट प्रभाव है। जहाँ उनकी रचनाओं में ब्रह्म के सगुण रूप के प्रति उद्गार है, उनमें भक्ति-मार्ग की सभी प्रधान भावनाओं का स्पर्श है, वहाँ पतित-उधारन लाल बिहारी के समक्ष अपने को महान् अवगुणी मानकर एक ओर वह प्रार्थना करती हैं—

तुम गुनवंत मैं औगन भारी।
तुम्हरी ओट खोट बहु कीन्हे, पतित-उधारन लाल बिहारी।

तो दूसरी ओर सूर की भाँति उनके विरद का स्मरण दिलाती हुई कहती हैं—

हमारे औगुन पै नहिं जाओ, तुम्हीं अपना विरद सम्हारो······

विनय के कुछ पदों में यद्यपि सहजोबाई भक्ति-साधना के प्रभाव से प्रभावित जान पड़ती हैं, पर उनकी साधना का मुख्य रूप निर्गुण सम्प्रदाय की मान्य साधना ही है। हृदय की शुद्धि, गुरु की शरण-ग्रहण, और कामनाओं का दमन हरि के प्रेम के मादक रस की प्राप्ति करने के लिए आवश्यक है। जब जीव चंचल मन को स्थिर कर, इन्द्रियों को वश में कर लेता है, तभी वह साधना के अगले सोपानों पर चढ़ने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है। उनकी साधना की रूपरेखा का ज्ञान उनकी इन पंक्तियों से हो जाता है—

बाबा काया नगर बसावो।
ज्ञान-दृष्टि सूँ घट में देखो, सुरति निरत लौ लावो ॥
पाँच मारि मन बास कर अपने, तीनौं ताप नसावौ।
सत सन्तोष गहौ दृढ़ सेती, दुर्जन मारि भगावौ ॥
सील छिमा धीरज को धारो, अनहद बम्ब बजावो।
पाप बानिया रहन न दीजे, धरम बजार लगायो ॥

दयाबाई की उपासना में योग और ज्ञान-तत्त्व प्रधान है। योग नाम-स्मरण से आरम्भ होकर अनहद नाद तथा ज्योति-दर्शन पर समाप्त होता है। अहर्निश नाम-

स्मरण योग का प्रथम सोपान है। उसके पश्चात् नासिका के अग्रभाग पर ध्यान एकाग्र करना, पद्मासन का अभ्यास करना, प्राणायाम, त्रिकुटि पर ध्यान स्थित करना इत्यादि अनेक सोपान आते हैं, फिर अन्त में वह स्थिति आती है जब हृदय के अणु-अणु तथा रोम-रोम से राम के नाम का जाप हुआ करता है। इसी को अजपा जाप कहते हैं। जब मन की यह अवस्था हो जाती है तब वह सांसारिक वासनाओं की ओर से अपंग हो जाता है और तभी जीव ब्रह्मरन्ध्र में होने वाले अनहद संगीत को सुनकर निर्वाण-पद प्राप्त करता है। साधना के इस रूप के अतिरिक्त दयाबाई की साधना में और कुछ नहीं है।

सहजो की साधना में अजपा जाप यद्यपि प्रधान है, पर भागवत धर्म का व्याप्त प्रभाव उन पर है। इसी कारण भावना का पुट भी उनकी साधना में मिलता है।

साधना तथा ब्रह्म के इस तुलनात्मक विवरण से यह स्पष्ट है कि दयाबाई पर संत-परम्परा का ही प्रभाव था; चरणदासी सम्प्रदाय का दूसरा पक्ष जिसका सम्बन्ध कृष्ण रूप ब्रह्म और प्रेम-भक्ति-साधना से था, उन्होंने बिलकुल ग्रहण नहीं किया। उनके उपास्य का रूप संतमत परम्परा में मान्य निराकार है तथा साधना में योग तथा प्रेम द्वारा प्राप्त ज्ञान मुख्य है। सहजो परब्रह्म के अवतारी रूप और निर्गुण रूप का समाधान दोनों को एक में मिलाकर कर देती है। साधना पर भी सगुण भक्ति का प्रभाव अधिक नहीं तो नगण्य भी नहीं कहा जा सकता।

ब्रह्म का रूप-निरूपण, उससे जीव तथा जड़-जगत् से सम्बन्ध-स्थापन इत्यादि दार्शनिक विवेचनाओं का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, हृदय से नहीं। स्त्री में अनुभूति प्रधान होती है, बौद्धिक विश्लेषण के तर्क उसके जीवन तथा स्वभाव से दूर हैं, पर इन दोनों की विवेचनाएँ पूर्ण हैं। भावनाओं की सरसता में इन विषयों की शुष्कता यद्यपि छिप नहीं सकी है, पर ये नीरस विषय ही उनके जीवन के प्रेरक थे। लौकिक भावना-शून्य उनके काव्य में दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन इतनी योग्यता से किया गया है कि यौगिक और ज्ञान सम्बन्धी जटिल विवेचनाओं का उनके नारी-हृदय के साथ समन्वय देख आश्चर्य होता है। भावनाओं और अनुभूतियों की विभूति, जो नारी की जन्मजात् शक्ति मानी जाती है, उनकी रचनाओं में अवसर पाकर भी नहीं विकसित हो सकी है, और दार्शनिक सिद्धान्तों के बौद्धिक प्रतिपादन में उनकी पूर्ण सफलता नारी-हृदय की भावनाओं के इतिहास का एक अपवाद पृष्ठ-सा प्रतीत होता है।

काव्य तथा कलापक्ष—निर्गुण धारा के संत कवि उपदेशक तथा प्रचारक अधिक थे, यह सत्य है; किन्तु संतमत में विरहानुभूति तथा मिलन-उत्कंठा इत्यादि की शृंगारिक अनुभूतियों का भी अभाव नहीं है, जिनमें भावपक्ष ही प्रधान है। निर्गुण काव्य में अनुभूतियों की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति इन्हीं प्रसंगों में मिलती है। अनेक संतों की विरह

विह्वलता तथा अन्य अनुभूतियों की तीव्रता की अभिव्यक्ति में कला के अभाव में भी भावनाएँ काव्य बन गई हैं। प्रियतम में लय हो जाने को उत्कंठित नववधू, मृत्यु रूपी दूती का सम्वाद पा डोली सजाकर प्रियमिलन के लिए प्रयाण करने वाली आत्मा, संसार की नश्वरता इत्यादि के अनेक ऐसे प्रसंग हैं जहाँ अनुभूतियों का ही प्राधान्य है तथा जिनमें काव्य की शुद्ध आत्मा के दर्शन होते हैं। सहजो तथा दयाबाई की रचनाओं में काव्य का भाव पक्ष सर्वथा गौण है। सहजोबाई के गुरु के प्रति लिखे गये पदों में आस्था की सच्चाई अवश्य है, पर अनुभूति की तीव्रता नहीं; केवल चरणदासी मत में मान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन और प्रचार ही प्रधान है। प्रेम के प्रसंग में मधुर भावना का पूर्णतया अभाव है, हाँ व्यंग्य और उपहास की सजीवता तथा सांसारिक नश्वरता में वीभत्स की रसानुभूति उत्पन्न करने में वह अवश्य सफल हो सकी हैं। निर्वेद भावना की अभिव्यक्ति उनके उपदेश, चेतावनी, जगत् की नश्वरता आदि के चित्रण में पर्याप्त सफलता से हुई है। इस प्रकार उनके काव्य में दो रसों की सृष्टि हुई है—(१) शान्त (२) वीभत्स। चरणदास जी की लीला-वर्णन में उनके जन्मोत्सव के गीत गाते हुए, वात्सल्य-भावना दिखाई देती है। पर वात्सल्य की अपेक्षा उन गीतों में निष्ठा अधिक है। गुरु की बाल कल्पना उन्होंने केवल उनकी कीर्ति और लीला गान के लिए ही की थी, इन अतिशयोक्तियों का ध्येय प्रचार ही अधिक मालूम होता है।

मानव-जीवन की पीड़न तथा वेदना-जन्य कटुताओं की प्रतिक्रिया लौकिक के प्रति उपेक्षा तथा आध्यात्मिकता के प्रति अनुराग में होती है, और इस प्रकार अस्थिर मन की चंचलता निर्वेद की शान्ति में परिणित हो जाती है। रसानुभूति की सृष्टि करने के ध्येय से ये रचनाएँ लिखी नहीं गई, परन्तु इस प्रकार की भावुक स्थितियों में साधारण भाव भी काव्य की सरसता प्राप्त कर लेते हैं, सहजो के काव्य में ऐसा कम हुआ है।

काव्य तत्व सहजो की अपेक्षा दयाबाई में बहुत अधिक हैं। प्रेम के अंग जैसे विषयों पर भी सहजो निर्गुण की नीरसता हटाने में असमर्थ रही है, पर दयाबाई की तद्विषयक रचनाओं का भावपक्ष अत्यन्त प्रबल है। परम्परागत आलंकारिक रूढ़ियों और सप्रयास कला के अभाव में भी स्वाभाविक बन पड़ी है। काग उड़ाती हुई, आशा और निराशा के पलों की उत्सुकता में, प्रियतम की प्रतीक्षा में नयन बिछाये एक बिरहिणी के इस चित्र की भावुकता अनुपम परन्तु सजीव है

काग उड़ावत थके कर, नैन निहारत बाट।
प्रेम सिन्ध में पर्‌यो मन, ना निकसन को घाट॥

अलौकिक प्रेम की मधुर अनुभूति की अभिव्यक्ति में जिस प्रकार मीरा गा

उठी थी—

घायल की गति घायल जाने, की जिन घायल होइ।

उसी प्रकार प्रेम की पीर से आक्रान्त हृदय की टीस व्यक्त करते हुए वह कहती हैं—

पंथ प्रेम को अटपटो कोइय न जानत बीर।
कै मन जानत आपनो कै लागी जेहि पीर॥

इस प्रकार प्रेम-वियोग से विक्षिप्त इस विरहिणी का चित्र अनलंकृत होते हुए भी कितना सजीव तथा चित्रोपम है।

बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवैं केहि ओर।
छिन उठूं छिन गिर परूँ, राम दुखी मन मोर॥

वैराग्य के अंग में जगत् की नश्वरता के चित्र हैं अवश्य, पर सहजो के वीभत्स चित्रों के समान यह मन में विकलन नहीं उत्पन्न करते। संसार की नश्वरता के चित्रों को ये स्पर्श तो नहीं कर पाये हैं पर उनसे अधिक दूर नहीं हैं। सांसारिक वैभव और ऐश्वर्य की नश्वरता उनके इन स्वरों में सजीव हो उठती है—

असु गज अरु कंचन दया, जोरे लाख करोर।
हाथ झाड़ रीते गये, भयो काल को जोर॥

इस प्रकार सहजो में जहाँ वीभत्स, शान्त और कुछ माधुर्य रस का प्रवाह है वहाँ दयाबाई की रचनाओं में उत्कृष्ट माधुर्य और सफल निर्वेद व्यक्त है। दयाबाई का भावपक्ष सहजो से निस्सन्देह समृद्ध है।

इनके काव्य के कलापक्ष पर विचार करना किसी अनगढ़ कुम्हार के बनाये हुए पात्रों में लखनऊ के कला-कौशल को ढूँढ़ने का असफल और उपहासप्रद प्रयास होगा। काव्य-साधना इनका ध्येय नहीं था, कविता तो उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति और प्रचार के लिए एक साधनमात्र थी, इसलिए अलंकारों की सुषमा और छन्दों का लय उनके काव्य में नहीं मिलता, जहाँ भावनाएँ सजाव हैं, वे स्वयं काव्य बन गई हैं, सीधी साधारण भावनाओं को अलंकार और छन्द में आवेष्ठित कर आकर्षक बनाना न उनका ध्येय था और न इसकी उनमें क्षमता थी। सीधी-सादी एक-आध उपमायें संसार की नश्वरता के वर्णन में उन्होंने दे दी हैं, जो विचार की अभिव्यक्ति में पर्याप्त सहायक हुई हैं। दयाबाई का एक दोहा इसके उदाहरण रूप में लिया जा सकता है—

जैसो मोती ओस को, तैसो यह संसार।
बिनसि जाय छिन एक में, दया प्रभू उर धार॥

इसी प्रकार सहजोबाई का एक दोहा भी इसके उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। लेकिन इस प्रकार के दोहे उनके काव्य में अपवाद रूप में ही मिलते हैं—

जगत तरैया भोर की, सहजो ठहरत नाँहि ।
जैसे मोती ओस को, पानी अंजुलि माँहि ।।

क्षणभंगुरता के व्यक्त करने वाले ये तीन उपमान उनकी सबल अभिव्यक्ति का प्रमाण देते हैं।

दोनों ही साधिकाओं ने अधिकतर दोहा छंद का ही प्रयोग किया है। इस साधारण छंद के प्रयोग में भी अनेक स्थानों पर छंदभंग दोष मिलता है। सहजोबाई ने कुंडलिया छंदों तथा मुक्तक पदों में भी रचना की है।

दयाबाई तथा सहजोबाई की इस तुलनात्मक विवेचना से यह प्रमाणित होता है कि सहजो की रचनाएँ यद्यपि प्रचारात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण और मात्रा में अधिक हैं, उनकी अभिव्यंजना-शक्ति भी प्रौढ़ और सबल है, पर काव्य-तत्व उनमें दयाबाई से कम है। दया की रचनाओं का सम्पूर्ण महत्व उनकी आत्मानुभूति की सरस अभिव्यक्ति पर है। सहजो की अभिव्यंजना दृढ़ और सबल है, दया की भावुक और मार्मिक; सहजो के व्यक्तित्व में क्रियात्मकता और प्रौढ़ता है, दया में कोमलता और भावुकता। दोनों ही निर्गुण मत की अमर साधिकाएँ हैं।

इन्द्रामती—इन्द्रामती श्री प्राणनाथ जी की परिणीता थीं जिन्होंने अपने पति के स्वर में स्वर मिलाकर उन्हें अपने मत के प्रचार में पूर्ण सहयोग दिया। प्राणनाथ धामी पंथ के प्रवर्तक थे। विक्रम की सत्रहवीं शती के लगभग जब ईसाई भारतवर्ष में आये तो निर्गुण सम्प्रदाय के संतों ने उन्हें अपनाकर अपने औदार्य का परिचय दिया। पन्ना-निवासी प्राणनाथ ने धामी सम्प्रदाय की स्थापना की जिसमें स्पष्ट रूप से हिन्दू, मुसलमानों और ईसाइयों को एक घोषित किया। इस पंथ के सिद्धान्तों के अनुसार जनता में धर्म के नाम पर विभाजन और द्वेष की भावना का प्रचार मिथ्या और झूठ है। प्राणनाथ एक पहुँचे हुए साधु माने जाते हैं। यहाँ तक कहा जाता है कि उन्होंने पन्ना-नरेश छत्रसाल के लिए हीरे की खान का पता लगवाया था। श्री बड़थ्वाल जी ने हीरे की खान से भगवद्भक्ति की खान का तात्पर्य निकाला है। धामी पंथ का प्रधान उद्देश्य भगवान के धाम की प्राप्ति है। इस पंथ के द्वारा उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों में प्रेम और सद्भावना का प्रचार किया। इसके साथ-साथ उन्होंने अपने आपको मेहदी, मसीहा और कल्कि एक साथ घोषित किया। मालूम होता है कि उन्हें अपने व्यक्तित्व के प्रभाव पर बहुत विश्वास था, इस महत्वाकांक्षी पुरुष की पत्नी का स्वर भी उनके स्वर के साथ मिला हुआ है। उनके स्वर का कोमलत्व और माधुर्य उनके पति की अहमन्यता को दबाता हुआ प्रतीत होता है।

धामी पंथ के बृहद् ग्रंथ में इन्द्रामती के रचे हुए बहुत से अंश हैं। ग्रंथ की

हस्तलिखित प्रति के ऊपर के पृष्ठ कुछ खंडित हैं, इस कारण उसका नाम ज्ञात नहीं होता। पर उसमें जो छोटे-छोटे ग्रंथ सम्मिलित हैं उन सबमें विभिन्न धर्मों, विशेषकर हिन्दू और इस्लाम धर्म में एकत्व दिखलाने का प्रयास किया गया है और आश्चर्य तो यह होता है कि लगभग प्रत्येक ग्रंथ में इन्द्रामती की लिखी हुई कविताएँ सम्मिलित हैं। भिन्न-भिन्न शीर्षक देकर उन्होंने सम्पूर्ण ग्रंथ का विभाजन कर दिया है।

प्राणनाथ और पन्ना-नरेश छत्रसाल सम-सामयिक थे। छत्रसाल का जन्म सन् १६४६ और मृत्यु सन् १७२६ माना जाता है। इन्द्रामती के समय के अनुमान में इस प्रकार कोई कठिनाई नहीं पड़ती।

धामी मत के और भी ग्रंथ हैं जो केवल प्राणनाथ के ही लिखे हुए हैं। अभी तक केवल एक पदावली ही दोनों की संयुक्त रचना मानी जाती थी, पर नागरी प्रचारिणी सभा की अप्रकाशित रिपोर्टों की हस्तलिखित प्रतियों के देखने पर प्राणनाथ और इन्द्रामती की बारह से भी अधिक संयुक्त रचनाएँ मिलीं जिन सबका संकलन इस वृहद् ग्रंथ में है।

इस विशालकाय ग्रंथ में संकलित पहला ग्रंथ है :

किताब जम्बूर—इसमें ११२ पद हैं। इस ग्रंथ में हिन्दू धर्म के किसी विशेष सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन नहीं है बल्कि अनेक सम्प्रदायों पर आंशिक प्रकाश डाला गया है। सर्वप्रथम भागवत के दशम स्कन्ध की कथा है जिसमें ब्रज में कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन है, कई स्थलों पर कृष्ण के स्थान पर विष्णु शब्द का प्रयोग किया है, तत्पश्चात् वैष्णव मत की संक्षिप्त विवेचना तथा निगमागम सम्मत निर्गुण ब्रह्म के रूप की भी विवेचना है। ग्रंथ ६ भागों में विभाजित है—

१. लक्ष्मी जी के दृष्टांत।
२. वेदवाणी।
३. दूध-पानी का बेवरा।
४. श्री भागवंत को सार।
५ षट पुष्ट मरजाद।
६. परगट बानी।

इन सभी विभागों में एक ही काव्य-पद्धति मिलती है और यह पद्धति है रागबद्ध मुक्तक पदों की। बीच-बीच में चौपाइयाँ भी हैं लेकिन उनमें छंद-भंग दोष बहुत आ गया है। पहले सर्ग में विष्णु और लक्ष्मी का सम्वाद है जिसमें राधा-कृष्ण के रूप की छाया मिलती है।

२. वेदवाणी योग, ज्ञान तथा निर्गुण ब्रह्म की विवेचना है। ईश्वर की असीम शक्ति की स्थापना ही जिसका मुख्य ध्येय प्रतीत होता है। धामी मत के

प्रवर्तक पर पूर्ण विश्वास और आस्था व्यक्त करते हुए उन्होंने अनेक पद लिखे हैं जिसमें यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि धामी पंथ का आश्रय लेने वाले व्यक्ति को ईश्वर से मिलन का अवसर बहुत आसानी से मिल जाता है । इसी बात का संकेत करती हुई वह लिखती है—

तू न भूल इन्द्रावती

ऐसा समया पाये ॥ तू ले धनी अपना ॥ और जिन दिषाये ॥ तो ही यों धनी के बाम लसी ॥ पहिचान ले सुहाग ऐसी एकांत कब पायेगी ॥ मेहेर करी महबूब ॥ करके संग मिलाप आषां षोल के ढांपिये जिन चूकिये इतनी बेर ॥ रात-दिन तेरे राज का सूत कात सवा सेर ॥

३. दूध पानी का बेवरा नामक सर्ग में निर्गुण और सगुण दोनों मतों के साधनों की अपेक्षा साध्य की एकता का निर्देशन किया गया है। मन की स्वच्छता और बाह्याडम्बर की तुलना का नाम दूध पानी का विवरण दिया है ।

४. श्री भागवंत को सार—इस सर्ग में श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का सार पदों की मुक्तक शैली में वर्णित है । कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन प्रधान है ।

५. षट पुष्ट मरजाद पत्र—इस सर्ग के दो-तीन पृष्ठ बीच से जीर्णावस्था में हैं। अतः किसी क्रमबद्ध विषय के संकेत और निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, पर यत्र-तत्र बिखरे हुए दो-चार पदों में ज्ञान और योग के सिद्धान्तों का मुख्य विवेचन है। माया जीव और सुरत इत्यादि का उल्लेख अपने पुराने रूप में इन्द्रामती के नये शब्दों के आवरण में उल्लेखनीय हैं।

६. परगट बानी नामक सर्ग में प्राणनाथ जी को साकार ईश्वर तथा निर्गुण ब्रह्म का प्रतिनिधि मानकर उनके मत का प्रचार और प्रतिपादन है, जिसका द्वार मानवमात्र के लिए खुला है ।

षट रुत—जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है इसमें षट ऋतुओं का वर्णन है। वियोग शृंगार प्रधान है । बारहमासा और षटऋतु वर्णन उस काल के काव्य के एक मुख्य अंग बन रहे थे। यहाँ तक कि आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध स्थापन में भी प्रकृति के यह परिवर्तन उद्दीपन रूप में आये हैं । यह सम्पूर्ण ग्रंथ इन्द्रामती का लिखा हुआ है। प्रायः सभी पदों की अन्तिम पंक्ति में उनके नाम का निर्देश मिलता है। इन पदों का आकार सामान्य मुक्तक पदों से बड़ा है। एक पद में लगभग २० से भी अधिक पंक्तियाँ हैं, आरम्भ से अन्त तक भाव लौकिक हैं पर कहीं-कहीं पर अनुभूति की तीव्रता और वातावरण की अलौकिकता उसमें सूफी पुट का आभास देने लगती है । उनकी विरहिणी आत्मा और प्रियतम परम शक्ति

के प्रतीक ज्ञात होते हैं। समय और ऋतु के रागों के अनुसार ही प्रत्येक ऋतु पर लिखे हुए पद संगीत और काव्य दो कलाओं का एक सूत्र में पिरोले जान पड़ते हैं।

षट ऋतु नो कलस—यद्यपि षटऋतु से अलग यह स्वतन्त्र ग्रंथ है, पर विषय और भाव वही हैं, भावों की अनुभूति तीव्रतर है। इस कलश में गोकुल में कृष्ण की अनेक किशोर लीलाओं के बाद उनके मथुरा चले जाने पर उनके वियोग का चित्रण है, इस प्रकार इसमें केवल वियोग ही नहीं संयोग श्रृंगार का वर्णन भी मिलता है। प्रेम के दोनों पक्ष की अनेक अवस्थाओं का वर्णन है। इस वर्णन में चेष्टाएँ ही प्रधान हैं। सूक्ष्म भावों तथा अवस्थाओं के चित्रण की अपेक्षा रीतिकालीन छाप लिये हुए शारीरिक चेष्टाएँ ही अधिक दिखाई देती हैं। शृंगार में लौकिकता की ही पूर्ण छाप है। संयोग की अपेक्षा वियोग के चित्रण में चमत्कार और भाव प्रवरता दोनों ही उच्चतर हैं।

इस ग्रंथ की रचना के विषय में प्राणनाथ जी ने जो कुछ लिखा है उससे प्रतीत होता है यह सम्पूर्ण ग्रंथ इन्द्रामती का ही लिखा हुआ है। साथ के सुख के कारण, सहयोगी बना इन्द्रामती को जो कुछ उन्होंने बताया उसीको इन्द्रामती ने काव्य रूप दे दिया। वे लिखते हैं—

साथ के सुख कारने इन्द्रामती को मैं कह्या।
ता थें मुख इन्द्रामती से स्रवण कर भया॥

बारहमासी—यह विप्रलम्भ शृंगार का एक सुन्दर सर्ग है जिसमें श्याम को सम्बोधित करके विरहिणी अपनी विरह-दशा का वर्णन करती है। प्रसिद्ध उपमानों का आश्रय लेकर, पुराने उद्दीपनों से उनको संवारकर अपनी भावनाओं को काव्य रूप दिया है। अनुभूतियों का यद्यपि बिलकुल अभाव नहीं है पर वियोग का प्रभाव हृदय की अपेक्षा शरीर पर अधिक गम्भीरता से व्याप्त दृष्टिगत् होता है। वर्षा में किशोरियाँ प्रियतम के स्नेह से सिक्त शृंगार के आनन्द और उल्लास में डूब रही हैं पर बेचारी विरहिणी दूसरों की सुखराशि तथा प्रकृति के प्रहार से अपनी असमर्थता के बीच पुकार उठती है—

हूँ तो बाला जी बिना
सोभा लिये वणराय, रुचे बरस्यां मेघ।
तेडीं मीडयो अंगनाये, घर आय कियो शृंगार।
...............ऐ नीर तेरे आधार
छेम दीजिए।
ए ने बचण इन्द्रामती अंग बाला तेडी लीजिए।

इस प्रकार बसन्त के सौरभ में अपने अंग का सौरभ जोड़ देने के लिए मानों युवतियाँ चोवा, चंदन और अरगजा लेपन करती हैं, परन्तु विरहिणी अपने सुरंग बाला जी के अभाव में तड़पकर दिन बिताती है।

किताब तोरेत—प्रकरण के नाम की विचित्रता होते हुए भी कुछ ऐसी वस्तु उसमें नहीं मिलती जिससे इस नाम को समझने पर कुछ प्रकाश पड़ सके। प्रेम-तत्व जैसे दूसरे प्रकरणों में प्रधान है वैसे ही इसमें भी। वियोग में मिलन की प्रतीक्षा, तत्कालीन विह्वलता में अनुभूतियों का जितना सूक्ष्म और मार्मिक चित्रण इसमें है, तद्विषयक दूसरे ग्रंथों में नहीं। विप्रलम्भ की कुछ पंक्तियाँ तो बड़े भावुक कवियों से भी टक्कर लेने की क्षमता रखती हैं। यद्यपि उनके समय तक उर्दू की वेदनात्मक शैली की अपेक्षा शृंगार संचारी और उद्दीपन की सीमा में जकड़ा हुआ आता था पर उनके काव्य में आई हुई विरह की तीव्र अनुभूतियों का अनुमान इस प्रकार की पंक्तियों से लगाया जा सकता है—

सब तन विरहे खाइया, गल गया लोहू माँस।
न आवे अंदर-बाहर, या विधि सूकत साँस॥

तथा

हाड़ भयो सब लकड़ी, सर श्री फल विरह अगिन।
मांस मीज लोहू रंगा, या विधि होत हवन॥

वेदना और पीड़ा की यह सीमा तीव्र अनुभूतियों के क्षेत्र में ही बनाई जा सकती है। केवल वाह्याडम्बर उसके लिए आधार प्रदान करने की क्षमता नहीं रखता।

संनधे—इस प्रकरण में इस्लाम के सिद्धान्तों का विशद विवेचन है। इस्लाम से सम्बन्ध रखने वाले जितने ग्रंथ हैं उन सभी में फ़ारसी शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। पद-विन्यास और व्याकरण में प्रभाव यद्यपि बुन्देलखंडी है पर शब्दावलि प्रायः विदेशी ही है। सिद्धान्त इस्लाम के और भाषा फ़ारस की होते हुए भी भारतीयता की छाप छिपी नहीं है। प्राणनाथ का नाम उन कतिपय संतों में आता है जिन्होंने यथाशक्ति अनेक धर्म के साधनों को समन्वित कर व्यर्थ वितंडावाद और विषमताओं को मिटाने का प्रयास किया, यही कारण है कि जहाँ हिन्दू धर्म के अनेक मतों के सिद्धान्तों की विवेचना की, वहीं इस्लाम को भी उन्होंने उतनी ही प्रधानता से अपनाया। छन्दों का प्रयोग भी फारसी शैली की ओर अधिक झुका हुआ है। इस्लाम के सिद्धान्तों का विवेचन प्रधान है, पर बीच में हिन्दू धर्म के संक्षिप्त प्रसंग लाकर मानों दोनों को एक सामान्य सूत्र में पिरोने का प्रयास किया है। प्रत्येक प्रकरण के आरम्भ में चाहे वह हिन्दू धर्म से सम्बन्धित हो चाहे मुस्लिम, निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं—

निज नाम श्री कृष्ण जी, आदि अछिरातीत ।
सो तो अब जाहिर भये, सब विधिवता सहीत ।।

इस ग्रंथ में एकेश्वरवाद और सूफी मत का प्रभाव अधिक लक्षित होता है, प्रेमतत्व प्रधान है। संनधो के आरम्भ में हिन्दू और मुसलमान धर्म की सामान्यमान्यताओं को जोड़ने का प्रयास है। इन्द्रामती के शब्द भी अपने पति का समर्थन करते हुए सुनाई देते हैं। रचना की चर्चा करते हुए वह कहती है—

श्री किताब कुरान श्री सन्नध।
असराफी लेखुस अवाज से, कुरान को गाया है।
अपनी सुरत पर जाहिर हुई मैं ।।

तिनकी ये सन्धे······
ये आषर महमद मेहदी ले उतरे सो लिखी है ।।

कीर्तन—इस प्रकरण के अधिकतर पद इन्द्रामती के ही लिखे हुए हैं। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हिन्दू धर्म से सम्बन्धित प्रकरणों में उनका मुख्य हाथ है। कीर्तन के आरम्भ में आत्मरोगों का वर्णन है और उसके उपचार के लिए ज्ञान, प्रेम और योग का निर्देशन है। प्रेमतत्त्व की प्रधानता है। माया, वासना और मोह त्याज्य हैं। कीर्तन के सभी पद गेय मुक्तक शैली में हैं और राग-रागनियों में बद्ध हैं।

खुलासा फुरमान—इस प्रकरण में इस्लाम के मूल सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन है। इस्लाम विषयक दूसरे ग्रंथों की भाँति इसमें भी उर्दू और फ़ारसी की शब्दावली ही अधिक है। इन ग्रंथों की रचना में यद्यपि प्राणनाथ जी का ही हाथ अधिक है, पर इन्द्रामती का भी पूर्ण सहयोग इसमें है यह उन्हीं की पंक्तियों से सिद्ध होता है—

हौ सैंया फुरमान लाये हम।
× ×
सो कहूँगी जो लिषा कुरान।

तथा—

इन विधि फुरमान फरमावती जाहिर देखती।

क्रिया पदों में स्त्रीलिंग का प्रयोग ही इस बात को सत्य सिद्ध करने के लिए यथेष्ट है।

खिलवत—खिलवत नामक प्रकरण में भी इस्लाम के मूल सिद्धान्तों और विश्वासों का आभास है। हिन्दू और मुसलमान धर्मों के सिद्धान्तों को समन्वित कर एक नये धर्म की स्थापना और उसकी विवेचना है। दोनों धर्मों के परस्पर विरोधी तत्त्वों को छोड़, केवल समान तत्त्वों के समीकरण का प्रयास है। जहाँ हिन्दू धर्म का

प्रसंग है संस्कृत पदावली का प्रयोग है जो पांडित्यपूर्ण भाषा के अधिक निकट आ गई है। पर जहाँ कुरान और इस्लाम के सम्बन्ध में कुछ है वहाँ भाषा फारसी और उर्दू के शब्दों से भरी हुई है। ऐसा ज्ञात होता है कि दोनों ही प्रकार की भाषाओं पर इस दम्पति का पूर्ण अधिकार था। प्राणनाथ बहुभाषा-विज्ञ थे। वह जीवन भर भ्रमण करते रहे। जहाँ भी गये वहाँ की भाषा सीखली तथा अपना ली। वास्तव में इन्द्रामती और प्राणनाथ के इस सुखमय समान स्तर के संकेत से, नारी-जीवन के उस अन्धकार-मय पृष्ठ पर भी उसका अस्तित्व मुस्कराता जान पड़ता है।

परिक्रमा—इस प्रकरण में भी हिन्दू और इस्लाम धर्म के मूल तत्वों की तुलना द्वारा दोनों की विरोधी सत्ता का निराकरण और समानताओं द्वारा समन्वय का प्रयास है। इसमें धामी पंथ का प्रवर्तन तथा प्रधान तत्त्वों की विस्तृत विवेचना है। इस प्रकरण का आकार दूसरे प्रकरणों की अपेक्षा अधिक बड़ा है। भाषा और शैली इस प्रकरण में प्रसंगानुकूल हैं।

आठों सागर—आठ सागर जल सागरों अथवा महासागरों के नहीं हैं वरन् अपने विचारों और भावनाओं के असीम सागर को उन्होंने छोटे-छोटे भागों में विभक्त कर दिया है। कुछ तरंगों में जहाँ नूर और नूहों का वर्णन है वहीं कुछ में श्री राजाजी के शृंगार के नाम से राधा और कृष्ण का शृंगार-वर्णन भी है। इस्लाम की विवेचना सम्पूर्णतः प्राणनाथ जी द्वारा रचित ज्ञात होती है पर राधा जी और कृष्ण का शृंगार-वर्णन इन्द्रामती का लिखा हुआ है।

इस प्रकरण के उस भाग में जहाँ श्री जुगलकिशोर जी का शृंगार वर्णित है। इन्द्रामती का अधिक सहयोग दिखाई देता है। इस शृंगार को उन्होंने दो भागों बाँटा है एक तो केवल ठकुरानी राधा जी का शृंगार और दूसरा युगल दम्पति अथवा साथ का शृंगार।

कुछ सागरों में इस्लाम के छोटे-छोटे सिद्धान्तों को विस्तृत रूप देकर उनकी विवेचना की गई है। इन्द्रामती के नाम से इन पदों में बहुत थोड़े पद मिलते हैं।

कयामत नामा छोटो, कयामत नामा बड़ो और मारफत सागर—यह भी इस्लाम पर लिखित ग्रंथ हैं जिनकी विशेषता भी वही है जो पूर्वलिखित इस्लाम सम्बन्धी ग्रंथों की है। इनमें मोमिन दुनी का वर्णन है। इन ग्रंथों में इन्द्रामती के लिखे हुए अनेक पद हैं।

रामत रहस्य—यह सम्पूर्ण ग्रंथ इन्द्रामती का ही लिखा हुआ है। इसमें कृष्ण की रासलीला का वर्णन है। सूरदास और नन्ददास के वर्णन के माधुर्य और सौष्ठव के समक्ष यद्यपि यह वर्णन पासंग के बराबर भी नहीं ठहरता, न तो उनमें रागात्मक अनुभूतियाँ हैं और न आकर्षक और प्रवाहयुक्त परिधान, परन्तु उस युग की नारी

की परिस्थितियों के प्रकाश में देखने से इस प्रकार की उपेक्षणीय वस्तु भी कुछ महत्त्व-पूर्ण प्रतीत होने लगती है। कृष्ण की मधुर बंशी की तान भी कितनी बेसुरी प्रतीत होती है उनके टकारों का आवरण पहनकर—

मीठे सुरडे बाजडी जेतां जोत वृन्दावन।

ब्रजबालाओं का शृंगार और प्रेम की पराकाष्ठा की मधुर अनुभूतियाँ, विलास का सौंदर्य और चांचल्य इसी प्रकार की शब्दावली में लुप्त होता जान पड़ता है।

उपजावे अति जीवन, नवले सर्वे साजड़ी।
बिलासी विनोद हाँसी खेल, लोपो रंग लाजड़ी॥

पर इस खुरदुरे आवरण को फाड़ यदि उसका अन्तर देखने और समझने का प्रयास करें, तो हमें निराश नहीं होना पड़ता। भावनाओं की पहुँच और सजीवता का हमारे हृदय पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है।

रास के समय हृदय में आवेश का सागर लिए हुए, मिलन और लय की प्रतीक्षा में आतुर विह्वल गोपिकाओं में मानो गति ही गति है कहीं विराम नहीं। जीवन की प्रतीक गति में अपने को डुबाये हुए नवल गोपिकाएँ शृंगारों से सज्जित होकर धीरे-धीरे विनोद और हँसी-खेल में रत हो जाती हैं, इसके प्रारम्भ में जो लज्जा उनके पथ में बाधक बन रही थी उसका रंग लुप्त हो जाता है। यह कल्पना और सजीवता किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नहीं है। जहाँ तक भाषा की माधुरी का प्रश्न है, उसके अभाव का पूर्ण दोष उनका नहीं बुन्देलखंडी भाषा की टकार प्रधानता का भी है।

इस प्रकार इन्द्रामती हिन्दी के उन साधकों में एक साधिका का नाम भी जोड़ती है, जिन्होंने बन्धुत्व की भावना का प्रसार करने तथा अपने मत के सिद्धान्तों की स्थापना और प्रचार के लिए हिन्दी का सहारा लिया था। उस युग में जब धर्म के नाम पर बड़े-से-बड़े अत्याचार और अमानवीय कांड हो रहे थे प्राणनाथ ने अपने धामी पंथ की स्थापना कर पुराने तथा नवागत दोनों ही प्रकार के विधर्मियों के लिए इसका द्वार खोल अपनी उदारता का परिचय दिया। अपने मत के ग्रंथ में उन्होंने हिन्दू और इस्लाम के तत्त्वों को मिलाकर एक नये धर्म का प्रवर्तन किया। हर्ष और आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि इन्द्रामती ने उनके इस कार्य में केवल प्रेरणा और भावना द्वारा ही नहीं बल्कि रचनात्मक और सक्रिय सहयोग देकर उन्हें साहित्य के सृजन में योग दिया जो उस युग की नारी के लिए गौरव और अभिमान की वस्तु है। उनके पदों में परिपक्वता और पूर्णता नहीं है। भाव-सौष्ठव और भाषा पांडित्य की उनमें कमी नहीं है, पर छंद-भंग का दोष इन सब गुणों पर पानी फेर देता है। एक ही पद की पंक्तियों में वर्णों की असम मात्राएँ अतुकान्त पदावली और अशुद्ध तुक सारे

माधुर्य को नष्ट कर देते हैं। संस्कृत और फ़ारसी के शब्द भी इन अशुद्धियों के साथ निरर्थक जान पड़ते हैं। प्राणनाथ के भाषा-ज्ञान से वह अप्रभावित नहीं थीं। पर ऐसा जान पड़ता है कि छंद-ज्ञान या तो उन्हें था ही नहीं या उन्होंने जान-बूझ कर उस ओर ध्यान नहीं दिया। अलंकारों की भी यही दशा है। उनके झंझट में वह पड़ी ही नहीं हैं, जहाँ कहीं भी हम कुछ अलंकारों की ओर संकेत कर सकते हैं वह अपने आप से आये हुए जान पड़ते हैं। भावनाओं की चरम अभिव्यक्ति के साधनमात्र प्रतीत होते हैं। ऐसी अवस्था में वह बहुत स्वाभाविक और सुन्दर भी बन पड़े हैं। अलंकारों का अभाव उनके काव्य में नहीं खटकता, पर उनकी कविता कामिनी की टेढ़ी-मेढ़ी व वक्रगति खटकती है, जिसमें लय और प्रवाह का नाम भी नहीं मिलता, और कहीं-कहीं काव्य नीरस गद्य के समान ज्ञान होने लगता है, जिसमें एक पंक्ति को दूसरी पंक्ति से अलग करने के लिए भी प्रयास करना पड़ता है।

पाँचवाँ अध्याय

कृष्ण काव्य धारा की कवयित्रियाँ

ज्ञान तथा योग के नीरस उपदेशात्मक कथन, शून्य में स्थित अमूर्त्त ब्रह्म तथा हठयोग द्वारा प्रतिपादित शारीरिक नियन्त्रण, यद्यपि जनता की प्रवृत्तियों को भौतिक संघर्ष से हटा आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने में असफल नहीं रहे, पर जीवन के कठोर सत्यों के बीच, उन अमूर्त और जीवन से असम्बद्ध सिद्धान्तों के सहारे ही रह सकना कठिन ही नहीं असम्भव था। निर्गुण साधना की कठोरता में जनता को अपनी विषमताओं का समाधान नहीं मिल सका, क्योंकि उनमें जीवन के आवश्यक तत्त्वों का अभाव था।

निर्गुण पंथी सन्तों ने भौतिक जीवन के नैराश्य का समाधान इन्द्रियों के दमन और कामनाओं के हनन में पाने का प्रयास किया, पर जनता दमन नहीं, वरन् ऐसा आश्रय पाने को आकुल हो रही थी, जहाँ वह अपने मन का अवसाद उँडेल सके, जिसके चरणों में सब कुछ लुटा, वह अपने भौतिक जीवन के अभिशाप को वरदान में परिणित कर सके। उनके सामने जीवन के दो पक्ष थे। एक ओर अनेक झंझटों और नैराश्य से भरा हुआ उनका साधारण अभिशापित गृहस्थ-जीवन तथा दूसरी ओर कंचन तथा कामिनी से दूर ज्ञान और योग का कठोर साधनामय जीवन। एक की असफलताएँ उसके जीवन में अवसाद और वेदना बनकर छा रही थीं तथा दूसरे की कठोरताओं से उसका मन सहम कर रह जाता था। ऐसे युग में वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों पर आधारित कृष्णोपासना उनकी वेदना में उल्लास बनकर समा गयी। राम और कृष्ण के मूर्त्त रूपों ने मानों युगों से भटकते हुए बीहड़ पथ के पथिक को एक समतल तथा सुरम्य भूमि प्रदान की। जनता की भावनाओं को कृष्ण के लीला-रूप में प्रश्रय प्राप्त हुआ। कृष्ण के अनेक स्निग्ध रूपों में उन्हें अपने जीवन की विषमतायें भूलने लगीं। इस परम्परा के कवियों द्वारा चित्रित बाल, किशोर तथा युवक कृष्ण की चपलता, सौन्दर्य तथा लीलाओं ने जनता को मानों वह वस्तु प्रदान की जिसकी आकांक्षा उसकी अन्तरात्मा को युगों से थी।

अनुराग मानव-हृदय का एक प्रबल पक्ष है। अनुराग और साधना का सामंजस्य हो सकता है, पर तादात्म्य नहीं, निर्गुण पंथियों ने हृदय के अनुराग का पूरक मस्तिष्क जन्य साधना को बनाना चाहा और यहीं वे असफल रहे। सगुण भक्तों ने मन की उन वृत्तियों को जो लौकिकता से अनुरक्ति के कारण अतृप्त तथा विक्षिप्त

हो रही थीं, कृष्ण के रूप का आधार देकर उन्हें अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का एक इच्छित आधार प्रदान किया। उन्होंने जनता के समक्ष वह मार्ग रक्खा जिसके द्वारा भौतिक विषयों का ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप से भगवान् में लग जाती है। भक्ति का यही सिद्धान्त दो प्रमुख मार्गों में अग्रसर हुआ। एक ओर मर्यादा पुरुष राम के चरित्र में अनेक आदर्शों की स्थापना कर जनता के सामने उनका भव्य चित्र रक्खा गया तथा दूसरी ओर लीला पुरुष कृष्ण के मनरंजन रूप के अंकन द्वारा जनता को आनन्द की अनुभूति प्रदान की गई। कृष्ण-काव्य परम्परा के कवियों ने भक्ति की व्याख्या तो अधिक नहीं की पर भक्ति की महिमा का वर्णन उन्होंने मुक्त कण्ठ से किया है। कृष्ण-भक्ति की दार्शनिक पृष्ठभूमि तथा सैद्धान्तिक विवेचना से तत्कालीन नारी का परिचय प्रायः नगण्य ही कहा जा सकता है। माया, जीव, ब्रह्म इत्यादि के विषय में जो सूक्ष्म विवेचनाएँ हो रही थीं, उनके पारस्परिक सम्बन्ध स्थापन के सम्बन्ध में जो तर्क-वितर्क चल रहे थे, उनसे उस समय की कूप मंडूक भारतीय नारी परिचित रही होंगी ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता, पर कृष्ण-भक्ति के सिद्धान्त, साधन तथा रूप नारी-हृदय के बहुत निकट थे इसमें कोई संशय नहीं है।

वल्लभाचार्य जी के अनुसार गृहस्थ-जीवन उपासना के मार्ग में बाधक नहीं था, बल्कि उन्होंने गृहस्थ के कर्मों को कृष्ण की इच्छा मानकर उनका पालन करने का आदेश दिया है। कर्म और भक्ति के सामंजस्य से गृहस्थ-जीवन में कृष्ण-भक्ति ने प्रवेश किया। इस प्रकार साधना के प्रथम सोपान पर नारी को दुर्गम घाटी बनने का दुर्भाग्य नहीं प्राप्त हुआ। परिवार के प्रधान सदस्य पुरुष के द्वारा जिसका बीज बोया गया, उसके अंकुर की सीमा केवल उस ही तक सीमित नहीं रही बल्कि उसकी सहधर्मिणी ने भी उस आनन्दानुभूति में भाग बँटाया। इस अंकुर के विकसित रूप में कृष्ण के बाल, किशोर तथा युवारूप को नारी ने अपनी भावनाओं में बहुत निकट पाया, उसका मातृत्व तथा स्त्रीत्व स्वतः ही कृष्ण-भक्ति से सूत्रबद्ध हो गया।

निर्गुण साधना में नारी बाधक थी, क्योंकि वह जीवन थी। उसमें आकर्षण था और गति थी। निर्गुण साधना के आधारभूत तत्त्व जीवन के विपरीत थे। परन्तु कृष्ण-भक्ति में जीवन के तत्त्व विद्यमान थे। कृष्ण के रूप में साधारण तथा विराट का अपूर्व सम्मिलन था। उनके साधारण रूप में पूर्ण मानवीय भावनाओं का आरोपण नैसर्गिक तथा पार्थिव के समन्वित रूप के कारण कृष्ण के प्रति श्रद्धा तथा स्नेह की भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। अलौकिकता के आलोक तथा शक्ति की असीम सत्ता के समक्ष विस्मय तथा श्लाघा से मनुष्य का अहं झुक गया और उनके सहज-सुन्दर बाल तथा किशोर रूप में जीवन की ही झाँकी देख अतुल आत्मीयता तथा

स्नेह ने उन्हें उनके हृदय में आसीन कर दिया। कृष्ण के विराट रूप की अपेक्षा यह मधुर मानवरूप नारी-हृदय के अधिक निकट था। वात्सल्य तथा शृंगार की चरमाभिव्यक्ति के लिए भक्तों को जिस मानसिक आधारभूमि के निर्माण के अगणित प्रयास करने पड़ते थे, नारी को वह प्रकृति से स्वतः ही प्राप्त थी, पर अभिव्यक्ति के उपर्युक्त साधन न पा सकने के कारण यह वरदान उनके जीवन का अभिशाप बन रहा था। मातृ तथा स्त्री-हृदय के उल्लास में उनकी विषमताएँ अवसाद घोल रही थीं, कृष्ण के बालरूप के प्रति उनका आकर्षण स्वाभाविक था, क्योंकि उनकी चपलता तथा सौन्दर्य की अनुभूति मातृ-हृदय के अधिक निकट थी। इसी प्रकार कृष्ण के किशोर रूप में उन्हें अपने बन्दी जीवन में भी आनन्द का कुछ आभास मिला, सामाजिक तथा राजनीतिक विषमताओं ने जिन पर पूर्व अध्यायों में प्रकाश डाला जा चुका है, नारी के जीवन को एक बन्दीगृह से अधिक बना रखा था, उनकी भावनाओं की कुंठा, कृष्ण के नटवर रूप में, उनके चांचल्य और उपद्रवों में कुछ क्षणों के लिए विलीन हो जाती थी। चीरहरण, गोदोहन, गो-रसदान इत्यादि प्रसंगों में उन्हें मुक्ति का आभास मिलता था, कृष्ण का किशोररूप भी उनके लिए सबसे बड़ा आकर्षण था। युवावस्था और वासनाओं का ही एक सम्बन्ध नहीं होता, समवयस्क व्यक्ति में अपनी भावनाओं के अनुकूल रूप और आदर्श के अस्तित्व में एक पुण्य आकर्षण और कोमलता की भावना रहती है, जो उस व्यक्ति के निकट सम्पर्क की आकाँक्षा उत्पन्न कर देती है। मध्यकालीन भारतीय नारी जिसने अपनी भावनाओं की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति का स्वप्न भी न देखा था, जिसके जीवन का सबसे बड़ा आदर्श अन्धविश्वास से युक्त पति-भक्ति ही रह गया था, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक बन्धन को ही जीवन समझती थी, कृष्ण के युवारूप के प्रति आकर्षित न हुई होगी ऐसा कहना नारीत्व का अपमान करना होगा। यह सत्य है कि उस समय पति में ही भगवान् का आरोपण किया जा रहा था, संसार के सब क्षेत्रों से हटकर स्त्री के जीवन की सार्थकता केवल पति-पूजा तक ही सीमित कर दी गई थी, पर भावनाओं के आवेश में बन्धन अपने आप शिथिल पड़ जाते हैं, नियन्त्रण स्वतः ही टूट जाते हैं, और फिर कृष्ण के सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होने म कोई प्रतिबन्ध नहीं, कोई नियन्त्रण नहीं था। इस प्रकार कृष्ण के लीलारूप के अनेक अंग नारी-हृदय के अत्यन्त निकट थे। उनकी नारी भावनाएँ स्वतः ही बालक तथा किशोर कृष्ण के प्रति आकर्षित हो गई थीं।

कृष्ण के उपास्य रूप के इस आकर्षण के अतिरिक्त इस मार्ग की साधनाएँ भी हृदयमूलक थीं। भक्ति-मार्ग में भावना प्रधान थी। इच्छाओं तथा भावनाओं के दमन के आधार पर इसका शिलान्यास नहीं हुआ था। कामनाओं की लौकिक अभि-

व्यक्ति नैराश्यजन्य थी। उस निराशा का समाधान भावनाओं के उन्मूलन द्वारा नहीं वरन् उनका एक अव्यक्त सत्ता में उन्नयन द्वारा किया गया। अविकारी भाव ही नहीं विकारी भावों का तिरोहण भी भगवान् के प्रति करने की व्यवस्था भक्ति मार्ग में की गई। भक्ति की परिभाषा इस प्रकार की गई कि काम, क्रोध, मोह, भय, स्नेह तथा सौहार्द्र की भावनाओं का दमन नहीं नियमन किया गया। कृष्ण के बाल तथा किशोर रूप के साथ भक्ति-मार्ग की भाव प्रधानता नारी-हृदय की वृत्तियों के अनुकूल पड़ी। माधुर्य तथा वात्सल्य दो ऐसी वृत्तियाँ हैं जो प्रकृति की ओर से वरदान स्वरूप नारी को प्राप्त हैं। जिस समर्पण तथा त्याग की साधना भक्तों का ध्येय था, जिन अनुभूतियों की कल्पना भक्तकवि अपने पौरुष की कठोरता में नारी की कोमलता का आरोपण करके कर रहे थे, वह नारी-हृदय की मूल प्रकृति थी। अतः भारतीय नारी के लिए निर्गुण की दुरूह साधना की अनुभूति का अनुमान भी कठिन था। कृष्ण के आकर्षण के साथ ही वात्सल्य तथा प्रेम की अनुभूति की प्रधानता ने नारी को स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित किया। लौकिक जीवन की प्रधान अनुभूतियों के आध्यात्मिक आरोपों में उसे अपने जीवन की ही एक झलक दिखाई दी।

निर्गुण पंथियों ने नारी के प्रति विकर्षण का प्रचार करने के लिए, उसकी गर्हित भर्त्सना की थी, उसके अंग में उन्हें विष की गाँठें दिखाई देती थीं, पर वैष्णव भक्ति में साधना का रूप पूर्णतः इसके विपरीत रहा। भावनाओं के कृष्ण के प्रति उन्नयन में भक्तों को पौरुष की ग्राहक वृत्ति से क्या प्राप्त हो सकता था, भक्ति का मार्ग सेवा और समर्पण का था, स्त्री के समर्पण के अनुकरण द्वारा ही भक्त उस सीमा पर पहुँच सके थे जहाँ उनके तथा उनके उपास्य के बीच के अन्तर की क्षीण रेखा भी शेष न रह गई थी। अपने प्रियतम की उपासना उन्होंने नारी बनकर की। यशोदा के मातृत्व की अनुभूति से सूरदास तथा परमानन्द दास के हृदय से वात्सल्य की अनूठी रसधार फूट पड़ी, राधा बनकर कृष्ण-भक्तों ने कृष्ण के साथ कुँज-विहार किया, गोपिकाओं के रूप में उनके साथ फाग और वसन्त मनाया। उनके हृदय की विरहानुभूतियाँ भ्रमरगीत प्रसंग की आकुलता में बिखर गईं। इस प्रकार कृष्ण-भक्तों ने नारी हृदय के दो प्रधान तत्त्वों का आरोपण अपने में किया। एक तो वात्सल्य और दूसरा प्रेम। इन दोनों भावनाओं की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप इनके प्रतीक रूप में नारियों का चित्रण मुख्य दो रूपों में हुआ है—

१. मातृ रूप।

२. प्रेयसी रूप।

वैष्णव भक्तों के अनुसार यद्यपि विषय-वासना का त्याग अनिवार्य था, वल्लभाचार्य जी के अनुसार भक्त को संसार के विषयों का काया, वचन तथा

मन से त्याग करना आवश्यक है। विषयों से आक्रान्त देह में भगवान का वास नहीं होता, पर विषयों से बचे रहने की रीति निर्गुण सम्प्रदायी साधकों की कष्टसाध्य नीति की भाँति नहीं है, निरोध-लक्षण-ग्रंथ में उन्होंने स्पष्टतः कहा है—अहन्ता ममता युक्त संसार में लग्न दोष वाली इंद्रियों के शुद्ध होने के लिए उन सब सांसारिक विषयों को सर्वत्र व्यापक हरि में लगावे। स्त्रियों के विषम जीवन में साधना का यह रूप मानों उनके लिए वरदान बनकर आया। भक्ति के पुनरुद्धार के साथ भागवत आदि ग्रंथों में प्रतिपादित नवधा भक्ति के अनुसार साधन-क्रम को अपनाया गया। प्रेम भक्ति रस के आस्वादन का दो प्रकार से विभाजन किया गया। (१) स्वरूपानन्द, (२) नाम लीला का आनन्द। दोनों प्रकार के आस्वादन के साधन की पूर्ति नवधा भक्ति में हो जाती थी। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन नवधा भक्ति के अन्तर्गत आने वाले क्रमिक सोपान थे। साधना की प्रथमावस्था के उपकरण श्रवण, कीर्तन और स्मरण भगवान के नाम तथा लीला से विशेषतया सम्बन्धित हैं, तथा अगली तीन का सम्बन्ध उनके रूप से है; और अन्तिम तीन दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन तीन मानसिक स्थितियाँ हैं। श्रवण-भक्ति, कीर्तन-भक्ति तथा स्मरण नन्ददास जी के वर्गीकरण के अनुसार नादमार्गी भक्ति तथा अन्य भक्तियों के रूप मार्गी भक्ति के अन्तर्गत आती हैं।

नाद मार्ग की भक्ति में संगीत का समावेश होता है। संगीत के प्रति नारी की अभिरुचि कोई नई वस्तु नहीं है। कला की प्रेरणा के साथ-साथ नारी कला की साधिका भी रही है, संगीत के विश्वव्यापी प्रभाव से मानव-जगत् तो क्या जड़-जगत् भी वंचित नहीं है। मन की अनेक विकारी तथा चंचल वृत्तियाँ एकाग्र होकर केवल संगीत के माधुर्य में ही केन्द्रीभूत हो जाती हैं। संगीत की इस शक्ति के आकर्षण के कारण कदाचित् इस मधुर कला का प्रयोग आध्यात्मिक साधना में किया गया। संगीत के प्रायः तीनों ही अंगों—गायन, वादन तथा नृत्य को इस मार्ग में स्थान मिला, वरन् यह कहना अनुचित न होगा कि संगीत तथा भक्ति के प्रचार में एक दूसरे का सहयोग समान मात्रा में उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर था। अन्य कलाओं के साथ संगीत की अभिवृद्धि भी स्वाभाविक थी। पर दरबारी संगीत से स्त्रियों को न रुचि हो सकती थी और न उन्हें उसके घनिष्ट सम्पर्क में आने को मिलता था, इस प्रकार जब वे अन्य क्षेत्रों के आनन्द से वंचित थीं, कला के क्षेत्र में भी उनके जीवन की सीमा बाधा बनकर खड़ी थी। ऐसे युग में भक्ति में संकीर्तन को प्रधान स्थान मिलने के कारण कीर्तन के अनेक प्रकार के विशेष स्वर तथा गायन-विधि भक्ति-गायनाचार्यों ने विकसित कर लिये थे, चैतन्य की माधुर्य भक्ति उनके गीतों में फूटकर लोकप्रिय हो रही थी। कृष्ण काव्य में कीर्तन-भक्ति की प्रधानता के कारण संगीत का समावेश अनिवार्य

वार्य था। अतः सम्पूर्ण कृष्ण काव्य में ही गीति तत्त्व की प्रधानता है। यह संगीत, दरबारी सधे हुए राग-रागनियों में बद्ध शास्त्रीय संगीत से भिन्न था। इसकी सरलता और स्वाभाविकता के प्रति स्त्रियों की अभिरुचि स्वाभाविक थी। अतएव कृष्ण काव्य की संगीतात्मकता भी उस काव्य के प्रति स्त्रियों के लिए एक सहज आकर्षण थी।

प्रायः सभी भक्ति-ग्रंथों में भगवान् को सर्वदा सर्वभाव से भजनीय माना गया है। भागवत के रास प्रकरण में इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख है। काम, क्रोध, भय, स्नेह और शुद्धभाव, इनमें से कोई भी भाव भगवान् ही के साथ लगाया जाय, तो भाव लौकिक रूप छोड़कर ईश्वरीय हो जाते हैं।[1] गीता[2] तथा नारद[3] भक्तिसूत्र में भी इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। भक्ति मार्ग के आचार्यों ने विभिन्न मानवीय अनुभूतियों में केवल प्रीति की भावना को ही प्रधानता दी। भक्ति मार्ग में अपनाई गई प्रीति तथा श्रृंगार के स्थायी रति में मूलतः कोई अन्तर नहीं मिलता। मानवीय सम्बन्ध में जहाँ-जहाँ प्रेम की उत्कृष्टता तथा व्यापकता का आभास मिलता है उन सभी सम्बन्धों का आरोपण भक्तों ने भगवान् पर किया है। प्रेम के जितने भी सम्बन्ध हैं उनमें भावों की तीव्रता तथा अनुभूति की गहनता स्त्रियों के हृदय में अधिक होती है, अतः स्त्री-हृदय का भक्ति की भावनाओं के साथ पूर्ण रूप से सामंजस्य स्थापित हो गया। श्री रूप गोस्वामी के अनुसार भक्ति की मूल भावनाएँ शान्ति, प्रीति, प्रेम, वत्सल और मधुर हैं। भक्तिमार्गियों के अनुसार भी वात्सल्य, सख्य, दास्य तथा मधुर भावों में व्यक्त होने वाली रति ही भक्ति थी, इस प्रकार प्रीति की अभिव्यक्ति मुख्यतया चार प्रकार से होती है—

१. दास्य प्रीति।
२. सख्य प्रीति।
३. वात्सल्य प्रीति।
४. माधुर्य प्रीति।

दास्य प्रीति में उत्सर्ग की चरम भावना रहती है। अहं का विनाश होकर जब ईश्वर की शक्ति-सामर्थ्य के सामने साधक की शक्ति विलीन हो जाती है, तभी उसकी साधना सार्थक होती है। दास्य भक्ति के इस विवेचन में नारी के पत्नी रूप का यथेष्ट

---

१. भागवत दशम स्कंध २९वाँ अध्याय श्लो० १५।

२. ये यथा मां प्रपन्द्यते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः। अध्याय ४ श्लोक ११।

३. तदर्पिताखिलाचरः सन् काम क्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्।
सूत्र न० ६५

साम्य है। पति के व्यक्तित्व तथा शक्ति-सामर्थ्य में ही अपना अस्तित्व, अपनी सामर्थ्य तथा अपना सर्वस्व लय कर देना ही उस समय पत्नीत्व की परिभाषा थी। अन्तर केवल इतना था कि भगवान् के प्रति उत्सर्ग के मूल में भावना थी, प्रेम था, और पति के प्रति उत्सर्ग के मूल में कर्त्तव्य प्रधान था और भावना गौण। लौकिक जीवन के बन्धन, चाहे परिस्थितियों ने उन्हें कितना ही अनिवार्य क्यों न बना दिया हो, भावना के क्षेत्र में पूर्ण ग्राह्य नहीं हो सकते। बन्धन बन्धन है, चाहे वह कितने ही चमकीले आवरण से आवेष्ठित क्यों न हों। उत्सर्ग, त्याग या बलिदान के मूल में भावना का प्राधान्य होने पर ही उसका महत्त्व है। भावना के अभाव में उनका उत्सर्ग और बलिदान स्वर्ण शलाकाओं में बन्दी, पंख फड़फड़ाते हुए पक्षी के बलिदान से अधिक नहीं रह जाता, ऐसी स्थिति में भक्ति की दास्य भावना के प्रति उनका अधिक आकर्षण सम्भव नहीं था। लौकिक जीवन में बन्धनों की अप्रियता का निराकरण दास्य भावना अधिक नहीं कर सकती थी। यह नारी के जीवन का अंग बन गया था अवश्य, पर यह उसके जीवन की स्वाभाविकता नहीं विषमता थी। जीवन के वैषम्य के साथ दास्य भक्ति के साम्य द्वारा उत्पन्न विकर्षण चाहे रहा हो, पर साध्य के श्रेष्ठ रूप तथा साधना की भक्ति-मूलक पृष्ठभूमि का आकर्षण भी कम नहीं होगा। भक्ति मार्ग के इस रूप का नारी जीवन और हृदय से पूर्ण सम्बन्ध है अवश्य परन्तु वात्सल्य तथा माधुर्य की भाँति अभेद नहीं।

सख्य प्रीति भक्ति का दूसरा रूप है। इस भक्ति के अनुसार भक्त, भगवान् के प्रति आदर्श मैत्री-भाव रखता है। भागवतकार ने ब्रह्मा द्वारा कृष्ण-स्तुति कराते हुए इस विषय में कहा है—ब्रजवासी नन्दगोप धन्य है जिसका मित्र परमानन्द पूर्ण सनातन ब्रह्म है। यह एक स्मरणीय तथ्य है कि मैत्री के गम्भीर रूप का स्थान इसमें गौण है, जीवन की जटिल समस्याओं में सहायक मैत्री का वर्णन बहुत अल्प है, कृष्ण-भक्तों ने बाल सख्य प्रेम के ही चित्र अधिक खींचे हैं जिनमें निष्काम भक्ति का शुद्ध आनन्दमूलक रूप है। अर्जुन, सुदामा, सुग्रीव इत्यादि की मैत्री तथा भगवान् का प्रेम यद्यपि पूर्णतया उपेक्षित नहीं रहा है, पर बालकृष्ण का सखा भाव ही प्रधान रहा है। सख्य भक्ति के सहज स्वाभाविक रूप में मानव-जीवन की इस कोमल अनुभूति का रूपांकन प्रधान, तथा आध्यात्मिक तत्व आरोपित लगता है। इसका मुख्य कारण है कृष्ण का मधुर मानव रूप, बालक कृष्ण की चपलताएँ, प्रखरबुद्धि, साधारण बालक की चंचलताओं से अभिन्न हैं। बालक का जीवन, नारी के हाथ में है, मातृ हृदय

---

१. अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्द गोप ब्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानंदं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

उसकी चंचलता, चपलता तथा उद्दंडता के इस चित्र का जितना आनन्द उठा सकता है उतना और कोई नहीं—

ग्वालन कर ते कौर छँड़ावत
जूठो लेत सबन के मुख को अपने मुख ले नावत।
षटरस के पकवान धरे सब तामें नहिं रुचि पावत॥

× × ×

शरारती कृष्ण का यह रूप किसी भी नटखट बालक के चरित्र में साकार हो उठता है; सख्य प्रीति का आश्रय यद्यपि स्वयं स्त्री नहीं होती, पर सखा रूप के आनन्द तथा उल्लास की जो अनुभूति उसे हो सकती है, उतनी किसी और को नहीं। इस प्रकार कृष्ण की चपल लीलाओं से युक्त उनका सखा रूप उसके प्रति प्रदर्शित अनेक भक्तों की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, उनकी अपनी भावनाओं के निकट होने के साथ-साथ उनके जीवन की एक अंग थीं। आपस में उलझते, शोर मचाते बालकों की इस भीड़ में नित्य घरों में होने वाले बाल उपद्रवों और तकरारों के दृश्य से साक्षात्कार हो जाता है। यशोदा के इस रूप में नारी को अपने ही जीवन की एक झलक मिलती है—

हरि तबै आपनि आँखि मुँदाई।
सखा सहित बलराम छिपाने जहाँ-तहाँ गये भगाई॥
कान लगि कहेउ जननी यशोदा, वो घर में बलराम।
बलराऊ को आवन देहो, श्रीदामा सों है काम॥
दौरि-दौरि बालक सब आवत छुवत महरि के गात।
सब आये, रहे सुबल श्रीदामा हारे अब के तात॥
सोर पारि हरि धाये, गह्यो श्रीदामा जाई।
दे हैं सोंह नन्द बाबा की जननि पै लै आई॥
हँसि-हँसि तारी देत सखा सब भये श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहति यशोदा जीत्यो है सुत मोर॥

नारी-हृदय के मातृ अंश में बालकों की इन सुलभ लीलाओं के प्रति आकर्षण निहित है, इसी आकर्षण के कारण भक्ति के सख्य रूप ने स्त्रियों को पूर्ण रूप से प्रभावित किया।

वात्सल्य भाव, कृष्ण-भक्ति परम्परा का वह प्रधान तत्त्व था, जिसने नारी को इस भक्ति की ओर सबसे अधिक आकर्षित किया। इस भाव की जिस तीव्र अनुभूति का अनुभव नारी-हृदय करता है वह पुरुष-हृदय नहीं कर सकता। मातृ-हृदय का उत्सर्ग और निष्काम प्रेम भक्तों का लक्ष्य था। अन्य सभी भावनाओं की अपेक्षा निष्काम प्रेम का भाव इसमें सर्वाधिक है। अपनी सन्तान के सुख के हेतु माँ जिस

निस्वार्थ भावना से ओतप्रोत रहती है, सन्तति विछोह में उसका वात्सल्य-सिक्त हृदय जिस प्रकार तड़प-तड़पकर कराह उठता है, उसी तीव्र अनुभूति का अनुभव करने के लिए भक्त जन लालायित रहते हैं। अपने उपास्य देव को बाल सौजन्य के इस स्निग्ध रूप से अनुरंजित कर, अपने हृदय की पुरुषोचित प्रवृत्तियों में नारी के निःस्पृह और निःस्वार्थ प्रेम आरोपण कर मानों इन भक्तों ने चिर अभिशप्त नारी समाज के स्नेह-सिक्त मानस तथा निस्पृह त्याग को मान्यता प्रदान की। जीवन के अभिशापों के मध्य मध्यकालीन नारी अपने नारीत्व की रक्षा करती हुई सन्तोष प्राप्त करती थी, माँ के वात्सल्य तथा नारी हृदय के माधुर्य के सहारे ही वह अपनी नीरसता में रस की सृष्टि कर सकती थी, यद्यपि इस त्याग और बलिदान का प्रतिदान लौकिकताजन्य स्वार्थ के कारण उसे नहीं प्राप्त हो सका, पर लौकिक जीवन से परे अपनी मुक्ति का मार्ग पाने का प्रयास करने वाले इन प्रेमी भक्तों ने, जिनके हृदय में कृष्ण-प्रेम का अथाह सागर हिलोरें ले रहा था, नारी-हृदय की मूल भावनाओं को ही अपने हृदय में अनुभूत तथा वाणी द्वारा अभिव्यक्त कर, नारी की महानता और निःस्पृहता की साक्षी दी। कृष्ण के प्रति इस अनुराग की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने अपने को नन्द नहीं यशोदा माना। यशोदा का कृष्ण के प्रति स्नेह तथा तद्‌जनित उल्लास उनके ही हृदय का अनुराग तथा उल्लास था। निर्गुण पंथ की नारी-भर्त्सना नारी के मातृ अंश की अनुभूति से सिक्त अनेक उक्तियों में घुलकर बह गई।

मातृ रूप की प्रतीक यशोदा हैं। यशोदा के भाग्य की सराहना करते-करते भक्तों ने अनेक बार उनके सुख की कल्पना को देवताओं, ऋषियों तथा मुनियों की शक्ति के परे बतलाकर बार-बार योग, ज्ञान इत्यादि पर सगुण भक्ति की इस पुण्य अनुभूति की विजय घोषित की। कृष्ण के शैशव, बाल्यकाल और किशोरकाल में यशोदा के मातृ-हृदय का सुन्दर विकास चित्रित है, कृष्ण की बालोचित भोली-भाली उक्तियों के प्रति यशोदा की गद्‌गद् भावना, उनके नटवरपन के प्रति उनकी प्रेमभरी खीझ, राधा-कृष्ण के प्रेम के प्रति उनका मातृोचित उल्लास, साधारण नारी-जीवन के मातृ रूप के ही चित्रण हैं। यशोदा का निस्पृह दुलार, कृष्ण के प्रति उनका अटूट प्यार, भक्तों का आदर्श है। शिशु कृष्ण की माँ के रूप से लेकर किशोर कृष्ण की माँ के रूप तक उनका चित्रण अनुपम है। वात्सल्य के संयोग तथा वियोग दोनों ही पक्ष लिये गये हैं, एक ओर माँ यशोदा पुत्र के बालरूप और सलोनी छवि पर बलिहारी जाती हुई कहती है—

लालन तेरे मुख पर हौं बारी।
बाल-गोपाल लगे इन नैननि रोग बलाय तुम्हारी॥

और दूसरी ओर उनकी कृष्ण-वियोगजन्य उक्तियाँ मर्मस्थल पर आघात करती हैं।

यद्यपि मन समुझावत लोग।
शूल होत नवनीत देख मेरे मोहन के मुख जोग ॥

× × × ×

वात्सल्य-भावना की मुख्य प्रतीक यद्यपि यशोदा ही हैं पर गोपियाँ भी इस से ओत-प्रोत हैं, इन गोपियों में वह ब्रजांगनाएँ हैं जिनमें वात्सल्य ही प्रधान है। कृष्ण की बाल-लीलाओं में उनका हृदय पूर्ण रूप से रम जाता है।

जो कुछ कहे ब्रजवधू सोई-सोई करत, तोतरे बैन बोलन सोहावे।
रोय परत वस्तु जब भारी न उठत, तब चूम मुख जननी उर सों लगावै ॥
बैन काहू लोनी मुख चाही रहत, बदन हँसि स्वभुज बीच लै लै कलोलै।
धाम को काम ब्रजबाम सब भूलि रही, कान्ह बलराम के संग डोले ॥

वात्सल्य रस से रंजित इन गोपियों को ब्रजांगना की संज्ञा दी गई है। बालक के प्रति आकर्षण नारी की प्रधान प्रकृति होती है। अतः सूर, परमानन्ददास, नन्ददास इत्यादि कवियों की मातृ-अनुभूतियों के चित्रण ने उन्हें बहुत आकर्षित किया, इससे अधिक नैकट्य उन्हें यशोदा के मातृ रूप में प्राप्त हुआ। यशोदा के चित्र में अपनी ही कोमल भावनाओं के अंकन के द्वारा उन्हें अपूर्व हर्ष और गर्व दोनों ही हुआ होगा। यद्यपि उस युग की नारी भर्त्सना और उपेक्षा में कतिपय स्त्रियों के स्वर मिले हुए हैं, यह निर्विवाद है कि अपनी भावनाओं के इस उच्च मूल्यांकन से उन्हें आत्मश्लाघा की भावना अवश्य आई होगी। यशोदा के मातृ रूप में केवल माताओं को ही अपनी अभिव्यक्ति नहीं मिलती बल्कि नारीमात्र को उनके रूप में अपनी छाया दृष्टिगत् होती है।

साधना के मार्ग में भी इसी प्रकार उनके जीवन ने एक अंश के चित्रण तथा हार्दिक सहानुभूति की अभिव्यक्ति के कारण कृष्ण-भक्ति की ओर स्त्रियों को स्वभावतः आकर्षण हुआ। कृष्ण की नन्हीं-नन्हीं दंतुलिया, उनकी किलकारी, बालसुलभ क्रीड़ाएँ तथा दैनिक क्रियाओं इत्यादि के वर्णन में कवियों ने साधारण जीवन से ही अनेक उपकरण लेकर अपनी रचनाएँ की थीं। शिशु के प्रति सहज स्नेह, उनकी क्रीड़ाओं से उत्पन्न अपार उल्लास, वियोगजनित आकुलता इत्यादि मुख्य भाव से सम्बन्धित अनेक संचारी तथा अनुभाव नारी-जीवन के ही चित्र थे। तत्कालीन नारी ने आचार्यों द्वारा अपने जीवन के इस आध्यात्मिक आरोपण पर श्लाघा का अनुभव चाहे न किया हो, पर आज की नारी उस भावना की कल्पना तथा विचार पर बिना गर्व किये नहीं रह सकती।

माधुर्य प्रीति भक्ति का सर्वप्रधान अंश है। प्रेम अथवा रति शृंगार एक दूसरे के पर्याय तो नहीं बन सकते। अनेक आचार्यों ने भक्ति को एक स्वतन्त्र रस माना

है। वैष्णव दर्शनों तथा भक्ति शास्त्रों के अनुसार भक्ति अन्य भावों की भाँति ही एक मूल भाव है। आत्मा की परमात्मा के प्रति रागात्मक अनुभूति ही भक्ति है। इस अनुभूति की तीव्रता ही जीवन का परमभाव है अतः भक्ति एक मूल भाव है। इसी भावना की अभिव्यक्ति कृष्ण साहित्य में दाम्पत्य अथवा माधुर्य प्रीति के नाम से विविध प्रकार हुई है। शृंगार तथा भक्ति में अन्तर है केवल आलम्बन का। भारतीय दर्शनों द्वारा प्रतिपादित इस पार्थिव प्रेम की सुलभ तथा सरल व्याख्या में संशय का कोई स्थान नहीं है, इस दृष्टि के अनुसार प्रीति का यह रूप नारी के रागयुक्त हृदय के बहुत निकट है, आध्यात्मिक रूपकों को समझने की क्षमता चाहे उनमें न रही हो, पर कृष्ण के प्रति इस भावना ने उन्हें अवश्य आकर्षित किया होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

अपार्थिव शृंगार अथवा भक्ति के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा। मनोविज्ञान आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। प्रत्येक भाव का केन्द्र आत्मा नहीं मन है, सगुण भक्तिवाद की विभिन्न वृत्तियों का आरोपण आत्मा में भी किया जा सकता है, पर मनोवैज्ञानिक ऐसा नहीं कर सकता। हिन्दी के मान्य आलोचक श्री डा० नगेन्द्र के अनुसार भक्ति मौलिक अथवा अमिश्रित भाव नहीं है; वह मिश्र भाव है क्योंकि अपार्थिव प्रेम में रति के साथ विश्वास का मिश्रण है। ईश्वर के प्रत्येक रूप में चाहे वह अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् कम-से-कम ऐन्द्रिय हो, चाहे अधिक-से-अधिक ऐन्द्रिय, बौद्धिक विश्वास की पृष्ठभूमि अनिवार्यतः रहती है क्योंकि ईश्वर में जिन गुणों का आरोप किया जाता है उन सभी का कारण बुद्धि होती है।

भक्ति मिश्र भाव है अथवा अमिश्र, यह विषय इस प्रसंग में गौण है। पर इसमें कोई संशय नहीं कि भक्ति में शृंगार का उन्नयन होता है। कृष्ण के स्थूल तथा लौकिक रूप के प्रति मान की भावनाओं के मूल में एक अतृप्ति ही रहती है जिसके मूल में इच्छित अप्राप्य व्यक्ति का अभाव व्यक्त होता है। इस अतृप्ति की अभिव्यक्ति में शारीरिक पक्ष कुंठित तथा मानसिक प्रबल होता है। भक्ति के इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा भक्ति केइस रूप को लौकिक प्रेम की कुंठा का उन्नयन मानें अथवा भक्ति-वादी शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित आत्मा का एकान्त सत्य, पर यह विश्वास करने का हर एक कारण मिलता है, कि तत्कालीन नारी की कुंठा की प्रतिक्रिया अपार्थिव सत्ता के प्रति अभिव्यक्त हुई। जीवन की परिसीमाओं तथा परिस्थितिजन्य विषमताओं का अतिक्रमण कर मीरा सदृश नारी ने प्रेमजनित वेदना और सुख-दुःख के जो गीत गाये वह कला तथा प्रेम के संसार मे अमर हैं। तत्कालीन नारी आदर्शों की प्रतिमा थी, मर्यादा की मूर्ति थी, इन मानवेतर भावनाओं के पाषाण के नीचे उसकी कोमल

वृत्तियाँ कसमसा रही थीं। उसका नैतिक आदर्श पार्थिव शृंगार की नियत सीमा से बाहर झाँकने का भी साहस नहीं रखता था, पर मानसिक कुंठा ने जीवन को भावना के क्षेत्र में प्रायः निष्क्रिय ही बना रखा था, भक्ति रस के अपार्थिव आलम्बन कृष्ण के साधारण मानव तथा लौकिक रूप में उन्हें अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन मिला। प्रखर प्रतिभाएँ प्रेम के मार्ग की अनेक बाधाओं को तोड़ती-फोड़ती उस कुंठा को भंगकर प्रस्फुटित होने लगीं, और साधारण नारी-हृदय को अनेक कृष्ण-भक्तों की रचनाओं के रसास्वादन से संतोष तथा तृप्ति का अनुभव हुआ।

कृष्ण काव्य-परम्परा की इस भावमूलक पृष्ठभूमि में नारी को अपने हृदय का सामंजस्य मिला, भगवान् के प्रति दास्य भाव ने, उनके जीवन के इस पक्ष से उत्पन्न हीन भाव को कम किया, सख्य भाव में उन्हें अपने घर ही में खेलते, उपद्रव मचाते बालक का चित्रण मिला, वात्सल्य द्वारा उनका मातृ-हृदय स्पंदित हो उठा। इन भावों में लौकिक प्रतिबन्ध के अभाव के कारण मानसिक कुंठा का अभाव है, वात्सल्य के सुलभ सलोने चित्र उनके जीवन के ही चित्र थे। माधुर्य भक्ति की रागात्मकता तथा अपार्थिव में पार्थिव का आरोपण उनके लौकिक नैराश्य में आशा और उल्लास बनकर व्याप्त हो गया। निष्कर्ष यह है कि कृष्ण भक्ति में भावनाओं की प्रधानता के कारण, तद्-विषयक काव्य में भी हृदय ही प्रधान है, हृदय तत्त्व की इस प्रधानता से भी अधिक श्रेय कृष्ण की लीला रूप को है। शृंखलित जीवन की मर्यादा और आदर्शों के बीच कृष्ण की यह लीलामयता मानों उनके शुष्क जीवन की पूरक बनकर आई तथा भारतीय नारी जगत कृष्ण-प्रेम से प्लावित हो उठा, साधारण व्यक्तित्व उनके गुणों को गाकर उन पर रचित काव्य और संगीत के आनन्द और उल्लास में डूब गये तथा अनेक स्त्रियों की कुंठित प्रतिभा को कृष्ण के आलम्बन रूप द्वारा विकास का साधन प्राप्त हुआ।

नारीत्व का मुक्त और स्वतन्त्र रूप गोपियों तथा राधा के प्रेयसी रूप में व्यक्त है। वल्लभाचार्य ने गोपियों के रूप की प्राप्ति उपासना का ध्येय बतलाया है। पुष्टि मार्ग में राग ही प्रधान वृत्ति थी। गोपियाँ भगवान् की आनन्द प्रसारिणी सामर्थ्य शक्ति की प्रतीक हैं। वात्सल्य-भावना से ओतप्रोत गोपियों का उल्लेख उनके मातृ रूप के प्रसंग में हो चुका है। प्रेयसी रूप में गोपियों के दो प्रधान रूप हैं: १. एक अन्यपूर्वा, २. अनन्यपूर्वा। अन्यपूर्वा वे गोपियाँ थीं जिनकी भावनाएँ वैवाहिक स्वर्ण शृंखलाओं को तोड़ कृष्ण में आसक्त हो गई थीं तथा अनन्यपूर्वा वे अनूढ़ा बालाएँ थीं जिन्होंने कृष्ण को ही अपने वर के रूप में माना था। दोनों ही रूपों में मर्यादा का अभाव है; पत्नीत्व केआदर्श की स्थापना का पूर्ण अभाव है। अनुराग के प्रबल प्रवाह में मर्यादा के रोड़े अटकाकर कृष्ण-भक्तों का ध्येय किसी आदर्श की स्थापना करना नहीं था।

अनन्यपूर्वा तथा अन्यपूर्वा दोनों ही गोपियों की भावना देश काल की सीमा और बन्धन तोड़कर कृष्ण में ही लीन हो गई थीं, मर्यादा के नाम पर दोनों ही प्रकार की गोपियाँ शून्य हैं। हाँ, नायिकाओं के काव्यगत निरूपण के आधार पर उन्हें स्वकीया तथा परकीया की संज्ञा दी जा सकती है। अनन्यपूर्वा गोपियों का यह परकीया रूप, जो समाज तथा मर्यादा की दृष्टि से पूर्ण हेय है, भक्ति में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। परकीया प्रेम की गहनता तथा तीव्रता में मर्यादा का अवरोध नहीं रहता, तथा प्रेम की भावना की उद्भावना भी मन की पुकार और हृदय की माँग पर होती है। विवाहित प्रेम में कर्त्तव्य का स्थान प्रेम से पहले होता है। गोपियों के प्रेम में मर्यादा का पूर्ण अभाव है, जहाँ गोपिका ने कृष्ण को पति-रूप में वरण किया है वहाँ भी मर्यादा का अभाव है। विवाह, वेद-मर्यादा सबको भूलकर वह कृष्ण को पति-रूप में वरण करती है। विवाह से पूर्व कृष्ण को क्रियात्मक रूप में देखने वाली कन्या की भावना परकीया भावना के अन्तर्गत चाहे न आ सके, पर उनके इस रूप की काव्यगत मान्य स्वकीया भी नहीं कह सकते। मन में वरण करके, उन्होंने कृष्ण को पति मान लिया था, पर उनकी भावनाओं तथा कार्यों में उनके पत्नीत्व की नहीं प्रेयसी रूप की ही प्रधानता मिलती है। अपने पति की उपस्थिति में लोक-लज्जा तथा मर्यादा को तिलांजलि देकर जिन्होंने कृष्ण को अपनाया उनके परकीया रूप में तो कोई संशय ही नहीं है, पर अन्य-पूर्वा गोपियाँ भी कृष्ण का वरण लोक-लज्जा और मर्यादा को तिलांजलि देकर ही कर पाई थीं। उनके पूर्व राग के आरम्भ में संकोच और भय अवश्य था पर उसकी चरम अवस्था में वे कुल-मर्यादा को त्याग कृष्ण से मिली थीं।

वल्लभ सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा प्रतिपादित गोपियों का आध्यात्मिक प्रतीक रूप उस युग की नारी की सरल तथा निरक्षर बुद्धि में समा सका होगा या नहीं, पर पुष्टि मार्ग के साधनों में नारी-हृदय के आरोपण के कारण भक्ति के इस रूप ने नारी को आकर्षित अवश्य किया। वल्लभ सम्प्रदाय में इस रस को लेने वाले गोपी स्वरूप भक्तों को केवल प्रेम और भगवत्-कृपा का सहारा रहता है, बुद्धि अथवा तर्क का उनमें अभाव रहता है। योगाभ्यास तथा भक्ति के अन्य साधनों को अपनाने का उनमें साहस नहीं रहता, वे विवश हैं अपनी दुर्बलताओं और परिसीमाओं के कारण। इन भक्तों को वल्लभ जी ने स्त्रियों की संज्ञा दी है। स्त्रियों की भावनाएँ भी इसी प्रकार की होती हैं। उनके अनुसार भक्त केवल स्त्री भाव से ही भगवान् के साथ इस समूल रस का आनन्द प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं।

भक्तों में नारी-भावना के आरोपण से लौकिक नैराश्यजनित उनकी हीन भावना को एक आध्यात्मिक सम्बल प्राप्त हुआ। कृष्ण में ऐसे रूप का आकर्षण, जिनका उनके जीवन में अभाव था, भक्ति मार्ग में उन भावनाओं की प्रधानता जो

उनके हृदय की ही अनुभूतियाँ थीं, तथा वात्सल्य और माधुर्य से ओतप्रोत वे चित्र जो उनके जीवन के ही चित्र थे, उनके लिए आकर्षण बनकर आये। बालक के प्रति प्रेम में सामाजिक बन्धनों की ग्रंथियों की उलझन नहीं होती, मातृ-हृदय की कामनाओं की अभिव्यक्ति में प्रकृति ही अपवाद रूप में बाधक हो सकती है, समाज नहीं; अतः यशोदा के रूप में उनका मातृत्व उल्लसित हो उठा। परन्तु गोपियों के रूप में उनके हृदय की छाया के रहते हुए भी वह छाया के समान ही अप्राप्य थी, निर्बाध प्रेम में स्त्री-हृदय को उस तत्त्व का आभास मिला जो उनके हृदय का ही एक अंश था, पर अपने जीवन में जिसकी अभिव्यक्ति का स्वप्न भी एक दुराशा मात्र था, इस लौकिक कुंठा की प्रतिक्रिया भावनाओं के कृष्ण के प्रति उन्नयन द्वारा हुई। इस प्रकार उनके लौकिक जीवन की कुंठित कामनाएँ कृष्ण के प्रति तीव्र अनुभूति बनकर काव्य और संगीत में बिखर गईं।

कृष्ण काव्य की लेखिकाएँ

मीराबाई—मध्ययुगीन अन्धकार में जहाँ एक ओर जौहर की ज्वाला में दहकता हुआ राजस्थान का शौर्य कुन्दन-सा दमकता है दूसरी ओर नारी-जीवन की स्तब्ध नीरवता में मीरा का मधुर स्वर अलौकिक संगीत की सृष्टि करता है। शौर्य तथा माधुर्य का यह सामंजस्य राजस्थानी प्रतिभा के लिए ही सम्भव था। कृष्ण की मतवाली मीरा को जन्म देने का श्रेय इसी राजस्थान की भूमि को प्राप्त हुआ। मध्य युग के वैष्णव आन्दोलन की आधारभूमि सर्वथा अनुपयुक्त थी, पर मीरा ने ऐसे समय तथा वातावरण में भक्ति के जिस चरम रूप का प्रदर्शन किया, वह मानवीय इतिहास में एक अद्‌भुत अपवाद प्रतीत होता है।

मीराबाई के जीवन की रूपरेखा उनके पदों, इतिहास के पृष्ठों तथा जनश्रुतियों के आधार पर निश्चित की गई है। उनके आविर्भाव काल के विषय में कोई विशेष संकेत उनके पदों में नहीं मिलता। अनेक इतिहासकारों ने जनश्रुतियों, ऐतिहासिक उल्लेखों तथा दूसरे आधारों पर उनके आविर्भाव काल पर प्रकाश डाला है। कर्नल टॉड तथा शिवसिंह जी के अनुसार मीराबाई राणा कुम्भ की पत्नी थीं और इस प्रकार उनका आविर्भाव काल महाराणा कुम्भ के मृत्यु-संवत् १५२५ विक्रमी से कुछ पहले रहा होगा। उन्होंने लिखा है कि अपने पिता की गद्दी पर सन् १४६१ में बैठने वाले राणा कुम्भ ने मारवाड़ के मेड़ता कुल की कन्या मीराबाई

स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तु तत् पुमान्
अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे अहर्निशम् ॥

—सुबोधिनी टीका

से विवाह किया, जो अपने समय में सुन्दरता तथा सच्चरित्रता के लिए बहुत प्रसिद्ध थीं, और जिनके रचे हुए अनेक गीत अभी तक सुरक्षित हैं। गुजराती साहित्य के इतिहासकारों ने कर्नल टॉड के इस कथन के आधार पर ही मीराबाई का समय ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में निर्धारित किया था। पर इस निर्धारण का आधार केवल अनुमान तथा जनश्रुतियाँ हैं। अतः यह सर्वथा मान्य नहीं है। इस भ्रम का एक प्रधान कारण यह है कि महाराणा कुम्भ द्वारा निर्मित एक भव्य मन्दिर को मीराबाई के मन्दिर के नाम से पुकारा जाता है। सम्भव है कि उस मन्दिर में मीरा के नित्य पूजा, कीर्तन इत्यादि करने के कारण ही लोगों ने उसको मीराबाई के मन्दिर के नाम से पुकारना आरम्भ कर दिया हो। इस तिथि का खंडन एक और प्रधान घटना से होता है। मीराबाई मेड़ता वंश की थीं। मेड़ता वंश की नींव संवत् १५१६ में राव दूदा जी ने डाली थी, अतः १५२१ के लगभग मीरा का आविर्भाव पूर्णतया असम्भव मालूम होता है। इसके अतिरिक्त भ्रान्तिपूर्ण अनुमानों के द्वारा कोई उन्हें विद्यापति का समकालीन तथा कोई राठौर सरदार जयमल की पुत्री बताता है, जो वास्तव में उनके चचेरे भाई थे और जिन्होंने मीरा के साथ ही अपने पितामह दूदा जी से प्राथमिक शिक्षा प्राप्त की थी।

इन सब भ्रान्तियों का निवारण मुन्शी देवीप्रसाद, श्री गौरीशंकर ओझा तथा श्री हरिविलास जी की ऐतिहासिक खोजों के आधार पर हो जाता है। उन्होंने ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध कर दिया है कि मीरा का जन्म राठौरों की मेड़तिया शाखा के प्रवर्तक राव दूदा जी के वंश में हुआ था। बाल्यावस्था में ही भाग्य ने उन्हें मातृप्रेम से वंचित कर दिया था। माता के निधन के पश्चात् वह पितामह दूदा जी के साथ ही मेड़ता में रहने लगी थीं। संवत् १५७२ में दूदा जी की मृत्यु हो गई तथा उनके बड़े पुत्र वीरमदेव जी मेड़ता के शासक हुए। उन्होंने संवत् १५७३ में, मीरा का विवाह जब उनकी आयु केवल १३ वर्ष की थी, महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र कुँवर भोजराज के साथ कर दिया। पितामह की वात्सल्यमयी छत्रछाया में बने उनके वैष्णव संस्कार अभी तक कृष्ण के किशोर रूप को ही अपने जीवन का ध्येय तथा प्रेय मानते आ रहे थे। तेरह वर्ष की कन्या ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप अपनी माधुर्य भावना का आश्रय अभी तक कृष्ण को ही माना था। उनकी किशोर-सुलभ भावनाओं ने गिरधर गोपाल के नटवर रूप में ही अपने जीवन-संगी की कल्पना की थी। भोजराज के शौर्य तथा ओजस्वी व्यक्तित्व के साथ वे अपने चिर कल्पित नटवर नन्दलाल की लीलाओं का सामंजस्य कर पाईं अथवा नहीं यह कहना कठिन है, पर मीरा का विवाहित जीवन बहुत अल्प रहा। भोजराज की मृत्यु उनके विवाह के कुछ वर्ष पश्चात् ही संवत् १५०० के लगभग हो गई, इस

प्रकार सागर में मिलने को उत्कंठित सरिता के मार्ग में आया हुआ स्थूह समतल हो गया, और वह मार्ग के समस्त व्यवधानों को तोड़ती-फोड़ती असीम वेग से अपने चिर अभिलषित प्रियतम में लय हो जाने को आकुल हो उठीं।

स्त्री होने के कारण उन्हें समाज और तत्कालीन वातावरण से अनेक बार लोहा लेना पड़ा। इस संघर्ष ने उन्हें निराशा नहीं साहस दिया। कठिनाइयों की कसौटी पर उनकी अनुभूतियाँ और भी निखर उठीं, और उनकी भावनाएँ अग्नि में तपाये हुए स्वर्ण की भाँति दीप्त हो गईं—

राणा जी थाने जहर दियो मैं जानी।
जैसे कंचन दहत अगिन में, निकसत बारा बानी॥

उनके अनेक पदों में इस प्रकार के अत्याचारों का संकेत है। डा० श्री कृष्णलाल ने अन्तःसाक्ष्य के इन पदों को प्रक्षिप्त माना है। उनके अनुसार मीरा के जिन पदों में उनके जीवन सम्बन्धी तथ्यों का स्पष्ट निर्देश मिलता है, वे अधिकांशतः उनकी रचनाएँ नहीं हैं। मीरा की कीर्ति-वृद्धि के साथ-साथ नई-नई जनश्रुतियों का प्रचार होने लगा। फलस्वरूप मीरा के महत्त्व का प्रचार करने के लिए उनकी जीवन-गाथा में अनेक अलौकिक कहानियाँ जोड़ दी गईं। श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने इसी प्रकार का मत देते हुए लिखा है कि उपलब्ध ऐतिहासिक विवरणों द्वारा इन सभी बातों की पुष्टि होते नहीं जान पड़ती। स्व० मुन्शी देवीप्रसाद ने भी केवल इतना लिखा है कि मीराबाई को राणा विक्रमाजीत के दीवान कौम महाजन बीजावर्गी ने जहर दिया था।

मीरा, सर्वप्रथम एक नारी, वह भी साधारण नहीं राजवंश की, और उस पर भी वैधव्य से अभिशप्त। परन्तु जीवन की समस्त विषमताएँ तथा समाज के बड़े-से-बड़े अमानुषिक अत्याचार उस अबला के कोमल किन्तु दृढ़ हृदय को विचलित न कर पाये। राजपूती रक्त जो अनेक बार धर्म तथा मर्यादा की रक्षा के नाम पर अग्नि की लपटों में झुलसकर भस्म हो चुका था, इस बार मर्यादा और लज्जा की सीमा का उल्लंघन कर विषपान तथा सर्पदंशन के सम्मुख भी अक्षुण्ण बना रहा। चित्तौड़ के बालक राणा विक्रमादित्य की आड़ लेकर मेवाड़ के अमात्य बीजावर्गी ने उन पर बहुत अत्याचार किये, भावनाओं की प्रबलता में वे अत्याचार मीरा के जीवन में परिवर्तन तो न ला सके, पर इन घटनाओं से उनके कोमल हृदय पर आघात बहुत पहुँचा। संवत् १५९० के लगभग मीरा के चाचा वीरमदेव ने उन्हें मेड़ता आने के लिए निमंत्रित किया, वे सहर्ष मेड़ता चली गईं। जब तक वीरमदेव मेड़ता के शासक रहे थे वे निर्द्वन्द्व रूप से अपने आराध्य की साधना में रत रहीं। परन्तु उनके जीवन में अभी और परिवर्तन आने थे, अतः दुर्भाग्य से संवत् १५९५ में राव वीरम-

देव के हाथ से मेड़ता निकल गया, इस प्रकार मीरा फिर आश्रयहीन हो गई, इस बार उन्होंने कृष्ण की क्रीड़ा-भूमि बृन्दावन में शरण ली।

मेवाड़ के घुटते हुए वातावरण से बृन्दावन के स्वतन्त्र वातावरण में आकर उन्होंने मुक्ति की श्वास ली। बालपन के संस्कारों को यहाँ आकर विकास तथा परिष्कार का अवसर मिला। अनेक भगवत्-भक्तों के सत्संग से उन्होंने बहुत-कुछ ग्रहण किया। जीवगोस्वामी, रूप गोस्वामी, चैतन्य-देव इत्यादि परम भागवत्-भक्तों की पुनीत भावनाओं का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा और बृन्दावन में आकर उनके अंतस्तल में छिपी हुई अनुभूतियाँ अपने अनुकूल वातावरण पाकर पूर्ण रूप से विकसित हो चलीं।

एक दिन वृन्दावन के प्रसिद्ध गोस्वामी ने उनसे उनके स्त्री होने के कारण मिलने से इन्कार कर दिया। इस पर मीरा ने उत्तर दिया कि ब्रजमंडल में गिरधर नागर के अतिरिक्त और कोई पुरुष है ऐसा वह नहीं सोचती थीं। इस उत्तर से जीव गोस्वामी जी बहुत लज्जित हुए और मानों उसी दिन से मीरा का नाम कृष्ण की अमर साधिका के रूप में प्रसिद्ध हो गया। बृन्दावन के भक्तों में अग्र स्थान प्राप्त करने के पश्चात् संवत् १६०० के लगभग उन्होंने द्वारिका के लिए प्रस्थान किया। द्वारिकापुरी में रणछोर जी के मंदिर में दिन-रात वे गिरधर के प्रेम में आकुल उनकी मूर्ति के सामने प्रेम-विह्वलावस्था में नृत्य तथा गान में लीन रहती और भावावेश में उनकी अनुभूतियाँ संगीत और नृत्य में बिखर जातीं। उनकी तन्मयता और विह्वलता की कहानी तथा उनके संगीत-काव्य एवं नृत्य की कीर्ति एक पुण्य गाथा के रूप में वायु-सी समस्त वायुमंडल में व्याप्त हो गई। संवत् १६३० में एक दिन अपने नैसर्गिक अस्तित्व की अमर आभा सदैव के लिए छोड़ मीरा अपने गिरधर नागर में विलीन हो गई।

मीरा के नाम के विषय में यह शंका उठाई गई है कि मीरा का यह नाम वास्तविक था अथवा उपनाम। श्री बड़थ्वाल जी के अनुसार यह शब्द फ़ारसी से लिया गया है और उपनाम मात्र है। मीरा के सूफ़ी भावनाओं के ग्रहण करने पर उन्हें यह उपनाम प्रदान किया गया था। वास्तव में मीरा नाम की असाधारणता के कारण ही उस पर शंका उठाई गई है। ब्रजरत्नदास जी ने फ़ारसी में मीरा शब्द का अर्थ भगवान् की पत्नी नहीं माना है। उनके अनुसार यह शब्द स्वामी अथवा परमेश्वर के लिए नहीं प्रयुक्त होता। फ़ारसी में मीर शब्द अमीर का छोटा रूप है और अमीर का अर्थ सरदार है। मीर का बहुवचन मीरा है। मुसलमानों मे यह प्रमुख सैयदों का अल्ल भी होता है। कबीर की रचनाओं में इसका तीन बार प्रयोग हुआ है, और तीनों स्थानों पर उसे किसी पहुँचे हुए फ़क़ीर के लिए सम्बोधन रूप में अथवा अपनी आत्मा के प्रतीक रूप में ही लिया जा सकता है।

संस्कृत में मीर शब्द समुद्रवाची है और सीमा, पेच तथा पर्वत के अर्थ में लिया

जाता है। अकारान्त रूप दे देने से यह स्त्रीलिंग हो जाता है और तब उसका अर्थ नदी या जल हो जाता है।

परन्तु किसी नाम की व्युत्पत्ति अनिवार्य नहीं है। विशेषकर राजपूतों में तो अनेक ऐसे नाम मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से जोड़ना असम्भव है। नाम अनेक प्रकार से पड़ जाते हैं, और इनके द्वारा भ्रान्तियाँ भी कितनी हो जाती हैं, इसका प्रमाण स्वयं मीरा विषयक एक उल्लेख से मिल सकता है। जैसे सभी अंधों को सूरदास कहा जाने लगा है वैसे ही राजस्थान में भक्ति के भजनों को सुन्दर स्वरलहरी में गा सकने वाली स्त्रियों को मीराबाई की संज्ञा दी जाती है। इन गायिकाओं के अन्तर्गत वेश्याएँ भी होती हैं। पर इस अर्थ-विस्तार का भयंकर परिणाम सर जार्ज मैकमन की पुस्तक 'द अंडरवर्ल्ड ऑफ़ इण्डिया' के इस प्रकार के उल्लेख से जाना जा सकता है—

"उस शताब्दी में राजपूताना में मीराबाई हुई, जो काम-लिप्सा तथा शक्ति की वैष्णव उपासिका थीं, संसार के आनन्दमय प्रेमी गोपीनाथ कृष्ण की कीर्ति की उत्साहपूर्ण गायिका थीं, तथा लिंगयोनि के रहस्य की उपदेशिका थीं। वे वेश्याओं की गुणग्राहिका समझी जाती हैं जो प्रायः यही नाम धारण करती हैं। इस नाम को गांधी गृह में प्रवेश करने पर मिस स्लेड को धारण करने की आज्ञा नहीं दी जानी चाहिए थी।"

मीरा को उपनाम केवल उसकी प्रसिद्धि के बाद ही दिया जा सकता था, पर इस तथ्य की पुष्टि के लिए कोई तार्किक आधार नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में भी ब्रजरत्न दास ने मीरा सम्बन्धी एक दोहा उद्धृत कर उसकी व्याख्या की है। दोहा इस प्रकार है—

प्रेम लक्षणा भक्ति थी, वश कीधा करतार।
धन-धन मीराबाई ने, गिरधारी सूँ प्यार॥

दलाल जेठालाल वाडीलाल के दोहे के इस उद्धरण के साथ वह लिखते हैं कि मीरा के जन्म समय अलौकिक प्रकाश का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ा जिससे उसका नाम मही + इरा = मीरा रखा गया।

इस प्रकार के अलौकिक आरोपणों पर चाहे हम विश्वास न करें, पर तर्क और विवेचन भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि मीरा उनका शैशव का नाम था, उपनाम नहीं।

मीरा की भक्ति-भावना का विकास—मीरा की भक्ति-भावना के स्वरूप तथा विकास इत्यादि का पूर्ण उल्लेख यद्यपि उनकी जीवनी के साथ अप्रासंगिक है, परन्तु उनके पदों द्वारा प्राप्त साक्ष्य के आधार पर डा० श्रीकृष्ण लाल ने उनके आध्या-

त्मिक विकास का जो क्रमिक इतिहास प्रस्तुत किया है, वह उनके जीवन से ही सम्बन्ध रखता है तथा प्रसंगानुकूल है।

उन्होंने लिखा है कि मीरा के पदों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर हमें चार-पाँच विशिष्ट धाराओं के पद मिलते हैं। सबसे पहले नाथ सम्प्रदाय के योगियों से प्रभावित होकर उन्होंने जोगी के सम्बन्ध में इस प्रकार के पद लिखे—

जोगी मत जा मत जा मत जा पाँव पड़ूँ मैं तेरी।

उसके पश्चात् संतों के प्रभाव में आकर उन्होंने सांसारिक नश्वरता के नैराश्य-पूर्ण गीत गाये, और वह निराशा इन शब्दों में व्यक्त हुई—

इस देही का गरब न करना, माटी में मिल जासी।
ये संसार चहर की बाजी, साँझ पड़्या उठ जासी॥

आगे चलकर इसी प्रभाव के अनुरूप रहस्योन्मुखी विरह के पद बनाये फिर भागवत् के प्रभाव से श्रीकृष्ण लीला और विनय के पद गाये। इनके अतिरिक्त कृष्ण काव्य के विप्रलम्भ शृंगार का आभास भी उनमें मिलता है और अन्त में कृष्ण के प्रेम में तन्मय होकर उन्होंने माधुर्य भाव से उनकी उपासना करते हुए निर्भय घोषणा की—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।

मीरा के अनेक पदों में विभिन्न आध्यात्मिक धाराओं की छाप अवश्य है, पर इस प्रकार उनके आध्यात्मिक विकास के इतिहास की रूपरेखा निश्चित नहीं की जा सकती। यद्यपि भारतीय अध्यात्म के इतिहास में यह क्रम ठीक उतरता है, पर मीरा के आध्यात्मिक जीवन में इसी क्रम का निर्वाह पूर्णतः अस्वाभाविक है। मीरा के संस्कार वैष्णव थे। बालापन में ही वे गिरधर गोपाल की मूर्ति को अपने वर-रूप में मानती थीं। उनका यह स्वप्न सबसे पहले अध्यात्म के क्षेत्र में उनके जीवन का सत्य बनकर आया। पितामह के प्रभाव में निर्मित और विकसित उनके वैष्णव संस्कार ही, वैधव्यजन्य नैराश्य में आशा का आलम्बन बने। मीरा के आध्यात्मिक जीवन का इतिहास साधना-परक नहीं अनुभूति-परक है। उन्होंने क्रम से एक के बाद एक आध्यात्मिक धारा पर प्रयोग नहीं किये, बल्कि भावनाओं की तीव्रता में कृष्ण के प्रति उनकी अनुभूति माधुर्य स्रोत में ही फूट पड़ी। चित्तौड़ के वैभवपूर्ण वातावरण में, अन्य मतों के संतों तथा नाथपंथी योगियों के सम्पर्क में उनका आना एक दुरूह कल्पना मालूम होती है। मीरा यद्यपि अन्तःपुर की दीवारों का उल्लंघन कर मन्दिर में साधुओं तथा संतों के सम्पर्क में स्वच्छन्दतापूर्वक आती थीं, पर निर्गुणिये संतों तथा कनफटे जोगियों के कृष्ण-मन्दिर में आकर साधना करने की सम्भावना नहीं है। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में जब वे सब लौकिक बन्धनों की शृंख-

लाओं को तोड़कर बृन्दावन तथा द्वारिका गईं, उस समय विभिन्न मतों के संतों और योगियों का सम्पर्क असम्भव नहीं जान पड़ता, अतः सत्य के निकट यही दिखाई देता है कि उनके काव्य में आये हुए अनेक मतों का विवरण उनके आध्यात्मिक जीवन का इतिहास नहीं, स्फुट प्रभाव मात्र है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न भावधाराओं के पदों के रचनाक्रम का संकेत भी कहीं नहीं मिलता। विभिन्न अवसरों पर लिखे गये इस प्रकार के मुक्तक पद क्रमबद्ध इतिहास बनने की क्षमता नहीं रखते। पदों में उल्लिखित अनेक पुरातन तथा नूतन आध्यात्मिक संकेतों के आधार पर इस प्रकार के इतिहास का अनुमान पूर्णतया हो सकता है।

उनके अनेक पदों में उनके गुरु के नाम की जगह रैदास का उल्लेख है—

गुरु म्हारे रैदास सरनन चित्त सोई।
रैदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्ह सुरत सहदानी।

अथवा

गुरु रैदास मिले मोंहि पूरे धुर से कलम भिड़ी।

इनके अतिरिक्त एक और पद में कुछ अधिक स्पष्ट संकेत मिलता है—

झाँझ पखावज वेणु बाजियाँ, झालर नो झंकार।
काशी नगर ना चौक माँ, मने गुरु मिला रोहीदास॥

रैदास विषयक पंक्तियाँ यद्यपि मीरा के पदों में स्वाभाविक रूप से मिली हुई हैं, पर रैदास का उनका गुरु होना विश्वसनीय नहीं है। अन्तिम उद्धरण से सिद्ध होता है कि श्री रैदास को रोहीदास भी कहते थे और काशी के चौक में उनसे मीराबाई की भेंट हुई थी। श्री ब्रजरत्न दास ने इस पंक्ति को अप्रामाणिक बताते हुए लिखा है कि काशी का चौक अभी हाल का बना हुआ है। प्रायः दो शताब्दी पहले वहाँ एक महा श्मशान था और अब भी श्मशान विनायक फाटक के पास मौजूद है ही। मुग़ल-काल में वहाँ अदालत स्थापित हुई, जो महाल अब भी पुरानी अदालत कहलाता है। इसके अतिरिक्त मीराबाई के काशी आने का उल्लेख भी कहीं नहीं मिलता। उन्होंने स्वयं एक पद में लिखा है—

मन्त्र न जन्त्र कछु ये न जाणूँ वेद पढ़्यो न गै काशी।

इसके अतिरिक्त मीरा तथा रैदास के उपास्य के रूप में भी महान् अन्तर है। मीरा के अनेक पदों में सतगुरु की संज्ञा उसी व्यक्ति को दी गई है जिसके विरह का वेदना में वह आकुल रहती थीं—

री मीरे पार निकस गया, सतगुर मार्‌या तीर,
विरह भाल लगी उर अन्तरि, व्याकुल भया शरीर।

रैदास जी की उपासना में ज्ञान प्रधान है, पर मीराबाई के योगिनी रूप में भी प्रेम और विरह की प्रधानता है—

कै तो जोगी जग में नाहीं, कै बिसारी मोई।
काई करूँ कित जाऊँ री सजनी, नैण गुमायो रोई।

मीरा के पदों में प्राप्त इन संकेतों के अतिरिक्त उनकी भक्ति-भावना के स्वरूप तथा विकास का अनुमान अनेक अन्य ग्रन्थों के मीरा सम्बन्धी उल्लेखों के आधार पर भी लगाया जा सकता है। हरिराम जी व्यास ने अनेक भक्तों का उल्लेख करते हुए मीरा का नाम भी लिया है—

सूरदास परमानन्द मेहा मीरा भक्ति विचारों।

तथा

मीराबाई बिनु को भक्तन पिता जानि उर लावै।

भक्तमाल में यद्यपि उनके विषय में एक छप्पय ही मिलता है, परन्तु वह मीरा की भक्ति-भावना को स्पष्ट आभास देने तथा उनकी भाव-तन्मयता का बोध कराने के लिए पर्याप्त है—

लोक-लाज कुल-शृंखला, तजि मीरा गिरधर भजी।
सदृश गोपिका प्रेम प्रकट कलिजुग हि दिखायो।
निरंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
दुष्टनि दोष विचार मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँको भयो गरल अमृत कर पीयो॥
भक्ति निसान बजाय के, काहू ते नाहिन तजी।
लोक-लाज कुल-शृंखला, तजि मीरा गिरधर भजी॥

चौरासी वैष्णवन की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता के उल्लेखों से उनके युग तथा विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा उनके घोर विरोध का स्पष्ट आभास मिलता है।

इन ऐतिहासिक तथा साहित्यिक आधारों के अतिरिक्त मीरा की जीवन-कथा के निर्माण में जनश्रुतियों का भी बहुत हाथ रहा है।

जनश्रुतियाँ—उत्तरी भारत के प्रत्येक प्रान्त में उनके विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। यह जनश्रुतियाँ दो प्रकार की हैं—एक तो उनके चरित्र पर दिव्यता तथा अलौकिकता का आरोप करती हैं तथा दूसरी वे हैं जिनमें लौकिक भावना प्रधान है। दोनों ही प्रकार की जनश्रुतियाँ प्रायः उत्तर भारत के लगभग सभी प्रान्तों में प्रचलित हैं।

महाराष्ट्रीय जनश्रुति के अनुसार वे मेवाड़ के एक परम वैष्णव राजा की

कन्या थीं। जब कन्या केवल एक दिन की थी, राणा ने उसे कृष्ण के चरणों में अर्पित कर दिया। बाल्यावस्था में ही उस कन्या ने कृष्ण की मूर्ति से विवाह कर लिया। वैष्णव पिता ने उसकी इच्छानुसार उसका लौकिक विवाह न करने का निश्चय कर लिया, पर मध्यकालीन भारतीय वातावरण में युवा कन्या के अविवाहिता रहने तथा संतों के बीच स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने के कारण राणा को लोकनिन्दा तथा लांछनों का सामना करना पड़ा। लोकमत की उपेक्षा करने में असमर्थ होने के कारण अंत में उन्होंने मीरा का विवाह करने का निश्चय कर लिया। मीरा के विरोध करने पर उन्होंने उनके पास विष का प्याला भेजा। मीरा प्रसन्नतापूर्वक उसे पी गई, उस पर तो विष का कुछ भी प्रभाव न हुआ, परन्तु कृष्ण की मूर्ति का मुख विवर्ण हो गया। मीरा के वैष्णव पिता को अपने इस कर्म पर बहुत ग्लानि हुई। तत्पश्चात् मीरा के विनय करने पर मूर्ति फिर अपने स्वाभाविक रूप में परिणित हो गई। आज भी मीरा के गौरव-चिह्न-स्वरूप गिरधरलाल की मूर्ति के कंठ में एक विवर्ण चिह्न मिलता है।

बंगीय जनश्रुति के अनुसार मीरा केवल भक्त ही नहीं, आदर्श नारी भी थी। भारतीय स्त्री के आदर्शों के अनुरूप सभी गुण उसमें विद्यमान थे। उत्तर भारत में जहाँ वैष्णव भक्त गोपी बनकर कृष्ण की उपासना करने में विश्वास करते थे, वहाँ की जनता ने मीरा की उत्कट भक्ति तथा प्रेम-विह्वलता के कारण उन्हें गोपी का अवतार ही मान लिया। गुजरात की प्रचलित जनश्रुति के आधार पर श्री कृष्णलाल मोहनलाल झावेरी ने गुजराती साहित्य के इतिहास में लिखा है कि जब मीरा के ऊपर विष का प्रभाव नहीं पड़ा, तो राणा ने उनका वध करने के लिए तलवार उठाई, पर हाथ उठाने के साथ ही मीरा के चार रूप दिखाई दिये और स्तम्भित होकर उन्हें अपना निश्चय बदल देना पड़ा।

श्री मेकालिफ ने भी अपनी पुस्तक लीजेंड ऑव मीराबाई में लिखा है कि राणा ने मीरा को तलवार के घाट उतारना चाहा; पर स्त्री का वध करना महापाप होता है, अतः उन्होंने मीरा को तालाब में डूब मरने की आज्ञा दी। मीरा ने उनकी आज्ञा का पालन किया तथा गिरधर की सहायता का सम्बल ले वह निर्भय होकर पुष्कर में कूद पड़ीं, परन्तु एक दिव्य पुरुष ने उन्हें अथाह जल से निकाल उन्हें वृन्दावन जाने की आज्ञा दी। इसी प्रकार की अनेक कथाएँ मीरा के जीवन की अलौकिकता के विषय में प्रचलित हैं।

लौकिक जीवन सम्बन्धी जनश्रुतियों में मुख्य हैं उनकी अकबर तथा तानसेन से भेंट और श्री गोस्वामी तुलसीदास के साथ पत्र-व्यवहार। परन्तु दोनों ही जनश्रुतियाँ स्थान और काल की दृष्टि से असत्य मालूम होती हैं। मीरा के विषय में

लिखने वाले सभी आलोचकों ने इन पर विचारपूर्ण दृष्टि डाली है। अतः उनके जीवन से सम्बन्धित इन अनिश्चित घटनाओं के विस्तार में जाना अनावश्यक तथा अप्रासंगिक है।

भक्ति युग तथा मीरा

निर्गुण सम्प्रदाय तथा मीरा—भारत की मध्यकालीन आध्यात्मिक साधना के अन्तर्गत दो प्रमुख धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं: (१) ज्ञान तथा योग, (२) भक्ति। भारतीय अध्यात्म के इतिहास में ज्ञान का प्रयोग मध्यकालीन सूझ नहीं थी। इसके इतिहास की प्रथम रूपरेखा बौद्ध धर्म के वज्रयान सम्प्रदाय के सिद्धों के उपदेशों में प्राप्त होती है। योग-साधना इनके ध्यान योग का एक अंश था, जिसके द्वारा वे आत्मशुद्धि के चरम लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्टा करते थे। चंचल मन के दूषण और मालिन्य को दूर कर उसे स्थिर बनाना उनका लक्ष्य था। निर्वाण-प्राप्ति के लिए यह एक आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता थी; अपनी इसी रहस्यमयी साधना की अभिव्यक्ति की चेष्टा में उन्होंने रूपकों तथा अन्योक्तियों के सहारे अनेक गीतों की रचना की। इनकी रचनाओं में ईश्वरीय भावना का अभाव है, परन्तु हठयोग तथा प्राणायाम इत्यादि यौगिक क्रियाओं के स्पष्ट विवरण उनमें मिलते हैं। इसके पश्चात् नाथपंथी योगियों की सब्दी तथा पदों में तद्विषयक स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं।

मध्यकाल के राजनीतिक पराभव तथा धार्मिक उत्पीड़न के फलस्वरूप, विजित तथा विजयी जातियों में सामंजस्य उत्पन्न करने के लिए यही ज्ञान तथा योग की धारा सूफ़ीमत के प्रेमतत्त्व मे रंजित होकर संतमत के नाम से प्रचलित हुई। संतों ने धर्म के नाम पर किये जाने वाले अनेक बाह्याडम्बरों का खंडन किया। हिन्दू तथा इस्लाम धर्म के भेदमूलक तत्त्वों की असारता सिद्ध करने के लिए, रोजा, नमाज, मूर्ति-पूजा, बलि इत्यादि का घोर खंडन किया गया। मीराबाई के समय तक अनेक संत कवियों के शब्द और साखियाँ प्रचलित हो गये थे। अधिकतर संत तो उनके आविर्भाव काल के पूर्व ही काल-कवलित हो चुके थे। कदाचित् कतिपय कुछ समय के लिए अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में उनके समसामयिक माने जा सकते हैं।

हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध आलोचकों ने मीरा को निर्गुण सम्प्रदाय की साधिका माना है। सबसे प्रथम श्री बड़थ्वाल जी ने इस प्रकार की सम्भावना की। अधिकतर आलोचकों ने यह निष्कर्ष मीरा के पदों में योग मत के कुछ तत्त्वों के उल्लेख के आधार पर निकाला है। श्री बड़थ्वाल, श्री परशुराम चतुर्वेदी तथा श्री शम्भूनाथ बहुगुणा मीरा को संत सम्प्रदाय की ही मानते हैं। श्री ब्रजरत्न दास तथा डा० श्रीकृष्णलाल ने इसका पूर्ण खण्डन किया है। डा० बड़थ्वाल के इस निष्कर्ष का आधार एक और भी है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवन की

वार्ता में बड़े गर्हित तथा उपेक्षित शब्दों में वैष्णवों ने मीरा को गालियाँ दी हैं। उन्होंने इस उपेक्षा और दुर्वचन के मूल में मीरा तथा वैष्णवों का गहरा तात्विक मतभेद माना है। मीरा को निर्गुण पंथ की साधिका मानने के लिए अनेक अन्य तर्कों के साथ उन्होंने मूल तर्क ये दिये हैं—

१. मीरा के पदों में हठयोग के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख तथा रहस्यानुभूति।

२. सूरदास जी के वल्लभाचार्य का शिष्यत्व स्वीकार करने पर भी मीराबाई का उनसे दीक्षा न लेना।

३. मीरा का वल्लभाचार्य की स्तुति में गाये पदों को गोविन्द गुणगायन न समझना।

श्री शम्भूनाथ बहुगुना ने मीरा की मान्य जन्मतिथि तथा जीवनी पर आशंका प्रकट करके सोलहवीं शताब्दी के स्थान पर पन्द्रहवीं शताब्दी उनका आविर्भाव काल अनुमान किया है, रैदास को उनका गुरु सिद्ध करने के लिए उनके पति भोजराज के स्थान पर रायमल को उनका पति अनुमान किया है। उनके अनुसार मीरा को संत प्रणाली से हटाकर जबरदस्ती मध्यकालीन वैभवप्रिय कृष्णधारा में फेंक देना मीरा के विषय में अपने अज्ञान की सूचना देना है।

अनेक युक्तिपूर्ण तर्कों द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि मीरा के मान्य जीवन का इतिहास-भवन खण्डन तर्क पर टिका है। वह प्रमाण द्वारा तर्कों का समर्थन नहीं करता बल्कि जनश्रुतियों का भी सहारा ले लेता है। इसके अनुसार मीरा थोड़ी आयु में ही विधवा हो जाती है। बचपन में ही उनके माता-पिता की मृत्यु हो जाती है। परन्तु मीरा के काव्य में वैधव्य की छाया भी नहीं है और न माता-पिता की मृत्यु की ही वेदना है। प्रीतम प्यारे, अखण्ड सौभाग्य मीरा इत्यादि ऐसे शब्द हैं, जो वैधव्य के विरोधी हैं। मीरा अपने जेठ का उल्लेख करती है। इतिहास में भोज से बड़ी बहनें मिलती हैं, भाई नहीं। मीरा के काव्य में नन्द ऊदाबाई का नाम आता है। इतिहास उसके विषय में मौन है। मीरा अपने गुरु का नाम रैदास बताती है, पर इतिहास उसका उत्तर नहीं देता। मीरा ने संगीत-नृत्य की शिक्षा कहीं पाई थी, इस प्रश्न का उत्तर भी इतिहास नहीं दे पाता।

इन प्रश्नों के समाधान की चेष्टा लेखक ने मीरा को पन्द्रहवीं शताब्दी की मानकर करने की चेष्टा की है। परन्तु अन्तःसाक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध हो गया है कि मीरा राजा भोज की पत्नी थीं। मुन्शी देवीप्रसाद तथा गौरीशंकर हीराचन्द जी की ऐतिहासिक खोजों का केवल अनुमान के आधार पर खंडन नहीं किया जा सकता।'' '''

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने मीरा की मनोवृत्ति पर दोनों ही धाराओं का प्रभाव

माना है। उनके काव्य में आये हुए उल्लेखों के आधार पर ही उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि मीरा को श्री कृष्णावतार की निरी प्रेमिका मात्र ही ठहराना पूर्ण सत्य नहीं। इनकी रचनाओं में निर्गुण, निरंजन, अविनाशी इत्यादि सम्बोधन तथा उनका मिलन के लिए एक नितान्त भिन्न साधना की ओर संकेत इस बात को प्रमाणित करते हैं कि इन पर सन्त मत का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ चुका था। मीरा के काव्य पर निर्गुण तथा सगुण मत के प्रभाव का अनुपात उन्होंने सम माना है।

डा० ब्रजरत्न दास ने बड़े दृढ़ शब्दों में इस मत का खंडन किया है। उनके अनुसार मीरा के उपास्य देव का रूप कृष्ण का लीला रूप है, तथा उनकी साधना भी वैष्णव मत की माधुर्य भक्ति से प्रभावित है। कुछ स्थलों पर निर्गुण ब्रह्म तथा साधना का उल्लेख उनके सत्संग का प्रभाव मात्र है।

डा० श्रीकृष्णलाल का भी प्रायः यही मत है। उन्होंने मीरा द्वारा चित्रित आराध्य तथा साधना का परिचायक विश्लेषण देते हुए उनके आराध्य के मुख्य रूप को गिरधर गोपाल तथा साधना में मुख्य भक्ति को ही माना है। जब मध्य युग के अन्य भक्त ज्ञान तथा भक्ति के संघर्ष में भक्ति की विजय-स्थापना का प्रयास कर रहे थे तब मीरा इन सब वाद-प्रतिवादों से अलग, अनुभूति की तीव्रता में अपने अन्तर की वेदना और सुख की ही अभिव्यक्ति कर रही थी। उनकी भक्ति में, गेले चलत लागी चोट, जीवन पथ पर चलते हुए अचानक हृदय पर लगी हुई जो चोट व्यक्त है उसे ज्ञान से कम किस प्रकार कहा जा सकता है?

सन्तों ने खण्डन-मण्डन की रीति से सुधार करने का प्रयास किया। बाह्य आचारों तथा आडम्बरों को व्यंग्य तथा उपहास से मिटाने का प्रयास किया, पर मीरा को योग अथवा बाह्य आचारों से द्वेष नहीं, उन्हें किसी से घृणा नहीं। जिससे लगन लगी है उसी से मिलने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार है। कपड़ा रंगाना पड़े, पत्थर पूजना पड़े, आसन मारना पड़े, यहाँ तक कि काशी करवट भी लेना पड़े, तो कोई आपत्ति नहीं; वे केवल अपने गिरधर नागर के प्रति आसक्त हैं। मीरा ने मध्य युग की समस्त संकीर्णताओं का उल्लंघन कर विशुद्ध भक्ति-भावना का आदर्श उपस्थित किया।

इन सब तर्कों में केवल मीरा के काव्य में आये हुए निर्गुण संकेत ही ऐसे हैं, जिन पर एकाएक अविश्वास नहीं किया जा सकता। अनादि अनन्त ब्रह्म, जिनकी सेज गगनमंडल पर बिछी रहती है, तथा उनकी त्रिकुटि तथा सुन्न महल में शय्या बिछाने की आतुरता निर्गुण प्रभाव से खाली नहीं है, पर इन उल्लेखों का अनुपात इतना कम है कि मीरा की माधुर्य भक्ति के प्रबल प्रवाह में ये इधर-उधर से आकर मिल जाने वाली धारा के समान प्रतीत होते हैं। युग की अनेकमुखी विचारधाराओं के प्रभाव से सर्वथा वंचित रहना किसी भी व्यक्ति के लिए असम्भव है, मीरा के काव्य पर भी

अपने युग की छाप पड़नी आवश्यक थी। अनेक सन्तों के सम्पर्क में आकर उन्होंने जो कुछ भी उनसे ग्रहण किया, उसकी अभिव्यक्ति कृष्ण-प्रेम के उद्गारों में उन्हें मिलाकर उन्होंने कर दी, पर इन कुछ उल्लेखों के आधार पर उन्हें सन्त सम्प्रदाय की साधिका नहीं ठहराया जा सकता। ज्ञान और योग के इन संकेतों के अतिरिक्त युग की दूसरी विचारधाराओं के प्रभाव से यह बची नहीं हैं—योगी को सम्बोधित करके उन्होंने अनेक पद लिखे हैं। सन्त बाह्याडम्बर के विरुद्ध थे, पर मीरा तो अपने प्रभु की प्राप्ति के लिए सब कुछ करने को तत्पर हैं—

बाल की जटा बनाऊँ, अंगना भभूत लगाऊँ।
बाँधूँ चीर पहनूँ कंथा, जोगन बन जाऊँगी॥

इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ उनके पदों में मिलती हैं, जो केवल भावावेश में लिखी गई हैं, पर इनके आधार पर मीरा को नाथ सम्प्रदाय की योगिनी तो नहीं माना जा सकता।

वार्ताओं में मीरा के प्रति अनादर और उपेक्षा के शब्द उनके सन्त होने के साक्षी नहीं हैं, बल्कि वल्लभाचार्य के मत में दीक्षित न होने के कारण तथा प्रमाण हैं। वल्लभाचार्य के गुणगान को प्रभु का गुणगान न मानना उनके सन्त मत में आस्था की नहीं, गिरधर के प्रति उनके उत्कट प्रेम की परिचायक है। सूरदास के वैष्णव मत में दीक्षित हो जाने पर भी मीरा ने उसे ग्रहण नहीं किया, यह भी इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि मीरा ने किसी सन्त का शिष्यत्व स्वीकार किया।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने निर्गुण साधना तथा माधुर्य भक्ति का मीरा के पदों में समानुपात माना है, और इस आधार पर उन्हें निर्गुण धारा से यथेष्ट मात्रा में प्रभावित माना है। श्री बहुगुना के इतिहास सम्बन्धी तर्कों के खण्डन अथवा मण्डन की क्षमता इतिहासकार में ही हो सकती है, पर जब तक मीरा विषयक प्राप्त इतिहास अपनी मान्यता रखता है, उनके तर्कों का अधिक मूल्य नहीं।

मीरा को निर्गुण सम्प्रदाय में न मानने वाले आलोचकों पर उन्होंने जो रोषपूर्ण उद्गार प्रकट किये हैं उनमें उत्तेजना और आवेश अधिक है, बुद्धि और तर्क कम। उनके शब्दों में व्यक्तिगत रोष की गन्ध अधिक है। श्री ब्रजरत्न दास का एकपक्षीय निर्णय भी अन्यायमूलक है। मीरा निर्गुण प्रभाव से अछूती थी, ऐसा कोई नहीं कह सकता; उन्होंने स्वयं एक स्थल पर मीरा के उद्धरणों में निर्गुण प्रभाव का संकेत किया है, पर आगे चलकर लिखा है कि मीरा के काल पर निर्गुण सम्प्रदाय का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। डा० श्रीकृष्णलाल का मत सन्तुलित तथा समन्वित है। मीरा के काव्य की माधुरी में सन्तों की साधना का पुट तो है, पर इतना गहरा नहीं कि उसके सामने माधुर्य की सरसता गौण पड़ जाय।

वैष्णव मत तथा मीरा—वैष्णव धर्म के इतिहास तथा विकास की रूप-रेखा बनाना भारतीय धार्मिक इतिहास का एक उलझा हुआ विषय है। अनेक विद्वानों में इस विषय में अनेक मतभेद हैं, परन्तु सब विद्वानों के मतों के सारवस्तु के आधार पर वैष्णव धर्म की संक्षिप्त रेखा तथा उत्तर भारत में उसके प्रचार का इतिहास इस प्रकार है—

गुप्तकाल वैष्णव भक्ति तथा भागवत धर्म का स्वर्णकाल था। गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ ही उत्तरी भारत में वैष्णव मत के ह्रास की कहानी प्रारम्भ होती है। शैव तथा बौद्ध धर्म का प्राबल्य तथा हर्षवर्धन ऐसे शक्तिशाली राजाओं द्वारा उनका संरक्षण वैष्णव धर्म के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ। उत्तर भारत में यद्यपि इस धर्म की लहर दब गई, पर दक्षिण भारत में इसका प्रचार बढ़ता ही गया। दक्षिण के आडवार भक्तों के तमिल गीतों में ईसा की सातवीं से नवीं शती में वैष्णव धर्म के बीज अंकुरित दिखाई देते हैं। उन्होंने लगभग चार सहस्र गीतों की रचना तमिल भाषा में की थी, जो प्रबन्ध के नाम से संगृहीत मिलते हैं। इन आडवार भक्तों के सिद्धान्त, उनके पश्चात् प्रचारित वैष्णव सम्प्रदाय की अनेक शाखाओं की पृष्ठभूमि स्वरूप है।

मीरा के काव्य की वैष्णव पृष्ठभूमि को समझने के लिए वैष्णव मत के अनेक सम्प्रदायों के मुख्य सिद्धान्तों से परिचय आवश्यक है। इस दृष्टि से दसवीं तथा ग्यारहवीं शती के माधव सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय और पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी के वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदायों पर तद्विषयक प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

माध्व सम्प्रदाय—माध्वाचार्य इस मत के प्रमुख आचार्य थे। इस मत के अनुसार परमात्मा साक्षात् विष्णु हैं। परमात्मा अनन्त गुण परिपूर्ण हैं। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्धन तथा मोक्ष इन आठों के कर्त्ता भगवान् ही हैं। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही उनके शरीर हैं। वे एक होकर भी नाना रूप धारण करते हैं। इनके समस्त रूप परिपूर्ण हैं—

अवतारायो विष्णोः सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिताः
पूर्णं च तत परं पूर्णं पूर्णात पूर्जा पूर्णात पूर्जा समुदताः
न देश काल सामर्थ्यं पारा वर्य कथंचन।

लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है। वह परमात्मा के ही अधीन रहती है अतः उससे भिन्न है। परमात्मा के समान लक्ष्मी भी अप्राकृत देहधारिणी है। परमात्मा देश-काल तथा गुण इन तीनों वस्तुओं द्वारा अपीच्छल है, परन्तु लक्ष्मी गुण में न्यून होते हुए भी देश और काल की दृष्टि से परमात्मा की भाँति ही व्यापक है।

द्वावेव नित्य मुक्तौ तु परमः प्रकृति स्तथा ।
देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभाव जो ॥

जीव अज्ञान, मोह, दुःख, भय इत्यादि दोषों से मुक्त तथा संसारशील होते हैं। संसार में प्रत्येक जीव का व्यक्तित्व पृथक् होता है। वह अन्य जीवों से भिन्न है तथा परमात्मा से तो सर्वथा भिन्न है। संसार दशा में ही उसका अस्तित्व नहीं रहता प्रत्युत् मुक्तावस्था में भी वह विद्यमान रहता है। मुक्त पुरुष आनन्द का अनुभव अवश्य करता है, परन्तु माध्वमत में आनन्दानुभूति में भी परस्पर तारतम्य है।

मुक्ता प्राप्य परं विष्णुं तंद्देह संश्रिता अपि ।
तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः ॥

मुक्त जीवों के ज्ञान आदि गुणों की ही भांति उनके आनन्द में भी भेद है। यह सिद्धान्त माध्व मत की विशेषता है। जीव तथा ब्रह्म के परम साम्य में प्राचुर्य है अभेद नहीं।

जीवस्य तादृशत्वं च चित्व मात्रं न चापरम् ।
तावन्मात्रेण चाभासो रूपमेषां चिदात्मनाम् ॥

माध्वाचार्य के मत का संक्षिप्त परिचय इस पद्य में मिल जाता है :

श्री मन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत तत्वतो ।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्च भावं गताः ॥
मुक्ति नैज सुखानुभूति रमला भक्तिश्च तत्साधना ।
मक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नयैकवेद्यो हरिः ॥

निम्बार्क मत—इस मत में भी ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप से की गई है। वह समस्त प्राकृत दोषों से रहित और अशेष ज्ञान, बल आदि कल्याण गुण से युक्त है। इस संसार में जो कुछ दृष्टिगोचर अथवा श्रुतिगोचर है नारायण उसके भीतर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता है—

यच्च किंचज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयते पि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्व व्याप्य नारायणः स्थितः ॥

जीव और ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध स्वाभाविक और प्रत्येक दशा में नियत हैं। वृद्धावस्था में व्यापक अप्रच्युत स्वभाव तथा सर्वज्ञ ब्रह्म से अणुपरिणाम अल्पज्ञ जीव के भिन्न होने पर भी वृक्ष से पत्र, प्रदीप से प्रभा, गुणी से गुण तथा प्राण से इन्द्रिय के समान पृथक् स्थिति और पृथक् प्रवृत्ति न होने के कारण वह उससे अभिन्न भी है। मोक्ष-दशा में भी इसी प्रकार ब्रह्म में अभिन्न होने पर भी जीव-स्वरूप की प्राप्ति करता है और अपने व्यक्तित्व को खो नहीं डालता।

प्रपत्ति से ईश्वर अनुग्रह जीवों पर होता है तथा अनुग्रह से ब्रह्म के प्रति

नैसर्गिक अनुरागमयी भक्ति का उदय होता है। यह भक्ति भगवत्साक्षात्कार को उत्पन्न करती है जिससे जीव भगवद्भाव मग्न होकर सब क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

निम्बार्क के मत में चित्त या जीव ज्ञान-स्वरूप है, उसका स्वरूप ज्ञानमय है। जीव कर्त्ता है। प्रत्येक दशा में जीव में कर्त्तव्य का सद्भाव है। जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिए ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के समान होने पर भी जीव में एक विशेष गुण रहता है—नियम्यत्व। ईश्वर नियन्ता है, जीव नियम्य है। ईश्वर के वह सदा अधीन है, मुक्त दशा में भी यह ईश्वर के आश्रित रहता है। वह हरि का अंश रूप है।

माध्वाचार्य तथा निम्बार्क के इन्हीं सिद्धान्तों का विकास पन्द्रहवीं शती में वल्लभाचार्य तथा चैतन्य द्वारा किया गया। वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से विख्यात् है। इसके अनुसार ब्रह्म माया से अलिप्त अतः नितान्त शुद्ध है। इसीलिए इसका नाम शुद्धाद्वैत है। इस मत में ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट अंगीकृत किया गया है। उनके मतानुसार ब्रह्म तीन प्रकार का होता है—(१) आधिदैविक परब्रह्म, (२) आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म और (३) आधिभौतिक जगत्। अतः जगत ब्रह्मरूप ही है। कार्य-कारण में भेद न होने से कार्य रूप जगत् कारण रूप ब्रह्म ही है। जिस प्रकार लपेटा हुआ कपड़ा फैलाने पर वही रहता है उसी प्रकार आविर्भाव दशा में जगत् तथा तिरोभाव रूप में ब्रह्म एक ही हैं, भिन्न नहीं। जगत् का आविर्भाव काल केवल लीलामात्र है अतः जगत् ब्रह्म रूप है।

भगवान् की रमण करने की जब इच्छा होती है, तब वे अपने आनन्द इत्यादि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस व्यापार में क्रीड़ा की इच्छा ही प्रधान कारण है माया का इससे रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इस मत में जीव ज्ञाता ज्ञान स्वरूप तथा अणु रूप है। भगवान् के सत् अंश से जड़ का निर्गमन होता है तथा चित् अंश से जीव का निर्गमन होता है। जड़ के निर्गमन में चित् अंश तथा आनन्दांश का तिरोभाव रहता है। जीव की ब्रह्म से भिन्न सत्ता है। संसारी दशा में जब पुष्टि मार्ग के सेवन में भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों के ऊपर होता है तब उनमें तिरोहित आनन्द के अंश का पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्त अवस्था में जीव आनन्द अंश को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है। तत् त्वमसि महावाक्य इसी अद्वैत भावना का प्रतिपादन करता है।

पुष्टि मार्ग—भगवान् की प्राप्ति का सरलतम उपाय केवल भक्ति है। कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग साधना के तीन रूप हैं जिनमें भक्ति के द्वारा ही

परब्रह्म सच्चिदानन्द की उपलब्धि होती है। वल्लभाचार्य जी का आचार-मार्ग पुष्टि-मार्ग कहलाता है। भागवत में पुष्टि या पोषण का अर्थ भगवान् का अनुग्रह है। अतः भगवदनुग्रह को मुक्ति का प्रधान कारण मानने के कारण ही इसको पुष्टि मार्ग कहते हैं। भक्ति दो प्रकार की होती है—मर्यादा भक्ति तथा पुष्टि भक्ति। भगवान् के चरणों की भक्ति मर्यादा भक्ति है तथा मुखारविन्द की भक्ति पुष्टि भक्ति है। मर्यादा भक्ति में फल की अपेक्षा बनी रहती है तथा सायुज्य की प्राप्ति होती है, परन्तु पुष्टि भक्ति में किसी प्रकार के फल की आकांक्षा नहीं होती।

चैतन्य मत—चैतन्य तथा वल्लभाचार्य समसामयिक थे। इस मत के अनुसार भगवान् विज्ञानानन्द विग्रह हैं, उनमें अनन्त गुणों का वास है। गुणी तथा गुण का अस्तित्व अभेद रहता है अतः अनन्त गुण भगवत्स्वरूप से पृथक् नहीं है। शंकराचार्य के मत की भाँति चैतन्य मत में भी ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य है, वह अखंड सच्चिदानन्दात्मक पदार्थ है। भगवान् अचिन्त्याकार अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं, परन्तु उनकी तीन शक्तियाँ मुख्य हैं—स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति, और माया शक्ति। इन तीनों शक्तियों के समुच्चय को पराशक्ति कहते हैं। भगवान् स्वरूप शक्ति से जगत् के निमित्त कारण और माया जीव शक्तियों से उपादान कारण हैं। इस प्रकार माध्वमत के विपरीत वे केवल निमित्त न होकर अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। जगत् में धर्म की अभिवृद्धि तथा अधर्म के विनाश के लिए भक्तों की रुचि के अनुसार यही भगवान् भिन्न-भिन्न अवतार धारण कर प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, अवतार नहीं—कृष्णस्तु भगवान स्वयं।

इस मत के अनुसार भी भगवान् को अपने वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति है। भक्ति के द्वारा भक्त न केवल भगवत-प्रसाद को ही प्राप्त कर लेता है बल्कि भगवान् को अपने वश में कर लेता है। भगवान् के दो रूप हैं—ऐश्वर्य, जिसमें उनके परमैश्वर्य का विकास होता है तथा माधुर्य जिसमें नरतनुधारी भगवान् मनुष्य के समान ही चेष्टा किया करते हैं। ऐश्वर्य का ज्ञान माधुर्य के ज्ञान से भिन्न है। ऐश्वर्य ज्ञान से सम्पन्न जीव भगवत-सान्निध्य में स्वकीय भाव को भूलकर सम्भ्रम तथा आदर के भाव से अभिभूत हो जाता है। माधुर्य ज्ञान से सम्पन्न होने पर प्रेम, वात्सल्य, सख्य आदि भावों को खो नहीं बैठता। भक्ति दो प्रकार की है—विधि भक्ति तथा रागात्मक भक्ति। विधि भक्ति में भक्ति-शास्त्र-निर्दिष्ट उपायों का अवलम्बन होता है। रागात्मिका भक्ति अधिक श्रेयस्कर है। इसमें भक्त भगवान् को प्रियतम रूप में ग्रहण करता है तथा अलौकिक आनन्द का आस्वादन करता हुआ भगवत-धाम को प्राप्त करता है।

भगवत्प्रीति भगवान् की आनन्द रूपाह्लादिनी शक्ति है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों की सेवा का आनन्द-लाभ वैष्णव सम्प्रदाय में मोक्ष से भी बढ़कर माना गया है। इस भक्ति की सांगोपांग कल्पना चैतन्य मत की विशिष्टता है। चैतन्य मत का रूपाभास श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती के इस पद से प्राप्त होता है :

आराध्यो भगवान् ब्रजेश तनयस्तद्धाम बृन्दावन,
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधु वर्गेजया कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाण ममन्न पेमा पुमर्थो महान्,
श्री चैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

वैष्णव मत के सम्प्रदायों के प्रति मीरा का दृष्टिकोण—मीरा की अनुभूतिमूलक साधना का विकास किसी विशेष सम्प्रदाय के प्रश्रय में हुआ था या नहीं यह कहना कठिन है, पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अपने समय की अनेक आध्यात्मिक धाराओं के प्रभाव से वह वंचित नहीं रहीं। वृन्दावन आने के पूर्व ही उनको भक्ति की पूर्ण अनुभूति के साथ-साथ उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि से पूर्ण परिचय प्राप्त हो चुका था। वृन्दावन में श्री जीव गोस्वामी से उनके प्रथम साक्षात्कार के समय कही गई उक्ति इस बात का पूर्ण प्रमाण है। इस भेंट की कहानी अनेक रूपों में प्रचलित है जिन सब का सारांश यह है कि मीरा वृन्दावन में भक्त-शिरोमणि श्री जीव गोस्वामी से मिलने के लिए गईं। गोस्वामी ने उनसे उनके स्त्री होने के कारण मिलने से इन्कार कर दिया। मीराबाई ने कहला भेजा कि मैं तो समझती थी कि वृन्दावन में श्रीकृष्ण ही एक पुरुष हैं, पर यहाँ ज्ञात हुआ कि उनका एक और प्रतिद्वंद्वी उत्पन्न हो गया है। माधुर्य भाव से युक्त इस प्रेमपूर्ण उत्तर से जीवगोस्वामी ने बहुत लज्जित होकर उनसे क्षमा माँगी। इस प्रकार का अकाट्य तर्क भक्ति की दार्शनिक पृष्ठभूमि से अनभिज्ञ व्यक्ति द्वारा नहीं दिया जा सकता।

तत्कालीन वैष्णव ग्रंथों में मीरा के प्रति अनेक प्रशंसात्मक तथा निन्दापूर्ण उल्लेख मिलते हैं। प्रसिद्ध वैष्णव नाभादास कृत भक्तमाल तथा ध्रुवदास कृत भक्तनामावली में जहाँ उन्हें भक्ति रस की प्रतीक गोपियों की अवतार माना गया है वहीं चौरासी वैष्णवन की वार्ता में उनके विषय में इस प्रकार के प्रसंगों का उल्लेख है—

१. "एक दिन मीराबाई के श्री ठाकुरजी के आगे रामदास जी कीर्तन करते हुए सो रामदास जी श्री आचार्य महाप्रभून के पद गावत हुते, तब मीराबाई बोली, जो दूसरो पद ठाकुर जी के गावो, तब रामदास जी ने कह्यो मीराबाई सौं, अरे दारी! ये रांड कौन के पद हैं। यह कहा तेरे खसम को मूड़ है। जा, आज से तेरे मुहणों कबहुं न देखूंगो। तब तहाँ से सब कुटुम को लेके रामदास जी उठ चले। मीराबाई ने बहुत बुलाये परि वे आये नहीं।"

"तब घर बैठे भेंट पठाई सोऊ फेरि दीनी और कह्यो जो रांड तेरी श्री आचार्य जी महाप्रभून ऊपर ममत्व नहीं, तो हमको तेरी वृत्ति कहा करनी है ।"

२. "सो वे कृष्णदास एक बेर द्वारिका गये हुते, सो श्री रणछोर जी के दर्शन करिके तहाँ ते चले सो आपन मीराबाई के गाँव आये, सो वे कृष्णदास मीराबाई के घर गये तहाँ हरिवंश, व्यास आदि विशेष वैष्णव हुते । मीराबाई ने कहो जो बैठो तब कितनेक मोहर श्रीनाथ जी के देन लागी, सो कृष्णदास ने न लीनी और कह्यो जो तू श्री आचार्य जी महाप्रभून की सेवक नाहीं होत ताते तेरी भेंट हम हाथ ते छूवेंगे नाहीं, सो ऐसे कहि के कृष्णदास उहाँ ते उठि चले ।"

३. "एक समय गोविन्द दुबे मीराबाई के घर हुते, तहाँ मीराबाई सो भगवत-वार्ता करत अटके । तब श्री आचार्य जी ने सुनी जो गोविन्द दुबे मीराबाई के घर उतरे हैं सो अटके हैं तब श्री गोसाईं जी ने एक श्लोक लिखि पठायो । सो एक ब्रजवासी के हाथ पठायो । जब वह ब्रजवासी चल्यो सो वहाँ जाय पहुँचो ता समय गोविन्द दुबे तत्काल उठे तब मीराबाई ने बहुत समाधान कीयो परि गोविन्द दुबे ने फिर पीछे न देखो ।"

इन उल्लेखों से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि मीराबाई ने वल्लभ मत की दीक्षा कभी नहीं ली । कृष्णदास के उल्लेख से पता चलता है कि द्वारिका जाने के पश्चात् भी उन्होंने इस मत की दीक्षा नहीं ली । वार्ता का दृष्टिकोण काफी पक्षपात-मय रहा है । वल्लभ सम्प्रदाय के महत्त्व प्रचार के लिए उसके अनेक अलौकिक तथा अतिप्राकृत घटनाओं का विवरण है तथा इस सम्प्रदाय से अलग रहने वाले भक्तों के प्रति इनका दृष्टिकोण संकुचित ही नहीं गर्हित भी दिखाई देता है । मीराबाई के विषय में इस प्रकार के उल्लेख स्वयं उनकी हीन भावना के व्यक्तीकरण हैं ।

मीरा की विह्वल अनुभूतियाँ चैतन्य की माधुर्य भक्ति की तन्मयता के अधिक निकट थी । वल्लभ के उपास्य का प्रधान रूप बालक था । वात्सल्य तथा सख्य भाव भी उतने ही प्रधान थे जितना माधुर्य । परन्तु चैतन्य के माधुर्य के अतुल प्रवाह के समक्ष उनके माधुर्य का वेग अन्य भावनाओं के समीकरण के कारण बन्द था । मीरा ने कृष्ण की कल्पना युवा रूप में की थी । किशोर कृष्ण उनके उपास्य थे तथा शृंगार-मयी भक्ति ही उनकी उपासना थी । इन भावनाओं का साम्य वल्लभ मत में नहीं, चैतन्य मत में था । बालकपन से जमी हुई भावनाएँ राजस्थान के मंदिरों में अंकुरित तथा पल्लवित होकर वृन्दावन के मुक्त वातावरण में आकर कुसुमित हुईं । चैतन्य के दो शिष्यों, श्री रूप गोस्वामी तथा श्री सनातन गोस्वामी, ने वृन्दावन में अपने गुरु के मत का बहुत प्रचार किया । सनातन के छोटे भाई बल्लभ के पुत्र श्री जीव गोस्वामी थे । उनका नाम चैतन्य मत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है । इन्होंने

भक्ति सम्बन्धी अनेक ग्रंथों की व्याख्या की। भक्तिरसामृत सिन्धु पर दुर्गम संगमनी तथा भागवत पर क्रम सन्दर्भ व्याख्या लिखी। इसके अतिरिक्त भागवत संदर्भ में भागवत सम्मत भक्ति तथा भगवान् के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया। जीव गोस्वामी तथा मीरा की भेंट, मीरा का उनके साथ सत्संग, तथा वृन्दावन की प्रथम भेंट की कटुता की प्रतिक्रियास्वरूप उनका सामंजस्य यह प्रमाणित करता है कि उनकी अनुभूतियाँ चैतन्य मत के सिद्धान्तों के बहुत निकट थीं। चैतन्य मत के उपास्य का मधुर रूप तथा माधुर्य भक्ति की विह्वलता तथा तन्मयता मीरा के जीवन की विभूति थी।

वार्त्ताओं में यह स्पष्ट उल्लेख है कि मीरा भगवत वार्त्ता में अपना बहुत समय लगाती थीं। कृष्णभक्ति की दार्शनिक पृष्ठभूमि से मीरा अनभिज्ञ थीं ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, पर दार्शनिक विवेचनाओं के बौद्धिक पक्ष में उनकी प्रगाढ़ अभिरुचि की कल्पना भी की नहीं जा सकती। भक्ति का बाह्य रूप हृदय-प्रधान है, बुद्धि-प्रधान नहीं। रागात्मिकता भक्ति में अन्तर्निहित, जीव तथा ब्रह्म की विवेचना उनके जीवन के निकट नहीं, केवल उसकी अभिव्यक्ति में ही उन्हें अपनी भावनाओं का तादात्म्य मिलता था। भजन, कीर्तन, नृत्य, संगीत तथा काव्य में उनकी अनुभूतियाँ व्यक्त हैं, बौद्धिक विश्लेषण नहीं। यहाँ तक कि आलम्बन के रूपांकन में भी बौद्धिक विश्वास नहीं अनुभूतियाँ ही हैं। चेतना के नेत्र खोलते ही वैष्णव परिवार के स्निग्ध वातावरण से उन्हें कृष्ण अपने जीवन के प्रधान अंग के रूप में मिले। तात्पर्य यह कि वैष्णव मत के विभिन्न सम्प्रदायों में जीव तथा ब्रह्म के सम्बन्ध की विवेचना ब्रह्म के रूप-निर्णय में मतभेद इत्यादि ऐसे विषय नहीं थे जो मीरा के हृदय तथा जीवन के निकट थे। संतों के सम्पर्क तथा सत्संग से इन विषयों का पर्याप्त ज्ञान तो उन्हें अवश्य हो गया था, पर वह उनकी साधना का मुख्य अंग नहीं था।

माधुर्य भावना उनके हृदय की प्रत्यक्षानुभूति थी। वल्लभ सम्प्रदाय की अपेक्षा इस भावना का अनुपात चैतन्य मत में अधिक है, अतः मीरा का इस मत की ओर आकर्षण स्वाभाविक था। परन्तु मीरा ने कभी किसी मत की दीक्षा नहीं ली। वल्लभाचार्य तथा उनके शिष्यों के नाना प्रयत्नों के उपरान्त भी इन्होंने यह मत नहीं ग्रहण किया। वैष्णव मत के विभिन्न सम्प्रदायों की पारस्परिक प्रतियोगिता प्रचार तथा प्रसार के लिए विषम प्रयत्न उन भक्तों के अपार्थिव माधुर्य में घुले हुए विष के समान थे। मीरा की विमल गाथा राजस्थान की सीमा को पार कर समस्त उत्तरापथ में फैल गई थी, तथा उनकी द्वारिका-यात्रा के पश्चात् दक्षिण में भी उनका यश सुरभित होने लगा था। किसी सम्प्रदाय में उनका दीक्षित होना उसके विजय की सबसे महान् घोषणा होती, पर मीरा की साधना किसी सम्प्रदाय के बन्धन में नहीं

बँधी। उनकी विशालता ने सबका आदर किया, पर अपने को खोकर नहीं। वल्लभ मत, चैतन्य तथा राधावल्लभ मत के मानने वाले अनेक साधु उनके मंदिर में वास करते, उनके साथ भगवद्वार्त्ता करते थे। सबके प्रति उनका समभाव था। हाँ, चैतन्य देव की विरहाकुल अनुभूतियों, तन्मय भावनाओं तथा माधुर्य कल्पनाओं में उन्हें अपने मन की छाया का आभास होता होगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

चैतन्य का स्पष्ट प्रभाव उनकी रचनाओं में दिखाई देता है। उनके द्वारा रचित चैतन्य महाप्रभु की स्तुति भी उनके प्रभाव का पूर्ण प्रमाण है—

अब तो हरि नाम लौ लागी।
सब जग को यह माखनचोरा नाम धर्यो वैरागी॥
कहँ छोड़ी वह मोहन मुरली कहँ छोड़ी वह गोपी।
मूंड मुंडाई डोरि कटि बाँधी मोहन माथे टोपी॥
मातु जसोमति माखन कारण बाँध्यो जाको पाँव।
श्याम किशोर भये नवगोरा चैतन्य जाको नाँव॥
पीताम्बर के भाव दिखावे कटि कोपीन कसे।
दास भक्त की दासी मीरा रसना कृष्ण बसे॥

चैतन्य मत के सिद्धान्तों तथा भावनाओं के पूर्ण साम्य की उपस्थिति में भी उन्होंने उक्त मत के किसी आचार्य से दीक्षा नहीं ली। अपनी भावना को किसी विशेष प्रणाली या पद्धति में नहीं बाँधा। गिरधरनागर से मिलन और उनमें लय की उत्कंठा उनके जीवन का ध्येय था। उस ध्येय की पूर्ति ही उनका लक्ष्य था और उस लक्ष्य की प्राप्ति के जितने साधन उन्हें दिखाई दिये उन्होंने अपनी रुचि तथा सामर्थ्य के अनुकूल सभी को ग्रहण किया। सुरत निरत का दिवला संजोकर गगनमंडल में लगी शय्या पर पौढ़ने के लिए वह आकुल हो उठीं। नटवर नागर कृष्ण से मिलने के लिए अपने हृदय का समस्त माधुर्य बिखेर दिया। अविनाशी ब्रह्म के चरणों में लय हो जाने के लिए याचना के करुण स्वर में गा उठीं तथा योगी रूप प्रियतम की प्राप्ति के लिए भगवा वेश धारण करने को भी सनद्ध हो गई। इस प्रकार उन्होंने प्रायः सभी मतों से कुछ-न-कुछ ग्रहण कर उसे अपने माधुर्य अभिषिक्त हृदय से समन्वित कर उसकी अभिव्यक्ति अपने गीतों तथा पदों में की। अपार्थिव से सम्बन्ध होते हुए भी लौकिक स्तर पर स्वार्थ से टकराने वाले जंजालों के फंदे में वह नहीं पड़ीं। उनका कोई सम्प्रदाय न था। जन्म से अलौकिक प्रेम का वरदान लेकर वह बड़ी हुई। परिस्थिति ने इस जन्मजात प्रवृत्ति को विकास का अवसर दिया, जो सांसारिकता के सब बन्धनों को तोड़ती, मिलन की पूर्ण अनुभूति पाने की चेष्टा में आगे बढ़ती गई। मार्ग में जो कुछ मिला उसने ग्रहण किया, जो रोड़े बनकर अड़े उसके दृढ़ पगों ने उन्हें हटा-

कर अपना मार्ग बनाया। उनकी अनुभूतियाँ ही प्रेरक तथा पोषक थीं। भावनाओं की मुक्त अभिव्यक्ति की इच्छा सम्प्रदायों के बन्धन कैसे स्वीकार करती। स्वेच्छित इष्ट की कल्पना तथा स्वच्छन्द भावनाओं की अभिव्यक्ति की अभिलाषा सदैव मुक्त रही।

मीरा के आराध्य का रूप—मीरा के भगवान् के रूप में मूर्त्त तथा अमूर्त्त, निराकार तथा साकार और पार्थिव अपार्थिव का अद्भुत सम्मिलन है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मीरा ने प्रायः प्रत्येक मत से कुछ-न-कुछ ग्रहण किया। उनके आराध्य के रूप में भी इस बात का पूर्ण प्रमाण मिलता है। माधुर्य भाव तथा गिरधरनागर के नटवर रूप की मौलिकता में अनेक सम्प्रदायों के विचारों का पुट देकर उन्होंने अपनी उदारता का परिचय तो दिया, पर इस प्रकार उनके द्वारा अभिव्यक्त उनके गिरधरनागर के रूप में अनेक विचित्रतायें आ गईं। उनके आराध्य में लौकिकता तथा अलौकिकता की छाप स्पष्ट है। निर्गुण तथा सगुण दोनों ही रूपों में यह दो भावनाएँ मिलती हैं। आराध्य का वह रूप, जिस पर संतों के निराकार की छाप है, नैसर्गिक है। दूर—बहुत दूर—ऊँचे प्रासाद का वासी उनका प्रियतम है :

"मीरा मन मानी सुरत सैल आसमानी"

जिनकी शय्या गगनमंडल पर लगी हुई है जो दूर रहते हुए भी अन्तर में वास करता है तथा जिसे अपने नयनों में बसाकर त्रिकुटी के गवाक्ष में प्रतीक्षा की घड़ियाँ बिताकर वह शून्य महल में सुख की शय्या बिछाना चाहती है—

नयनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री।

उनके आराध्य का यह अलौकिक रूप अरूप तथा अनुपम है जिस पर निर्गुण धारा के संत मत का पूर्ण प्रभाव है।

मीरा के आराध्य का दूसरा निर्गुणपंथी रूप पूर्णतया लौकिक है। जिस योगी के प्रेम में वह व्याकुल हैं वह एक साधारण योगी है, जो उनके मन में प्रेम की अग्नि लगाकर चला गया है। इस आराध्य के प्रति अनुभूति की तीव्रता के साथ उनके प्रेम के मूल में योगी के सौन्दर्य, गुण तथा निष्ठुरता का चित्रण प्रधान है। डा० श्री कृष्ण लाल ने मीरा के योगी रूप आराध्य का सम्बन्ध नाथ सम्प्रदाय से जोड़ा है। उनके अनुसार मीरा ने योगेश्वर कृष्ण से इन नाथ सिद्धों के योगी भगवान् को मिलाकर अपने गिरधर को योगी रूप में चित्रित किया।

गीता के योगेश्वर कृष्ण का रूप सेल्ही और भभूत रमाने वाले रमते जोगी

का नहीं था, इसमें कोई सन्देह नहीं है; पर राजस्थान में कुछ स्थानों में प्रचलित नाथ-पंथ के योगियों के आराध्य को मीरा ने योगेश्वर कृष्ण से मिला दिया, ऐसा कहना अनुचित है। मीरा के नैसर्गिक व्यक्तित्व के साथ लौकिक भावना के सम्बन्ध स्थापन से यद्यपि हमारी निष्ठा तथा विश्वास पर गहरा आघात लगता है, पर उनकी अनुभूतियों के आलम्बन जोगी के रूप की स्पष्ट लौकिकता के प्रति निरपेक्षता सत्य की उपेक्षा होगी। कृष्ण के विराट तथा लीला रूप ही भारतीय आध्यात्मिक जगत् में प्राचीन काल से मान्य रहे हैं। महाभारत तथा गीता के कृष्ण राजनीतिज्ञ, सिद्ध पुरुष तथा महान् व्यक्ति हैं। भागवत के कृष्ण का रूप लीला प्रधान है। मीरा बचपन से ही कृष्ण के स्वप्न देखती आ रही थी—यह सत्य है तथा इसी सत्य पर दृढ़ आस्था के कारण ही उनके प्रेम तथा आराध्य की अलौकिकता में अकस्मात् लौकिकता का आरोपण करने का साहस नहीं होता, पर सत्य की उपेक्षा भी असम्भव है।

योगी के प्रति लिखे गये पदों में उनकी चिर-परिचित माधुर्य भावना तथा आराध्य का मधुर रूप सर्वत्र नहीं मिलता। इनकी परिष्कृत नग्नता मीरा के प्रेम में रंजित होकर भी लुप्त नहीं हो पाई है। भावना तथा साधना की इस विषमता के कारण इनके प्रक्षिप्त होने का अनुमान होता है, परन्तु भाषा तथा शैली पर मीरा के अन्य पदों की-सी छाया होने से अकस्मात् यह अनुमान भी तर्कसंगत मालूम नहीं होता। डा० श्रीकृष्णलाल के अनुसार यदि उपास्य के योगी रूप की कल्पना पर नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव मान लें तो भी पदों के लौकिक संकेत जिज्ञासा को शान्त करने में असमर्थ रहते हैं। वह जोगी, जिसने आकर उनके नगर में वास किया है, जिसने हिल-मिलकर मीठी बातें बनाई हैं तथा परदेश जाकर उन्हें भूल गया है, जिसकी प्रीति उनके लिए दुःख का मूल बन गई है—

जोगिया री प्रीतड़ी दुखड़ा रो मूल।
हिल मिल बात बनावत मीठी पीछे जावत भूल॥

यह जोगी आध्यात्मिक जगत् का आदर्श पुरुष है, सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार घर-घर डोलने वाला चढ़ती वयस और अनियारे नेत्रों वाला योगी परम ब्रह्म का प्रतीक है, इसकी कल्पना कठिन मालूम होती है और समस्त विश्वास तथा आस्था की नींव हिलाकर एक ऐसे रमते योगी का दृश्य नेत्रों में आ जाता है जिसके लिए मीरा योगिनी बनने को तैयार थीं जिसके वियोग में विह्वल हो वह गा उठी थीं—

जोगिया जी छाइ रहा परदेस।
जब का बिछड़ा फेर न मिलिया बहुरि न दियो संदेस।
भगवा भेख धरूँ तुम कारण ढूँढ़त च्यारूँ देस॥

इन पदों से यदि मीरा का नाम हटा दिया जाय तो ये गीत भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में प्रचलित जोगियों को सम्बोधित करके गाये जाने वाले लोकगीतों से अधिक भिन्न नहीं हैं।

मीरा के आराध्य का प्रधान रूप है कृष्ण का लीलामय रूप। यह वही रूप है जो उनके बालकाल में ही उनके हृदय पटल पर अंकित हो चुका था। नारी-हृदय सौन्दर्यप्रिय होता है। कृष्ण-चरित्र के अन्य अंगों की अपेक्षा उनके सौन्दर्य ने ही उन्हें बहुत आकर्षित किया है। उनके आराध्य नन्दलाल हैं जिन्हें अपने नेत्रों में बसा लेने को उत्सुक वह गा उठी थीं—

मोहिनी मूरति, साँवली सूरत, नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजत उर बैजंतीमाल।
क्षुद्र घंटिका कटि तट शोभित नूपुर शब्द रसाल।

यह कृष्ण का चिर-कल्पित रूप है, जिनके सौन्दर्य की चेष्टा में बड़े-बड़े कवियों ने अलंकारों की राशि खड़ी कर दी है। पर मीरा के श्याम की सजीवता अनुपम है। लीला और सौन्दर्य पुरुष कृष्ण के चित्रण के भी लौकिक तथा अलौकिक दो पक्ष हैं। अलौकिक रूप की कल्पना अनुभूतिमूलक है। नटवर कृष्ण, जोगी की भाँति प्रबन्ध न करके उन्हें छोड़ नहीं गये बल्कि वह उनकी अनुभूति के अणु-अणु में समाये हुए हैं। विरहानुभूति जहाँ तन्मयता की चरम सीमा पर पहुँच गई है उनकी विह्वलता अत्यन्त करुणाजनक हो गई है। उनके आराध्य का प्रधान सगुण रूप उस किशोर नन्दलाल का है जिसके सौन्दर्य का जादू गोपिका को बेसुध बना देता है। जिसके रूप का नैसर्गिक प्रभाव उसे कृष्णमय बना देता है, और ब्रज में दधि बेचने वाली गोपिका प्रेम की तन्मयता में कृष्ण को बेचने की ही पुकार करने लगती है—

लै मटुकी सिर चली गुजरिया आगे मिले बाबा नन्द जी के छौना।
दधि को नाम बिसरि गई प्यारी ले लेहु री कोई श्याम सलोना।
मीरा के प्रभु गिरधरनागर सुन्दर श्याम सुधर रस लोना॥

इस लीला रूप के अतिरिक्त कृष्ण के विराट रूप के प्रति भी उनकी पूर्ण आस्था है। कृष्ण के इस गरिमामय रूप की उपासना में याचना तथा विनय है। यह गोपाल वह अनन्त शक्ति है जिनकी कृपा की एक कोर से अजामिल, गणिका तथा सदन की भाँति महान् पापी भी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। वह अवतार पुरुष हैं, अधम उधारन हैं—

हमने सुनी है हरि अधम उधारण।
अधम उधारण सब जग तारण।
गज की अरज गरज उठि आये संकट पड़े तब कष्ट निवारण॥

द्रुपद सुता को चीर बढ़ायो दुसासन को मान मद मारण।
प्रह्लाद की प्रतिज्ञा राखी हरनाकुस नख उदर विदारण॥
रिखी-पतनी पर किरपा कीन्हीं विप्र सुदामा की विपत्ति विदारण।
मीरा के प्रभु मों बंदी पर एती अबेर भई बिन कारण॥

कृष्ण के इस विराट् रूप की उपासना में उनकी मधुर भावना की तन्मयता नहीं प्रत्युत् एक विवश अबला की करुण याचना ध्वनित होती है। अविनाशी ब्रह्म की शक्ति के प्रति उनकी उपासना दास्य भाव की है—

अरज करूँ अबला कर जोरे स्याम तुम्हारी दासी।

बल्लभाचार्य के मत का अधिक प्रभाव उन पर नहीं पड़ा, इसलिए कृष्ण के बाल रूप का अधिक चित्रण मीरा के काव्य में नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त माधुर्य भावना उनके जीवन की अनुभूति थी। मातृत्व के उल्लास का अनुभव उनके व्यक्तिगत जीवन में नहीं था। अतः उस भावना की अभिव्यक्ति भी उनके काव्य में कल्पना ही के आधार पर हो सकती थी, अनुभूति के नहीं। यही कारण है कि उनके द्वारा रचित बाल लीला के जो पद मिलते भी हैं वे श्रेष्ठता की दृष्टि से माधुर्य भावना के पदों के साथ रखे जाने की क्षमता नहीं रखते। इन पदों में आत्मानुभूति की अपेक्षा कल्पना तथा वातावरण के चित्रण में अधिक सजीवता है। मीरा के बालक कृष्ण का रूप आराधना की दृष्टि से गौण होते हुए भी पूर्ण उपेक्षणीय नहीं है।

मैया ले थारी लकरी ले थारी काँवरी बछिया चरावन हूँ न जाऊँ री।
संग के ग्वाल सब बलभद्र कुँ न मोकलो एकलो बन में डराऊँ री॥
माखन तो बलभद्र कुँ खिलायो हमको पिलाई खाटी छाछ री।
वृन्दावन के मारग जाता पाऊँ में चुभत जीनी काँकरी॥

साकार भगवान् के गरिमापूर्ण अवतार रूप, लीलापूर्ण किशोर तथा बाल रूप के नैसर्गिक चित्रण के अतिरिक्त कृष्ण के किशोर चरित्र में लौकिकता का आभास मीरा बचा नहीं सकी है। कृष्ण की लीलाओं में अनेक अंश, उनके नारी-हृदय के पुरुष के प्रति दृष्टिकोण के प्रतीक हैं। मीरा नारी थीं। उन्होंने लौकिक जीवन देखा था। नारी-हृदय के प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति उनके जीवन की अनुभूत वस्तु थी। अतः जहाँ पर उनके युवा हृदय ने किशोर कृष्ण की कल्पना की है वहाँ पार्थिवता की झलक स्पष्ट है।

करके शृंगार पलंग पर बैठी रोम-रोम रस भीना।
चोली केरे बन्द तरकन लागे श्याम भये परवीना॥

इन पंक्तियों के आगे जुड़ी हुई इस पंक्ति में—

मीरा के प्रभु गिरधरनागर हरि चरणन चित लीना॥

प्रथम दो पंक्तियों की नग्नता को छिपाने का असफल प्रयत्न जान पड़ता है।

इसी प्रकार अनेक पदों में उनके कृष्ण एक साधारण नायक के रूप में चित्रित हैं, जिनके क्रिया-कलापों में एक छिछलापन है। रीतिकाल की भौतिक प्रवृत्ति के साथ उसका सामंजस्य चाहे कर दिया जाय, परन्तु नारियों से प्रेम का झूठा अभिनय करने वाले शठ तथा गलियों में स्त्रियों से छेड़-छाड़ करने वाले धृष्ट नायक की पृष्ठभूमि तथा प्रेरणा आध्यात्मिक है; आस्था चाहे इस पर शंका करने के लिए तैयार न हो, परन्तु तर्क इसे नहीं मान सकता। उपेक्षिता नायिका के ये स्वर—

स्याम मोसे ऐंडो डोले हो।
म्हारी गलियाँ न फिरे वाके आँगना डोले हो॥
म्हारी अँगुली न छूवे वाकी बहियाँ मोरे हो।
म्हारो अंचरा न छुये वाके घूँघट खोले हो॥

न तो माधुर्य भक्ति से ओत-प्रोत भक्त हृदय की उक्तियाँ हैं और न यह रसिक नायक परम ब्रह्म का प्रतीक।

इस प्रकार मीरा के आराध्य में पार्थिव और अपार्थिव का अद्भुत सम्मिश्रण है। इसके मूल में यही कारण निहित जान पड़ता है कि स्वयं मीरा का जीवन भी लौकिक कुंठाओं तथा जन्मजात भावुक अनुभूतियों का अनुपम सम्मिश्रण था। भगवान् की धारणा एक बौद्धिक विश्वास है। विश्वास की पृष्ठभूमि मीरा को जन्म से बनी-बनाई मिली थी। जीवन के विकास में जहाँ उन्हें पितामह का स्नेह, सहोदर का सौहार्द्र और वैभव के साधन मिले, वहाँ गिरधर गोपाल का एक मान्य रूप भी अपने जीवन के एक अंग के रूप में मिला, अतः उनके आराध्य में बुद्धितत्त्व कम, हृदय तत्त्व अधिक है। वैष्णव पितामह के गृह में गिरधर गोपाल की मूर्ति ही उनकी आराध्य थी, उनके प्रति सहज आस्था वैष्णव परिवार में पोषित कन्या के लिए स्वाभाविक थी, विवाहित जीवन में उनके मन में इस तत्त्व की क्या अवस्था होगी इसका अनुमान कठिन है, पर युवावस्था में ही वैधव्य के अभिशाप ने उनकी भक्ति पुनः जागरित कर दी। उस समय उनकी अभिशप्त तथा अतृप्त भावनाओं का पूरक कृष्ण का किशोर रूप ही हो सकता था। पितामह से सुना हुआ कृष्ण का अनुपम सौन्दर्य उनकी कल्पना में साकार हो गया, और उसी साकार व्यक्तित्व में उन्होंने अपने जीवन की निराशाओं तथा कुंठाओं का लय उनके प्रति अपनी भावनाओं का उन्नयन द्वारा कर दिया।

गिरधरनागर के इस सौन्दर्यपूर्ण रूप में उन्होंने अनेक सम्प्रदायों के प्रभाव से अनेक परिवर्तन और सामंजस्य किये। कहीं उनमें निर्गुण ब्रह्म की शक्ति का आरोप है तो कहीं चढ़ती वयस और बाँके नयनों वाले जोगी में उनके कृष्ण की

कल्पना साकार होती है। उनकी भगवान् विषयक धारणा स्पष्ट नहीं है ऐसा कहना अनुचित है। सुन्दर रूपवान और लीलाप्रिय युवक कृष्ण उनकी कल्पना के साकार आराध्य हैं जिन पर अनेक सम्प्रदायों के आराध्यों की गौण छाप है। इन प्रभावों का अनुपात कृष्ण के लीला रूप के अंकन से इतना कम है कि ये केवल प्रभावमात्र ज्ञात होते हैं जो मीरा की सर्वग्राहक प्रवृत्ति के परिचायक हैं। भगवान् की धारणा की दार्शनिक पृष्ठभूमि बौद्धिक तथा चिन्तन प्रधान है। मीरा ने तर्क और ज्ञान के आधार पर अपने आराध्य का रूपांकन नहीं किया। उनके उपास्य उनके बालपने के मीत मोर-मुकुट धारी वृन्दावन की कुंज गलियों में रास रचानेवाले कृष्ण हैं।

मीरा की रचनाएँ—मुंशी देवीप्रसाद की राजपूताने में हिन्दी पुस्तकों की खोज रिपोर्ट तथा गुजराती के प्रसिद्ध लेखक श्री झावेरी, नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट और के० एम० मुंशी इत्यादि के उल्लेखों के आधार पर उनकी निम्नलिखित रचनाओं का अनुमान लगाया जाता है जिनमें से कुछ प्राप्त हैं और कुछ अप्राप्त।

१. नरसी जी का माहरा—इस ग्रंथ में गुजरात के प्रसिद्ध भक्त नरसी मेहता की पुत्री कुँवरि बाई के सीमन्त के अवसर पर भात भरने की कथा है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में है। सम्पूर्ण ग्रंथ पद में है, तथा मिथुला नाम को सखी को सम्बोधित करके लिखा गया है। साहित्यिक दृष्टि से इसका अधिक मूल्य नहीं है। साधारण बोलचाल की भाषा में दो सखियों के सम्वाद रूप में लिखा हुआ यह ग्रंथ बिलकुल साधारण कोटि का खंडकाव्य कहा जा सकता है। मीरा और मिथुला सानुप्रासिक शैली में इस कथा को कहती तथा सुनती हैं। डा० श्रीकृष्णलाल ने इस रचना को उनकी मानने में संकोच प्रकट किया है क्योंकि यह अत्यन्त साधारण कोटि की है। उनके अनुमान के अनुसार वह कदाचित् उनकी बाल्यावस्था में लिखा गया ग्रंथ हो, परन्तु मीरा की अन्य रचनाओं का मूल्यांकन उनकी अनुभूतियों की तीव्रता के आधार पर ही किया जाता है। कथा लिखने में उनकी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति का अभाव है, इसलिए उनके पदों की तन्मयता और सरसता भी इस कथा में नहीं आ पाई है। कई स्थलों पर नरसी जी की अलौकिक शक्ति के वर्णन में कुछ रोचकता अवश्य है, पर वह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। पदों के साहित्यिक महत्त्व की तुलना में यद्यपि इस रचना का मूल्य अधिक नहीं है, परन्तु उत्कृष्टता की कसौटी पर निम्न होने के कारण ही उसे मीरा की रचना न मानना न्यायसंगत नहीं है।

२. गीत गोविन्द की टीका—यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वानों की धारणा है महाराणा कुम्भा की रसिक प्रिय टीका को ही मीरा की रचना मान लिया

गया है, परन्तु ऐसा भी कहा जाता है कि कदाचित् मेवाड़ आकर राणा कुम्भा द्वारा रचित टीका से परिचित होने पर उन्होंने उस ग्रंथ की व्याख्या की हो अथवा एक स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना कर डाली हो।

परन्तु ये सब बातें रचना की अप्राप्ति के होते हुए अधिक महत्त्व नहीं रखतीं।

३. राग गोविन्द—यह रचना भी अप्राप्य है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस रचना का उल्लेख किया है।

४. मीरा के पद—इसमें मीरा, कबीर, नामदेव के द्वारा रचित राग धमार के पद संगृहीत हैं।

५. गर्वागीत—श्री झावेरी ने गुजरात में प्रचलित गर्वागीतों को मीरा द्वारा रचित माना है। गुजरात में गर्वा रासमंडली की भाँति गाये जाते हैं। मीरा द्वारा रचित ये गीत इतने प्रचलित हुए कि यह कहा जाता है कि जिसमें मीरा की गरवी न हो वह गर्वा ही नहीं है। मीरा के इन गर्वागीतों में भी माधुर्य भावना प्रधान है।

६. स्फुट पद—मीरा की जिन रचनाओं का साहित्यिक महत्त्व है वे हैं उनके फुटकर पद। जनता में प्रचलित उनके स्फुट पदों के अनेक संग्रह निकल चुके हैं। मीरा का प्रभाव क्षेत्र बहुत विस्तृत है। बंगाल से लेकर गुजरात तक उनके गीत प्रचलित हैं। अतः बंगाल, गुजरात और हिन्दी भाषी प्रदेश में उनकी रचनाओं के अनेक संग्रह निकल चुके हैं तथा उनके काव्य और दार्शनिक चिन्तन पर आलोचनात्मक विवेचनाएँ भी हो चुकी हैं। इतने विस्तृत क्षेत्र में लोकप्रिय तथा प्रचलित होने के कारण ही उनके पदों की दुर्गति भी बहुत हुई है, उनके पद समय तथा स्थान के विभिन्न प्रभावों से रंजित हो गये हैं। अभी तक उनके पदों की संख्या लगभग दो सौ अनुमान की जाती है, परन्तु श्री पुरोहित हरिनारायण जी का कहना है कि मीरा जी के पद उनके पास ५०० के करीब इकट्ठे हो गये हैं। ये हस्तलिखित, मुद्रित और मौखिक रूपों में प्राप्त हुए हैं जिनका इतिहास बृहत् है। उनके अनुसार पद बहुत से प्रामाणिक ही प्रतीत होते हैं। इसके विरुद्ध डॉ० श्रीकृष्णलाल ने मीरा के अधिकांश पदों की प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट किया है। मीरा के पदों का सर्वप्रथम संग्रह बंगाल के श्रीकृष्णानन्द देव व्यास के 'राग कल्पद्रुम' में मिलता है। इन पदों की संख्या लगभग ४५ है। हिन्दी में मीराबाई की स्वतन्त्र पदावली का प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस से 'मीराबाई के भजन' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् 'मीराबाई की शब्दावली' के नाम से वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, से एक संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसमें ७६८ पद हैं तथा अधिकांश पदों में निर्गुण मत की छाप है। इसके पश्चात् विभिन्न व्यक्तियों के सम्पादन में अनेक संग्रह निकले, जिनमें श्री ब्रजरत्नदास की 'मीरा माधुरी' श्री वियोगी हरि की 'सहजोबाई' 'दयाबाई' और 'मीराबाई', श्री नरोत्तमदास स्वामी की 'मीरा मन्दाकिनी' और श्री

परशुराम चतुर्वेदी की 'मीराबाई की पदावली' मुख्य हैं। उनके गुजराती पदों का संकलन 'बृहत् काव्य दोहन' में हुआ है।

मीरा की भक्ति-भावना—मीरा के काव्य की आत्मा भक्ति है। उनके लौकिक जीवन की अभावजन्य कुंठाओं, बालपन के संस्कारों तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के सम्मिलन से उनकी भावनाएँ भक्ति के रूप में प्रादुर्भूत हुईं। युवती मीरा की निराश भावनाओं का उन्नयन माधुर्य भक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुआ। सख्य के सारल्य तथा वात्सल्य के उल्लास की वह केवल कल्पनामात्र कर सकती थीं, वह उनके जीवन की अनुभूतियाँ नहीं थीं। मातृत्व के उल्लास की प्राप्ति के पूर्व ही वैधव्य का अभिशाप उनके जीवन पर छा गया, यही कारण है कि उनके काव्य में न तो कृष्ण के बाल रूप के प्रति आकर्षण है और न वात्सल्य भाव की अभिव्यक्ति। युवती हृदय की अतृप्त आकांक्षाओं की तीव्रता की अभिव्यक्ति ही उनकी कविता के प्राण हैं। कुछ पदों में विनय-भावना का भी प्राधान्य है, पर उनकी संख्या बहुत कम है। विनय के इन पदों की अनुभूतियों में गरिमा है, पर तीव्रता नहीं। इन पदों के आलम्बन ब्रजनायक रसिक पुरुष कृष्ण नहीं; वह महिम पुरुष हैं जिनके चरणों के स्पर्शमात्र से नीच-से-नीच तथा पतित-से-पतित प्राणियों का उद्धार हो जाता है। इस पतित-उधारण के प्रति उनके मन में आस्था है, विश्वास है। संसार की स्वार्थपरता से विमुख हो वह उसी की शरण में जा सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाना चाहती हैं।

मात पिता औ कुटुम कबीलो सब मतलब के गरजी।
मीरा की प्रभु अरजी सुण लो चरण लगावो थारी मरजी ॥

कुछ पदों में संसार की क्षणभंगुरता के सजीव चित्र हैं। सांसारिक नश्वरता की व्यथा का समाधान करते हुए वे कहती हैं—

भजु मन चरण कँवल अविनासी।
जेताई दीसे धरणि गगन बिच तेताई सब उठि जासी।
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हें कहा लिये करवत कासी ॥
इस देही का गरब न करना माटी में मिल जासी।
यो संसार चहर की बाजी साँझ पड़्या उठ जासी ॥
अरज करूँ अबला कर जोरे स्याम तुम्हारी दासी।
मीरा के प्रभु गिरधरनागर काटो जम की फाँसी ॥

इन पदों की दास्य-भावना में स्वकीया का दासत्व नहीं अपितु सेव्या के प्रति सेवक की भावनाएँ व्यक्त हैं।

प्रभु के विराट रूप के चरणों की दासी बनने की आकांक्षा में माधुर्य उतना नहीं है जितनी अनन्यता है। अगम, तारण तरन, ब्रह्म के प्रति भावना के व्यक्तीकरण

में आत्मतुच्छता की भावना का प्राधान्य है । मन को सम्बोधित कर उसे कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करते हुए वह कहती हैं—

मन रे परसि हरि के चरन ।
सुभग सीतल कँवल कोमल त्रिविध ज्वाला हरन ।
जिन चरन प्रहलाद परसे इंद्र पदवी धरण ।।
जिन चरण ध्रुव अटल कीन्हें राखि अपनी शरन ।
जिन चरण ब्रह्माण्ड भेट्यो नखसिख सिरी धरण ।।
जिन चरण गोवर्धन धार्‌यो इन्द्र को गर्व हरन ।
दासी मीरा लाल गिरधर अगम तारण तरन ।।

विराट के इस श्लाघ्य रूप के प्रति श्रद्धापूर्ण विश्वास के अतिरिक्त उनकी इन रचनाओं में सद्‌गुरु-वंदना, कृष्ण की लीला विषयक पद तथा उनके जीवन के अनुभवों का वर्णन भी मिलता है । परन्तु ये पद मीरा की भावनाओं के प्रतीक रूप नहीं माने जा सकते, उनमें उनके जीवन में आये हुए अनेक प्रभावमात्र ही व्यक्त हैं, उनकी अनुभूतियाँ नहीं ।

उनके काव्य की प्रधान प्रेरणा उनकी माधुर्य अनुभूति है। प्रेमावेश के विह्वल क्षणों में मीरा की जो अनुभूतियाँ घुँघरू की झनकार के साथ संगीत की लय बनकर बिखर गई हैं वही उनकी कविता है। मीरा के काव्य में माधुर्य भाव की प्रधानता है । उनके कृष्ण सौन्दर्य के निधि तथा साकार माधुर्य हैं और मीरा युग-युगों से अपने प्राणों की संवेदना को उन पर बिखेर देने के लिए आकुल साधिका। कृष्ण के प्रति उनकी भावनाएँ नारी के पुरुष के प्रति दृष्टिकोण की प्रतीक हैं । मीरा का प्रेम नारी-हृदय का प्रेम है जो कृष्ण के समान अपार्थिव आलम्बन के आश्रय में निखरकर नैसर्गिक हो गया है ।

प्रेम के प्रायः सभी लौकिक सम्बन्धों को भक्तों ने लोक से हटाकर ईश्वर के साथ जोड़ा है । कृष्ण-भक्तों के नेत्र लोक रूप को छोड़कर साकार भगवान् की रूप माधुरी से, श्रवण सांसारिक स्वरों को त्यागकर कृष्ण की मुरली के मधुर स्वर में, जिह्वा उनके अधरामृत में, त्वचा उनके आह्लादकारी स्पर्श से तथा मन उनके साथ रमण से तृप्ति लाभ करते हैं । स्त्री-पुरुष-रति, प्रीति का एक प्रधान अंग है । काव्य-शास्त्र में जो तत्त्व शृंगार रस की सृष्टि के लिए आवश्यक है, भक्ति शास्त्र में वही मधुर रस के लिए । अन्तर केवल इतना है कि मधुर रस का आलम्बन मनुष्य न होकर भगवान् होता है । माधुर्य भक्ति को दूसरे शब्दों में अपार्थिव शृंगार कहा जा सकता है, परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शृंगार तथा मधुर भाव में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । अपार्थिव शृंगार को शास्त्रों में उज्ज्वल रस कहा गया है । भारतीय दर्शनों तथा

भक्ति शास्त्रों में भक्ति को एक प्रधान भाव माना गया है। उनका मत है कि आत्मा परमात्मा के प्रति सहज रागात्मक भावना का अनुभव करती है यही भक्ति है। यह भाव ही जीवन का परम भाव है। यही अध्यात्म है। इस भावना को वैष्णव साहित्य ने दाम्पत्य अथवा माधुर्य के रूपक द्वारा शत-शत प्रकार अभिव्यक्त किया है।

श्री रूप गोस्वामी ने भक्ति रस की विवेचना के अन्तर्गत इस मधुर रस का भी निरूपण किया है। ब्रज के कृष्ण उनके आलम्बन हैं; मुरली-नाद, सखा, सखी आदि उद्दीपन हैं; अनुभाव हैं अश्रु, रोमांच, प्रकम्प, वैवर्ण्य इत्यादि; तथा निर्वेद, हर्ष, उत्सुकता इत्यादि संचारी भाव हैं। श्रृंगार भाव की ही भाँति मधुर भाव के भी दो पक्ष हैं—(१) संयोगात्मक और (२) वियोगात्मक।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि पार्थिव श्रृंगार तथा अपार्थिव मधुर भावना में केवल आलम्बन का ही अन्तर होता है। अपार्थिव आलम्बन अप्राप्य अथवा मनोस्थित होता है। इसलिए उसके प्रति भावनाओं में अतृप्ति रहती है। आलम्बन के अमूर्त्त तथा अलौकिक होने के कारण उनके द्वारा ऐन्द्रिय तृप्ति की सम्भावना नहीं रहती अतः माधुर्य भक्ति में शारीरिक विह्वलता अथवा प्रिय से कल्पित मिलन अनुभूति की तन्मयता जब अभिव्यक्ति की चेष्टा में काव्य का रूप ग्रहण करती है तभी सच्ची माधुर्यानुभूति की सृष्टि होती है।

यही माधुर्य मीरा के काव्य का प्राण है। बाल्यावस्था के मीत कृष्ण के चरणों में उन्होंने अपने जीवन की समस्त भावनाएँ तथा सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। उनकी निष्प्राण आकांक्षाएँ गिरधर के सौन्दर्य के आकर्षण की संजीवनी से सजीव हो उठी। नटवरनागर कृष्ण को अपनी मधुर भावनाओं का केन्द्र बनाकर कभी उन्होंने चरम मिलन के नैसर्गिक सुख के गीत गाये, और कभी उनके उद्वेलित हृदय की विरह व्यथाएँ, आकुल नेत्र तथा तृप्त उच्छ्वास उनके विरह गीतों में साकार हो गये। मीरा की माधुर्य भावना में दोनों ही पक्ष प्रबल हैं। संयोग का उल्लास तथा वियोग के उच्छ्वास दोनों ही उनके काव्य में व्याप्त हैं।

उनके प्रेम का आरम्भ गिरधर के अनुपम सौन्दर्य के आकर्षण से होता है। इस रूप-राग की अभिव्यक्ति अनेक पदों में मिलती है। उनके नेत्र हठात् ही कृष्ण के रूप से उलझ गये हैं। उनकी मन्द मुस्कान, मदभरी चितवन तथा वंशी की तान के प्रति उनका हृदय लुब्ध है।

या मोहन के मैं रूप लुभानी।
सुन्दर बदन कमल दल लोचन, बाँकी चितवन मंद मुस्कानी॥
जमना के नीरे तीरे धेनु चरावे बंसी में गावे मीठी बानी।
तन मन धन गिरधर पर वारूँ चरण कँवल मीरा लपटानी॥

मोहन के रूप के प्रति यह आकर्षण बढ़ता ही जाता है और आकर्षण आसक्ति में परिणित हो जाता है। रूपनिधि कृष्ण के जिस सौन्दर्य ने उनको मुग्ध कर लिया है उसको एक बार देखने को उनके नेत्र व्याकुल रहते हैं। उनके हृदय में कृष्ण की माधुरी मूर्ति बस गई है। उन्हीं की प्रतीक्षा के विकल क्षणों में वह गा उठती हैं—

आली रे मेरे नैणा बाण पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरति उर बिच आन अड़ी॥
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी।
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ जीवन मूल जड़ी॥

इस पूर्व राग के आलम्बन के अपार्थिव होने के कारण संयोग की अनुभूति केवल परोक्ष अथवा कल्पना में ही सम्भव है। इसके लिए उनके अनुराग की परिणति विरहानुभूति में होती है जो उनकी अन्तरात्मा को तृप्त कर स्वर्ण की भाँति विशुद्ध कर देती है। साधना के इस सोपान के उपरान्त वह स्थिति आती है जब प्रेम की तन्मयता में पूर्ण विभोर होकर आत्मसमर्पण के द्वारा उन्हें मिलन के सुख की अनुभूति प्राप्त होती है। इस प्रकार मीरा की भक्ति आकर्षण से प्रादुर्भूत प्रेमासक्ति बनकर दो रूप धारण करती है—विरहानुभूति और मिलन सुख। विरह उनकी साधना है और मिलन ध्येय। दोनों उनके जीवन की प्रत्यक्षानुभूतियाँ हैं, अतः दोनों ही पक्षों के चित्रण बड़े ही सजीव तथा श्रेष्ठ हैं।

मीरा की विरहानुभूति—माधुर्य उपासना में विरह की तीव्रता उत्कट भक्ति की कसौटी है। मीरा के काव्य की सफलता उनकी तीव्र विरहात्मक स्वभावोक्तियों में निहित है। अपने उस वियुक्त प्रियतम से मिलने की उन्हें लगन है जो उनका प्राण है, जिस पर उनका जीवन निर्भर है, जिसकी प्रतीक्षा में रात्रि की नीरव घड़ियों को वे आँखों में व्यतीत करती हैं—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत सब रैन बिहानी हो॥

सम्पूर्ण संसार सुप्तावस्था में है, पर उनकी विरहिणी आत्मा किसी की याद की टीस में आँसुओं की माला पिरोती रहती है। रात्रि के एक-एक पल तारे गिन-गिनकर कटते हैं—

बिरहिन बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
एक विरहिन हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवै॥
तारा गिण गिण रैण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै।
मीरा के प्रभु गिरिधरनागर मिलके बिछुड़ न जावैं॥

विरह की इस कातरता के साथ ही उनकी दृढ़ता भी दार्शनिक है। प्रेम के

मार्ग में लोक-लज्जा तथा मर्यादा का अवरोध कुछ मूल्य नहीं रखता। प्रेमदीवानी मीरा ने अपने अमर सुहाग की घोषणा सम्पूर्ण संसार के विरोधों से टक्कर लेकर की। जब पंथ पर पग बढ़ा दिये तो लोक-लज्जा कैसी ?—

मन हरि सूँ जोर्‌यो हरि सूँ जोर सकल सूँ तोर्‌यो।
नाचन लगी जब घूँघट कैसो लोक-लाज तिनका ज्यूँ तोर्‌यो॥
नेकी बदी हू सिर पर धारी मन हस्ती अंकुश दे मोर्‌यो।
मीरा सबल धणी के सरणे कहा भये भूपति मुख मोर्‌यो॥

अपने सबल धनी की शरण में जाकर उन्हें किस शासक का भय रह जाता है ?

मीरा की साधना में पार्थिव भावनाओं का अपार्थिव सत्ता पर आरोपण है। उनका प्रेम-पात्र संसार का पुरुष न होते हुए भी मानव है। उनके प्रति उनकी भावनाओं में मीरा का नारी-हृदय व्यक्त है, जिनमें उनके पत्नी तथा प्रेयसी दोनों रूपों का आभास मिलता है। यद्यपि अपार्थिव आलम्बन के प्रति प्रेम का शारीरिक पक्ष कुंठित रहता है, पर मीरा के काव्य का मानसिक पक्ष भी पार्थिव अनुभूतियों से ओत-प्रोत है। उनके विरह में विप्रलम्भ शृंगार के प्रायः सभी रूप चित्रित हैं। पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणा—विरह के ये चारों रूप मीरा की विरह-गाथा के अग हैं। मीरा का पूर्वराग तथा मान वियोग-भावना के अन्तर्गत आयेगा अथवा संयोग के; यह प्रश्न भी विचारणीय है। संस्कृत साहित्य के शास्त्रों के अनुसार सामीप्य अथवा पार्थक्य या उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति, संयोग और वियोग-भावना की कसौटी है। पूर्वराग में मानसिक क्लेश की विद्यमानता के कारण उसे वियोग-भावना के अन्तर्गत रखा गया है। परन्तु कुछ आधुनिक विद्वान् पूर्वराग के वियोग को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उसके अनुसार योग के पश्चात् ही वियोग सम्भव हो सकता है। पूर्वराग तो प्राप्ति के पहले की अभिलाषामात्र है। पार्थिव शृंगार के प्रत्यक्ष योग के साथ तो इस प्रकार की भावना मान्य हो भी कैसे सकती है, परन्तु अपार्थिव शृंगार में तो प्रेमानुभूति का आरम्भ ही विरहमूलक होता है। आलम्बन के नैसर्गिक रूप का आकर्षण, रागात्मक अनुभूतियों का स्रष्टा होता है तथा इसी प्रथमाकांक्षा का प्रस्फुटन रागजन्य अनेक सूक्ष्मानुभूतियों के सोपानों से होकर उस चरमावस्था पर पहुँचता है जहाँ प्रेमी अपने प्रियतम में लय होकर अपने अस्तित्व का पार्थक्य पूर्णतया भूल जाता है। इस प्रकार मिलन माधुर्य साधना का अन्तिम सोपान है तथा पूर्वराग प्रथम। अपार्थिव के प्रति पूर्वराग में विरह-भावना के अंकुर फूटते हैं, जिसका उल्लास साधक के सम्पूर्ण जीवन पर छा जाता है। सूरदास की विरहिणी के ये शब्द इस तथ्य को पूर्णतया प्रमाणित करते हैं—

मेरे नैना विरह की बेल बई।

मीरा के पूर्वराग में भी अभिलाषा के प्रथम अंकुर दिखाई देते हैं। कृष्ण के रूप के प्रति आकर्षित होकर वह उनको अपनत्व की सीमा में बाँधकर अपना बना लेना चाहती है। प्रेमभावना के उदय के साथ विरह स्वतः ही आ जाता है। प्रेम और विरह सहगामी हैं। कृष्ण के रूप का आकर्षण एक अभाव बनकर उनके जीवन पर छा जाता है, और सम्पूर्ण जगत् के विरोध का सामना करते हुए वह उसके प्रति प्रेम की घोषणा करती हैं—

नैणां लोभी रे बहुरि सके नहिं आय।
रूम-रूम नखसिख सब निरखत ललकि रहे ललचाय॥
लोक कुटुम्बी बरज बरजहीं बतियाँ कहत बनाय।
चंचल निपट अटक नहीं मानत पर-हथ गये बिकाय॥
भलो कहौ कोई बुरी कहौ मैं सब लई सीस चढ़ाय।
मीरा प्रभु गिरिधरलाल बिनु पल भरि रहो न जाय॥

—कृष्ण के रूप के प्यासे नेत्र उनके रूप के वश में होकर फिर स्वतन्त्र नहीं हो पाये। कृष्ण के रोम-रोम तथा नख-सिख के सौन्दर्य के दर्शन कर वे उन्हीं को एक बार फिर देख लेने को आकुल हो रहे हैं। लोक-लज्जा की भावना उन पर नियन्त्रण करने का प्रयास करती है, पर वे तो पराये हाथों बिक गयी हैं। अब चाहे कोई अच्छा कहे या बुरा, वे कृष्ण के प्रेम की प्राप्ति के लिए बड़े-से-बड़ा मूल्य चुकाने को प्रस्तुत हैं। गिरधरलाल की अनुपस्थिति में एक पल व्यतीत करना भी उनके लिए असह्य हो रहा है। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि मीरा के पूर्वराग में प्रेम का पूर्ण परिपाक है। साधारण शृंगार के पूर्वराग की भाँति उनके पूर्वराग में गाम्भीर्य का अभाव नहीं है। यह सत्य है कि प्रवासजन्य विरह की अपेक्षा पूर्वराग का विरह तीव्रता में कम होता है, पर मीरा के अनुराग की प्रथमावस्था भी सौम्य और गम्भीर है। उनकी साधना का प्रथम अंकुर निष्ठारहित अस्थिरता तथा चांचल्य से उत्पन्न नहीं होता अपितु उनके अनुराग के प्रादुर्भाव के मूल में ही निष्ठा है।

ईर्ष्या तथा मान इत्यादि भावनाजन्य विप्रलम्भ का उनके काव्य में पूर्ण अभाव है। कृष्ण के प्रति प्रेम में उनकी भावनाओं का उन्नयन है, अतः प्रेम के अवनयनकारी अंशों का पूर्ण अभाव है। जहाँ प्रेमजन्य ईर्ष्या तथा मान इत्यादि भावनाओं का गौण चित्रण आ भी गया है, उसका आधार प्रेम की प्रगाढ़ता है, और जहाँ ये भावनाएँ मूल भाव के उद्दीपन रूप में आती हैं वहाँ उन्हें वियोगजन्य मानकर उनके आश्रय व्यक्ति को खंडिता मानिनी इत्यादि नायिका भेदों की श्रेणी में लाना अनुपयुक्त होगा।

उनका प्रियतम चिर-प्रवासी है और वे स्वयं चिर-विप्रलब्धा। प्रेम के उद्भव की प्रारम्भावस्था में विरह-यातना की मधुर वेदना उनके हृदय को आन्दोलित कर

देती है। शीघ्र आने का वचन देकर जाने वाले के अभाव में वे आकुल हो रही हैं। उनकी आकुल आकांक्षाओं की वेदना, तीव्रता तथा विवशता के अनेक सजीव चित्र उनके काव्य की विभूति हैं। अभी प्रेम विकास के प्रथम सोपान पर ही है। उन्हें अपनी भावनाओं का प्रत्युत्तर नहीं मिला, पर इस उपेक्षा के प्रति उनमें रोष और ग्लानि नहीं बल्कि विवशता तथा अपनत्व है।

माई म्हारी हरिहू न बूझी बात।
पिंड माँ सूँ प्राण पापी निकसि क्यों नहीं जात ?
पाट न खोल्या मुखां न बोल्या साँझ भई परभात।
अबोलगा जुग बीतन लागो तो काहे की कुसलात ?

हरि ने उनको प्रेम का प्रत्युत्तर नहीं दिया। उनके प्रेम की उपेक्षा की मौन व्यथा का भार लिये हुए ही सन्ध्या की धूमिलता प्रभात के आलोक में परिणित हो गई। यदि इसी मौन में युग बीतने लगेंगे तो फिर कहाँ कुशल है ? इस उपेक्षा में एक आशा की किरण है—उसका वचन, उसके दर्शन की पुनराशा।

प्रकृति के उपकरण उनकी भावनाओं को उद्दीप्त करते हैं। उनकी भावनाएँ उपेक्षाजन्य इस नैराश्य का समाधान मृत्यु से करना चाहती हैं। अभी कृष्ण के प्रति केवल आकर्षणमात्र है, पर मुग्धावस्था की विरहानुभूति में ही पीड़ा की पराकाष्ठा व्यंजित है—

सावन आवण कर गया है रे हरि आवन की आस।
रैन अंधेरी बीजु चमकै तारा गनत निरास॥
लेइ कटारी कंठ सारू मरूँगी विष खाई।
मीरा दासी राम राती लालच रही ललचाई॥

प्रेम की पुष्टि के साथ-साथ विरह की मात्रा भी अधिक होती जाती है, और विरह उनके जीवन का एक अंग बन जाता है। जीवन के साधारणतम् कार्य-व्यापारों के प्रति भी उनमें उदासीनता आ जाती है और यही विरह मानों उनके जीवन का श्रेय तथा प्रेय बनकर उन पर व्याप्त हो जाता है, और दरद की दीवानी मीरा की प्रेम-विह्वल पिपासा की तड़पन इन पंक्तियों में सजीव है—

रमैया बिन नींद न आवै।
बिन पिय जोत मंदिर अंधियारो दीपक दाय न आवे।
पिया बिना मेरी सेज अलूनी जागत रैन बिहावै॥
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी वेदन कौन बुतावे ?
विरह नागन मोरी काया डसी रे लहर-लहर जिय जावे॥

उनकी विरह-उक्तियों में उनकी अतृप्त आकांक्षाएँ व्यक्त हैं, पर इस पिपासा

में मदिरा की आकांक्षा नहीं अमृत की स्निग्धता की कामना है, प्रियतम के लिए अपने को मिटा देने की प्रेरणा है। प्रेमी हृदय की व्यथा की अभिव्यक्तियाँ अतिशयोक्तिपूर्ण होते हुए भी अत्यन्त स्वाभाविक हैं। अनुभूतियों की व्यंजना के स्पर्श से अतिशयताजन्य उपहास की भावना कहीं भी नहीं आ पाई है। उनके मानसिक रोग के लक्षण उनके शरीर पर दृष्टिगत होते हैं—

पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे लोग कहें पिंड रोग।
छाने लाँघन मैं किया रे राम मिलन के जोग॥
बाबुल बैद बुलाइया रे पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख बैद मरम नहीं जाने करक करेजे माँह॥

प्रियतम के अभाव में उनकी काया पीतवर्ण हो गई है। लोग अज्ञानवश उसे पांडुरोग बताते हैं, पर उनकी पीड़ा मूर्ख वैद्य के वश की नहीं। उनकी कसक तो कलेजे में है। उनकी व्याकुल विरहिणी आत्मा की आकांक्षाएँ भी अतृप्त हैं, पर उनमें वासना का लेशमात्र भी नहीं है। उनकी एन्द्रिय आकांक्षाओं में भी उनकी अनुभूतियाँ व्यक्त हैं। इन्द्रियाँ उनकी भावनाओं की परिपूर्ति की माध्यम मात्र हैं, साध्य नहीं। उनके विरह में इन्द्रियों की क्षुधा नहीं अपितु भावनाओं की कामना व्यक्त है। प्रिय से मिलन की जो कामना उनके हृदय में जागृत हुई है उसकी तन्मयता में उनके जीवन का एक-एक पल तड़पन में व्यतीत होता है। इस आकुलता का एक ही समाधान है—प्रियतम से मिलन—

राम मिलन के काज सखी मेरे आरति उर में जागी रे।
तलफत-तलफत कल न परत है बिरह बाण उर लागी रे॥
निसदिन पंथ निहारूँ पिव को पलक न पल भर लागी रे।
पीव-पीव रटूं रात दिन, दूजी सुधि बुधि भागी रे॥
मीरा व्याकुल अति अकुलानी पिया की उमंग अति लागी रे॥

भावनापूर्ण इन उक्तियों में विरह की अग्नि में तपकर उनका व्यक्तित्व कुन्दन की भाँति चमकता हुआ दिखाई देता है, परन्तु इन भावनाओं की अभिव्यक्ति में उनके युवा हृदय की आकांक्षाएँ प्रेम के शारीरिक पक्ष की चरम सीमा तक पहुँच गई हैं। भावनाविभोर नारी-हृदय पूर्ण समर्पण और लय में ही अपने जीवन की सार्थकता प्राप्त करता है—

बिरह बिथा लागी उर अन्तर सो तुम आप बुझावो हो।
अब छोड़त नहीं बने प्रभू जी हँसि कर तुरत बुलावो हो॥
मीरा दासी जनम जनम की अंग से अंग लगावो हो॥

मीरा की विरह-उक्तियों में सारल्य तथा स्वाभाविकता प्रधान है—

बात कहू माहि बात न आवे नैन रहे झराई।
किस विधि चरन कमल में गहिहौं सबहि अंग थर्राई ।।

इन पंक्तियों की स्वाभाविकता तथा सरलता के साथ ही विरह-भावना की चरम अनुभूतियों से युक्त अतिशयोक्तियाँ भी हैं—

मांस गले गल छीजिया रे करक रह्या गल माँहि।
आंगुलियाँ री मूंदडी म्हारे आवन लागी बाँहि ।।

जायसी की विरहिणी के संदेश में तथा मीरा की विरहिणी आत्मा की भावनाओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं दृष्टिगत होता—

पिय सो कहेउ संदेसड़ा हे भौंरा हे काग !
सो धनि बिरहे जरि मुई तेहिक धुआँ हम्ह लाग ।।

जहाँ जायसी की विप्रलब्धा नायिका काग की कालिमा द्वारा अपनी तिल-तिलकर सुलगती हुई ज्वाला का आभास दिलाना चाहती है वहीं मीरा—

काढ़ि कलेजो मैं धरूँ रे कागा तू ले जाइ।
ज्याँ देसा म्हारो पिव बसै वे देखे तू खाइ ।।

इन पंक्तियों में अपने मर्माहत हृदय को प्रियतम के समक्ष विदीर्ण कराके काग का इस निष्ठुरता की आवृत्ति द्वारा उसकी निष्ठुरता का स्मरण दिलाती हैं।

इनकी विरह-भावनाएँ प्रकृति द्वारा उद्दीप्त होती हैं। वसन्त का उल्लास, वर्षा की मादकता, पपाहे की पी-पा तथा कोयल की कूक उनके अन्तर में उठती हुई कामनाओं की लहरों को उद्वेलित कर उनके हृदय में मन्थन उत्पन्न कर देती हैं।

मतवाले बादल आ गये, परन्तु वह भी हरि का संदेश न लाये। वर्षा की सूनी रातों में एकाकिनी भावनाएँ तड़प रही हैं—

मतवारे बादर आये रे हरि के सनेसो कबहु न लाये रे।
दादुर मोर पपइया बोले कोयल सबद सुनाये रे।
कारा अंधियारी बिजरी चमके विरहिणि अति डरपाये रे ।।
गाजै बाजै पवन मधुरिमा मेहर अति झड़ लाये रे।
कारी नाग विरह अति जारी मीरा मन हरि भाये रे ।।

एक ओर वर्षा की नीरव रजनी में उनकी अधीरता आँसू बनकर बरस पड़ती है—

बादल देख झरी हो स्याम मैं बादल देख झरी।

तो दूसरी ओर वसन्त का उल्लास और होली का अनुराग उनके अभाव को और भी तीव्र बना देता है। सारा संसार राग-रंग में मस्त है, परन्तु मीरा की वेदना सबके उल्लास और आनन्द के बीच और भी बढ़ गई है—

होली पिया बिन मोहि न भावे घर आँगन न सुहाय।

दीपक जोय कहा करूँ हेली पिय परदेस रहावे।
सूनी सेज, जहर ज्यूँ लागे सुसक-सुसक जिय जावे ॥

रात्रि की नीरवता तथा निस्तब्धता में पपीहे की पी-पी उनकी सुप्त वेदना को जाग्रत कर देती है और प्रिय की विस्मृत चेतना की मादकता उसके स्वर की करुणा से फिर वेदना बनकर उन्हें आकुल बना देती है। वह कहती हैं—

रे पपइया प्यारे कब को बैर चितारचो।
मैं सूती छी अपने भवन में पिय-पिय करत पुकारचो।
दाध्या ऊपर लूण लगायो हिवडो करवत सारचो ॥

—प्यारे पपीहे कब का बैर चुकाया तुमने, उनकी स्मृति में लीन मैं अपने भवन में सो रही थी, अपने स्वर की करुणा से तुमने मानो जले हुए स्थान पर नमक छिड़ककर हृदय में करवत की-सी टीस उत्पन्न कर दी है।

पपीहे के पी-पी का स्वर सुन उनके हृदय में जो पुण्य ईर्ष्या-भाव उत्पन्न होता है वह अनुपम है—

चोंच कटाऊँ पपइया रे ऊपर कालरि लूल।
× × ×
पिव मेरा मैं पीव की रे; तू पिव कहे से कूण।

—मैं प्रियतम की हूँ, वे मेरे; तू उनका नाम लेकर पुकारने वाला कौन है?

एक पद में बारहमासा का वर्णन भी मिलता है। प्रकृति का कोई उपकरण विरहिणी के लिए सुख का सन्देश लेकर नहीं आता। मीरा प्रतीक्षा करते-करते थक गई हैं। ज्येष्ठ की भयंकर उष्णता में पक्षी दुःखी हो रहे हैं। वर्षा में भी मोर, चातक तथा कुरले प्रतीक्षा करते हुए आशा में उल्लसित हैं। शरद, शीत, हेमन्त, वसन्त सभी ऋतुओं में प्रकृति में निर्माण और विकास हो रहा है, पर मीरा, चिर-विरहिणी मीरा की आशा-प्रतीक्षा बनकर उनके जीवन में व्याप्त हो रही है—

काग उड़ावत दिन गया बूझूं पंडित जोसी हो।
मीरा विरहिणी व्याकुली दरसण कब होसी हो?

अपार्थिव कृष्ण के प्रति उन्नयनित उनकी मानवीय तथा नारी-भावनाओं की आकांक्षाएँ जिन व्यथा-भरे अश्रुसिंचित स्वरों में व्यक्त हुई हैं वे अनुपम हैं। उनकी विकल भावनाओं की प्रेरणा वासना की लोलुपता तथा ऐन्द्रिय लिप्सा में नहीं बल्कि उन विह्वल अनुभूतियों में है जिनका प्रभाव अत्यन्त शोधक है। आलम्बन की अपार्थिवता के कारण उनके विरह में व्यक्त लौकिक आकांक्षाओं की अतृप्ति की वेदना अनुभूतिजन्य है। पल-पल प्रतीक्षा करती हुई चिर-विरहिणी मीरा का चित्र उनकी इस प्रकार की अनेक पंक्तियों में साकार हो जाता है—

तुम देख्या बिन कल न परत है जानति मेरी छाती।
ऊँची चढ़-चढ़ पंथ निहारूँ रोय-रोय अँखियाँ राती ॥

अथवा

आकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन विरह कलेजो खाय।
कहा कहूँ कछु कहत न आवै मिलकर तपत बुझाय ॥

× × ×

दिवस न भूख नींद नहिं रैना। मुख सू कथत न आवै बैणा ॥

संयोग वर्णन—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, माधुर्य भाव तथा शृंगार भावना में केवल आलम्बन का अन्तर है। यों तो साधारण शृंगार का मूल प्रेम ही होता है, कामुकता और लोलुपता नहीं; परन्तु पार्थिव के प्रति शृंगार में प्रेम-हीन कामुकता असम्भव नहीं है चाहे वह चित्रण रसाभाव अथवा शृंगाराभास मात्र ही क्यों न हो। शृंगार बिना प्रेम के सर्वथा नीरस है। परन्तु प्रेम बिना शृंगार के भी सभी रसों का सार है। इसी कारण स्वकीया का प्रेम ही सच्चा प्रेम माना गया है, तीव्रता और उत्कटता की दृष्टि से यद्यपि परकीया का प्रेम ही अधिक प्रभावशाली होता है, पर स्वकीया की भावनाओं की परिष्कृति और संस्कार प्रेम के सर्वोत्कृष्ट रूप हैं।

कृष्ण के प्रति मीरा का प्रेम स्वकीया का प्रेम है। उनके आलम्बन प्रेम के अवतार ब्रजनायक कृष्ण हैं। कृष्ण की अपार्थिव सत्ता के समक्ष उन्होंने अपने हृदय की सारी अनुभूतियाँ बिखेर दीं, तथा जीवन के कुचले हुए स्वप्नों को अपनी अद्भुत साधना के बल से आत्मा के परिष्कार में परिवर्तित कर अपनी अनुभूतियों में सत्य कर लिया। स्वप्न को सत्य में परिवर्तित कर उन्होंने कृष्ण के प्रति ही अपनी सब भावनाएँ काव्य और संगीत में बिखेर दीं। उनके नारी-हृदय ने कृष्ण का वरण पति-रूप में किया। मीरा के प्रेम में विशुद्ध पत्नी-रूप का आभास मिलता है। उनकी भावनाओं में परकीया की-सी तीव्रता तथा उत्कटता अवश्य है; पर उसमें मद नहीं, स्निग्धता है। कविवर देव के शब्दों में परकीया उपपति के प्रेम में अपने व्यक्तित्व को औटाकर खोवे के समान कर देती है। इस प्रकार उसके प्रेम में रस तो अवश्य अधिक हो जाता है, परन्तु वह अवगुण करता है। इसके विपरीत स्वकीया का प्रेम दूध की तरह सात्विक तथा लाभप्रद होता है।

मीरा का प्रेम भी ऐसा ही सात्विक और शोधक है। उनकी भावनाओं में जहाँ एक ओर उत्कट शृंगारिक अनुभूति का व्यक्तीकरण है वहीं दूसरी ओर पत्नी के पूर्ण समर्पण तथा विनय और संकोच भी व्यक्त हैं। वह उनके चरणों की विनम्र दासी है, उनके साथ क्रीड़ा की अभिलाषिणी मात्र, शोख और चंचल नायिका नहीं। वह उनकी बिन-मोल चेरी है, उनके चरणों की दासी है—

मीरा के प्रभु हरि अविनासी चेरी भई बिन मोल।

अथवा

दासी मीरा लाल गिरधर चरण कंवल पै सीर।

उनकी साधना में शृंगार-भावना प्रधान है। विरह अनुभूतियों पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इनके शृंगार का संयोग-पक्ष उतना सबल नहीं जितना वियोग-पक्ष। यद्यपि दोनों ही उनके जीवन की अनुभूत भावनाएँ थीं, परन्तु विरह की तीव्रता की पराकाष्ठा पर संयोग की आकांक्षाएँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु इस आकांक्षा में एन्द्रिय उपभोग की वासना का रंग नहीं है। उनके द्वारा चित्रित संयोग-भावनाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक रूप-वर्णन और दूसरा मिलन।

रूप-वर्णन—कृष्ण के अनिर्वचनीय नैसर्गिक सौन्दर्य तथा उनके हृदय के भावों के बीच एक सामंजस्य उत्पन्न हो गया है तथा कृष्ण के रूपजन्य मानसिक आनन्द की अनुभूति से वे ओत-प्रोत हैं।

उनके रूप राग में व्यक्तिगत भावना ही प्रधान है। कृष्ण के रूप के प्रति भावगत सामंजस्य की ही प्रधानता है। उनके गीतों के एक-एक शब्द में उनकी इन भावनाओं की व्यंजना है—

या मोहन के मैं रूप लुभानी।
सुन्दर वदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मन्द मुस्कानी॥

कृष्ण के प्रति मीरा की भावनाओं में आकर्षण है जो उनके प्रेम के प्रस्फुटन में सहायक होती है।

इनके अतिरिक्त परम्परागत उपमानों के परिगणन के रूप में श्रीकृष्ण का सौन्दर्य अंकित है जैसे—

कुंडल की अलक-झलक कपोलन पर छाई।
मनों मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि, तिलक भाल, चितवन में टोना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग छौना॥

मिलन—मीरा द्वारा चित्रित मिलन के दृश्यों में मानसिक पक्ष प्रबल तथा शारीरिक पक्ष कुंठित है। उनके आलम्बन की अपार्थिवता के कारण उनकी कामनाएँ संस्कृत तथा परिशोधित हो अतीन्द्रिय बन गई हैं। उनकी मिलन-कामना में उनके हृदय के स्वप्न व्यक्त हैं।

वासनाओं के संस्कार ने उनकी एन्द्रिय इच्छाओं की स्वाभाविकता को विकृत नहीं होने दिया है यह सत्य है, परन्तु मीरा की भावना में नैसर्गिक सत्ता के प्रति भी मांसलता है। हाँ, उनकी भावनाओं की प्रगाढ़ता में मांसल स्थूलता गौण अवश्य

पड़ जाती है। उदाहरण के लिए—

पंचरंग चोला पहिन सखी में झिरमिट खेलन जाती।
झुरमुट में मोहे श्याम मिलेंगे खोल मिलूँ तन गाती॥

आध्यात्मिक रूपकों के आवरण में उन पंक्तियों की स्वभावोक्तियों को हम चाहे जितना छिपाने का प्रयास करें, पर इनको अभिधात्मक रूप में ग्रहण करना ही मीरा के नारीत्व के प्रति न्याय होगा।

इस प्रकार की शारीरिक अभिव्यक्तियों की आकांक्षाएँ भावावेश की पराकाष्ठा पर ही अंकित हैं। लोक-लज्जा तथा कुल की मर्यादा के त्याग के पश्चात् उनकी कामना की चरम सीमा आती है—

पिव के पलँगा जा पौढ़ूँगी मीरा हरि रंग राचूँगी।

नैतिकता के प्रेमी को इसमें अश्लीलत्व दोष दिखाई देता है, तथा आस्थावान् अपनी आस्था की नींव हिलाकर मीरा के काव्य में व्यक्त इस मांसलता के सौन्दर्य को आध्यात्मिकता के आरोपण द्वारा मिटा देना चाहता है। पर इन पंक्तियों में न तो उपभोगप्रधान चेष्टाएँ हैं और न रसहीन आध्यात्मिकता। इनमें तो केवल मीरा के भावुक नारी-हृदय के चरम विकास का चित्रण है।

श्री ब्रजरत्नदास जी मीरा की इस पंक्ति पर उठे हुए आक्षेप का उत्तर इस प्रकार देते हैं—क्या श्री गिरधर कोई सांसारिक पुरुष थे, जिन्हें लेकर ऐसी भद्दी बातें कही गई हैं ? यह तो केवल मूर्तिमात्र है।

× × ×

आक्षेपकर्त्ताओं ने यह भा न सोचा कि मीराबाई अपने पिय की बित्ते भर की पलंगड़ी पर किस प्रकार जा पौढ़ेंगी।

मीरा की इन भावनाओं को अनुचित, अनधिकार या व्यभिचार कहना उनके नारीत्व का अपमान करना है, परन्तु इस प्रकार की भावनाएँ किसी साकार व्यक्तित्व की कल्पना के अभाव में केवल गिरधर की मूर्ति के प्रति व्यक्त की जा सकती हैं, ऐसा कहना भी उपहासप्रद है। मीरा के प्रेम में निखरी हुई कामनाओं का आलोक है, और इस प्रकार के संकेत उन कामनाओं की अभिव्यक्ति के साधनमात्र है।

उनके संयोग-वर्णन में यौवन की उच्छृंखलता नहीं, एक सद्गृहस्थ नारी का मार्दवपूर्ण प्रेम है। वे अभिसार के लिए अमावस्या की रात्रि में बाहर नहीं निकलतीं। उनके प्रेम का स्वरूप इतना पूर्ण है कि उन्हें किसी का भय नहीं, वे घोषणा करके कहती हैं—

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।

—और अपने इस पति के प्रति भावनाओं की ही नहीं कर्तव्यों की परिपूर्ति

भी करती हैं। उनमें प्रेम का उल्लास है, पर संयत। भावनाओं के प्रबल वेग को रोक सकने में असमर्थ होने के कारण उनके लौकिक व्यवहार यद्यपि पूर्ण असंयत हो जाते हैं, पर प्रेम के क्षेत्र में उनके कार्य-कलाप मर्यादा की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। उनके प्रेम में विविध नायिकाओं के असंयत क्रिया-कलाप नहीं अपितु पत्नी की मार्दव-युक्त आकांक्षाएँ हैं, उदाहरणार्थ—

साँझ भये तब ही उठि जाऊँ भोर भये उठि आऊँ।
रैन दिना वाके संग खेलूँ दूर से दूर जाऊँ॥

—इन पंक्तियों में छिपी हुई ध्वनि यद्यपि उनकी कामनाओं की प्यास को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर देती है, परन्तु यह कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसके आधार पर मीरा का प्रेम उच्छृंखल तथा असंयत ठहराया जा सके। उनकी उक्तियों में पत्नी के कर्तव्यशील तथा रूमानी दोनों ही अंश व्यक्त हैं। अपनी अभिलाषाओं की परि-तृप्ति वह अपने पति से करवाना चाहती हैं जिनकी वे दासी हैं—

अब छोड़त नहीं बने प्रभू जी हंसि कर तुरत बुलावो हो।
मीरा दासी जनम जनम की अंग से अंग लगावो हो॥

परन्तु इस अतृप्ति को स्थूल रूप में ग्रहण करना मीरा के प्रति अपराध होगा। उनके इस प्रकार के पदों में उन्मुक्त रोमांस नहीं स्थायित्व है। उनका प्रणय निवेदन-संयत और गार्हस्थिक है। स्त्री की प्रवृत्ति में ही वह असंयत उच्छृंखलता नहीं जो पुरुष में होती है, अतः एक तो इस कारण और कुछ अंशों में सामाजिक बन्धनों के का॰ण उसे अपने असंयत उद्‌गारों को अपने ही तक सीमित रखना पड़ता है, परन्तु यह बन्धन लौकिक प्रणय की स्वीकृति में ही कुछ मूल्य रखते हैं। मीरा के अपार्थिव प्रेम का तो प्रादुर्भाव ही सामाजिक बन्धनों तथा लोक-मर्यादा की भावना को कुचलकर हुआ था, परन्तु आलम्बन की अपार्थिवता के प्रति उद्‌गारों में भी स्वकीया भावनाएँ ही व्यक्त हैं।

मीरा ने अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को श्री गिरधरनागर के चरणों में उँडेल-कर उनका पूर्ण परिष्कार कर लिया था। उनकी कामनाएँ संस्कृत होकर अतीन्द्रिय बन गई थीं, और उनका नारी-हृदय विश्वास और साधना की कसौटी पर निखरकर नैसर्गिक। परन्तु अपार्थिव के ! ति प्रणय निवेदन के स्पन्दन के मूल में प्रच्छन्न रूप में उनकी अतृप्ति ही व्यक्त है, जिसकी संस्कृत तथा शोधक भावनाएँ पदों के रूप में शाश्वत बन गई हैं। कामना के परिष्कार के उदाहरणस्वरूप उनका यह पद लीजिए—

राणा जी मैं तो साँवरे रंग राती।
जिनके पिया परदेस बसत हैं लिख-लिख भेजत पाती।
मेरा पिया मेरे हृदय बसत है यह सुख कह्यो न जाती॥

झूठा सुहाग जगत का री सजनी, होय होय मिट जासी ।
मैं तो एक अविनासी बरूँगी, जाहे काल नहीं खासी ॥
और तो प्याला पी पी माती मैं बिन पिये मदमाती ।
ये प्याला है प्रेम हरी का, मैं छकी रहूँ दिन राती ॥
मीरा के प्रभु गिरधरनागर, खोल मिली हरि से नाती ।
राणाजी मैं तो·············॥

विरह मीरा की अनुभूत भावना थी, पर संयोग केवल आकांक्षित । आलम्बन की अपार्थिवता के कारण इस आकांक्षा की मानसिक पूर्ति ही सम्भव थी, अतः संयोग की चेष्टाओं, कार्य, व्यापारों इत्यादि का अनुभव तथा उन्नयन उनके लिए असम्भव था, उनकी आत्मा ने मानसिक प्रेम विभोरता के अतृप्त क्षणों का अनुभव किया था । उनकी रागानुरागाभक्ति के इतिहास का आरम्भ आकर्षणजन्य संयोग-भावना से होता है । स्वप्न में वे अपने अपार्थिव प्रणय के इतिहास का प्रथम पृष्ठ आरम्भ करती हैं—

माइ म्हाँने सपने में बरी गोपाल ।
राती पीती चुनरी ओढ़ी मेंहदी हाथ रसाल ।
मीरा के प्रभु गिरधरनागर करी सगाई हाल ॥

अपने मनोवांछित वर से अनुरक्ति की घोषणा वे निर्भय शब्दों में करती हैं—

मैं अपने सैंया संग साँची ।
अब काहे की लाज सजनी परगट ह्वै नाची ।
दिवस भूख न चैन कबहूँ नींद निसि नासी ॥

प्रियतम के रंग में रंजित होकर उनकी कामना विकास के अग्र सोपान के लिए मचलती है, और एक नारी का सरल हृदय पुकार उठता है—

मोरी गलियन में आवो जी घनश्याम ।
पिछवाड़े आये हेला दीजो, ललिता सखी है म्हारो नाम ॥
पैयाँ परत हूँ, विनती करत हूँ, मत कर मान गुमान ।
मीरा के प्रभु गिरधरनागर, तोरे चरन में ध्यान ॥

अपार्थिव के प्रति इन पार्थिव भावनाओं में उनके नारी-हृदय का स्पन्दन है । भावना आगे बढ़ती है । मन में बसे गिरधर गोपाल के आकर्षण के प्रति वे केवल मुग्ध ही नहीं हैं, अपने प्रेम का उन्हें अभिमान है और प्रियतम पर मानो अहसान जमाती हुई वे कहती हैं—

तेरे कारण स्याम सुन्दर सकल लोगा हँसी ।
कोई कहे मीरा भई बावरी कोई कहे कुल नसी ।
कोई कहे मीरा दीप आगरी नाम पिया सूँ रसी ॥

इस प्रकार आकर्षण, आसक्ति, तन्मयता तथा विह्वलता के विविध सोपानों को पार करती हुई उनकी अनुभूतियाँ मानसिक उन्नयन की वह अवस्था ग्रहण करती हैं, जहाँ ि य और प्रियतम का तादात्म्य हो जाता है, अणु विराट में लय होकर अपने अस्तित्व को भूल जाता है। लोकलाज, कुल-मर्यादा सब कुछ भूल, आत्मविभोर हो आत्मा गा उठती है—

घट के पट सब खोल दिये हैं, लोकलाज सब डार रे।
होली खेल प्यारी पिय घर आये, सोई प्यारी पिय प्यार रे॥

इस प्रकार गगन-मंडल पर लगी हुई प्रियतम की शय्या उनके लिए पूर्ववत् आकाश-कुसम नहीं रह जाती। शूलों की शय्या की वेदनायुक्त तड़पन उनकी निद्रा का व्याघात नहीं करती—

शूलो ऊपर सेज हमारी किस विधि सोना होय?
गगनमंडल पर सेज पिया की किस विधि मिलना होय?

बल्कि प्रियतम में लय होकर उनकी भावनाएँ गा उठती हैं—

हम बिच तुम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज धामा।

मीरा की काव्य-कला—हिन्दी में गीतिकाव्य परम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन है। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ काल में ही जब साहित्यिक अपभ्रंश साधारण जनता की भाषा में परिणित हो रहा था, बौद्ध धर्म के सिद्ध आचार्यों ने मत के प्रचारार्थ गीतों की रचना की थी। इन पदों में प्रथम पंक्ति की आवृत्ति के लिए टेक का अभाव था। इन गीतों की रचना रागबद्ध हैं, परन्तु भाषा के अपरिष्कार तथा प्रवाहहीनता और विषय की दुरूहता तथा नीरसता के कारण ये न तो सरस हैं और न गेय। ये अधिक मात्रा में व्यंग्यात्मक, वर्णनात्मक तथा उपदेशात्मक हैं जहाँ कुछ अनुभवपूर्ण उदगार हैं उनमें साम्प्रदायिक पक्षपात की भावना ही प्रधान है। नाथपंथी साधुओं ने भी अपने मत के प्रचार के लिए अनेक गीतों की रचना की। तदनन्तर इस पद-परम्परा को महाराष्ट्र के कवियों तथा उत्तरापथ के संत कवियों ने थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ प्रचलित रखा। इनके पदों में ज्ञानात्मक उपदेश तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना की ही प्रधानता है। शुद्ध भावना तथा स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति इन रचनाओं में बहुत कम है।

नीरसता, भाषा की विकृति तथा उपदेशात्मक प्रचारों के दोषों से रहित, शुद्ध भावनाओं की अभिव्यक्ति तेरहवीं शताब्दी में रचित जयदेव की संस्कृत रचना 'गीत गोविन्द' में मिलती है। इसके अनन्तर पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में मैथिली में विद्यापति, गुजराती में नरसी मेहता तथा बंगला में चंडीदास इत्यादि भावुक कवियों ने गेय पदों की रचना की। हिन्दी में कृष्ण काव्य धारा के कवियों ने अपने उपास्य

के लीला रूप के विभिन्न अंगों को अपनी साधना का प्रेय बनाकर संगीतबद्ध पदों की रचना की।

मीरा ने भी अपनी अन्तर्मुखी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्तक परम्परा की पद-शैली का अनुसरण किया। उनके काव्य में बौद्धिक तत्व का प्रायः पूर्ण अभाव है, अतः उनकी भावनाओं का स्रोत उल्लास तथा वेदना के रूप में काव्य और संगीत में फूट पड़ा है और भाषाओं के चरमोत्कर्ष की अभिव्यक्ति संगीत प्रधान गीतिकाव्य में ही सफलतापूर्वक सम्भव हो सकती है। छन्दों तथा मात्राओं के बन्धन में भावनाओं को बाँध सकने में असमर्थ, भावुक भक्तों तथा कवियों ने मुक्त पदों में ही अपनी अनुभूतियों का चित्रण किया है। दूसरे कवियों की अनुभूतियों का व्यक्तीकरण राधा तथा गोपियों के माध्यम से हुआ है, परन्तु मीरा के पदों में उनकी अपनी व्यथा व्यक्त है, यही कारण है कि वे अधिक सजीव तथा प्रभावपूर्ण हैं। इनमें गिरधर गोपाल के प्रति उनकी पागल आकांक्षाओं का स्पष्ट आभास मिल जाता है।

मीरा के पदों में उनके आभ्यंतरिक भावों का पूर्ण प्रकाशन है। उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप इन पदों में व्यक्त है। उनके जीवन के आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों ही पक्षों की छाया इन गीतों में मिलती है। कृष्ण के सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, उसका विकास और तद्जन्य मानसिक तथा शारीरिक यातनाओं का प्रदर्शन अनेक वर्णनों द्वारा किया गया है। मानसिक यातनाओं के उपरान्त अभीष्ट मिलन के सुख की अभिव्यक्ति है।

मीरा के पदों में अनुभूतियों की तीव्रता तथा गहनता है, पर अनेकता नहीं। उनके काव्य की सरसता में (अनेकरसता) का अभाव खटकता है। उनके जीवन में एक ही भाव है और एक ही रस। मधुर भावनाजन्य आनन्द तथा विषाद की कतिपय भावनाएँ उनके जीवन में व्याप्त हैं। उन्हीं की आवृत्ति उन्होंने बार-बार अनेक पदों में की है। मानवमात्र के हृदय की कोमल अनुभूतियाँ अपनी असीम महानता तथा गाम्भीर्य के साथ मीरा की सीमित अनुभूति भावनाओं में बँधकर एकरस हो गई हैं। परन्तु इस पुनरावृत्ति में नीरसता नहीं आने पाई है। अनुभूतियों तथा भावपक्ष की प्रधानता से साधारणतम उक्तियाँ भी माधुर्य भाव से ओत-प्रोत हैं।

सरलता, गाम्भीर्य तथा स्वच्छन्दता आदि उनके काव्य के मुख्य गुण हैं। स्वच्छन्दता तथा उच्छृंखलता माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति में प्रायः साथ-साथ आती हैं। जहाँ भावनाएँ उन्मुक्त हुईं, आकांक्षाएँ उच्छृंखल होकर असंयत हो जाती हैं, पर मीरा के काव्य में स्वच्छन्दता होते हुए भी शृंगारिक असंयत भावनाओं का अभाव है। यह उनके काव्य की सबसे बड़ी सफलता है, क्योंकि उनके प्रेम के इसी निर्मल रूप के द्वारा उनके व्यक्तित्व के निर्माल्य तथा असाधारणत्व के प्रति धारणा बनती है। उनकी पारलौकिक भावनाओं के संसार की नींव सांसारिकता के स्थूह को

ढहाकर खड़ी होती है, जहाँ सामाजिक बन्धन तथा नैतिक शृंखलायें प्रेम के एक झटके से शिथिल होकर उनको स्वच्छन्द बना देती हैं। जीवन की यही स्वच्छन्दता उनके पदों में भी व्यक्त है।

मीरा के भाव भी गहन और गम्भीर होते हुए अत्यन्त सरल हैं। अलंकारों के भार से लदे पदों के परिधान में छिपे भावों में कला-प्रियता तथा कृत्रिम सौन्दर्य वा आकर्षण चाहे हो, परन्तु उस कृत्रिमता की तुलना मीरा की सरल स्वभावोक्तियों के कोमल सौन्दर्य के समक्ष नहीं ठहर सकती। उनकी कविता का सौन्दर्य उस स्वच्छन्द ग्रामबाला के कोमल परन्तु स्वस्थ सौन्दर्य के समान है, जिसके जीवन में न कोई ग्रंथियाँ हैं न आडम्बर, विकास के प्रवाह में जिसने कोई आडम्बर नहीं देखा, किसी विषमता की पर्वाह नहीं की। कोमल कल्पना की आलम्बन, इस बाला की जिस प्रकार कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनों के आडम्बर से ढकी हुई महिला से तुलना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार मीरा की कोमल अनुभूतियों से भरे हुए काव्य की तुलना अलंकारों तथा छन्दों के बल पर ही सुन्दर लगने वाले काव्य से करना उपहासप्रद है। परन्तु यह एक स्मरणीय तथ्य है कि सरलता तथा स्वच्छन्दता में ग्रामीणता और खुरदरापन नहीं है, उसमें स्वच्छन्द मृगी की अल्हड़ता तथा भोलापन है, अनुभूतियों के आवेग का संगीत है पर संयत, संस्कृत तथा परिष्कृत प्रेम का उत्साह है, भावों की इस सरिता की चंचल उर्मियाँ हिन्दी साहित्य के विशाल सागर में अपना पृथक् तथा महत्त्वपूर्ण अस्तित्व रखती हैं।

अलंकार—मीरा के काव्य का कलापक्ष प्रायः नगण्य है। मीरा सर्वप्रथम एक भक्त थीं। उनके नारी-हृदय की श्रद्धा तथा आस्था अनुभूतियों द्वारा ही प्रस्फुटित हुई है। काव्य में उनका परिगणन भाषा में व्यक्तीकरण तथा भावों की गहनता के कारण ही किया जा सकता है। वे स्वतः एक कलाकार नहीं थीं, कला की साधना को लक्ष्य बनाकर उन्होंने अपने पदों की रचना नहीं की, परन्तु भावोत्तेजन की स्पष्ट अभिव्यक्ति की चेष्टा में यत्र-तत्र अलंकारों की योजना स्वतः हो गई है। दूसरे अलंकारों की अपेक्षा रूपक का प्रयोग वहुत हुआ है। श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने मीरा द्वारा प्रयुक्त अनेक अलंकारों के नाम दिये हैं जिनमें रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अत्युक्ति तथा अनुप्रास मुख्य हैं। सांग रूपक के कई सुन्दर तथा मार्मिक उदाहरण उनकी रचनाओं में मिलते हैं—

या तन को दिवला करौं, मनसा करौं बाती हो।
तेल भरावों प्रेम का, बारों दिन राती हो॥
पाटी पारों ज्ञान की, मति माँग सँवारों हो।
तेरे कारन साँवरे, धन जोवन वारों हो॥

या सेजिया बहुरंग की, बहु फूल बिछाये हो।
पंथ जोहों स्याम का अजहुँ नहीं आये हो॥

उपमा अलंकार की योजना भी बड़ी सुन्दर और स्वाभाविक है, परन्तु इनके बन्धन के मूल में सचेष्ट कला नहीं है। अनुभूतियों की अजस्र धारा की अभिव्यक्ति में सादृश्य योजनाएँ स्वतः ही आ गई हैं; जैसे—

पानाँ ज्यूँ पीली पड़ी रे लोग कहें पिंड रोग।

संयोग-सुख की चरमावस्था में उनके स्वर कोकिल के गान का माधुर्य एकत्र करने को आकुल हो उठते हैं—

मैं कोयल ज्यूँ कुरलाऊँगी।

कृष्ण के रूप-वर्णन में साहित्यिक परम्परा का अनुसरण कर उन्होंने अनेक उत्प्रेक्षाओं की कल्पना की है, जो पर्याप्त सफल तथा सुन्दर हैं—

कुंडल की अलक झलक, कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन धाई॥

इसी प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी, आकाश तथा प्रकृति के अन्य उपकरण उनकी भावनाओं के समभागी बनते हैं; इस समत्व का वर्णन वह इस प्रकार करती हैं—

उमँग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसे, दामिणी छोड़ी लाज।
धरती रूप नव धरिया, इन्द्र मिलण के काज॥

विरह की तीव्र उत्कटता की व्यंजना अनेक स्थलों पर उन्होंने अत्युक्तियों द्वारा की है। परन्तु इन अत्युक्तियों का, भावपक्ष इतना प्रबल है कि अत्युक्तिजन्य उपहास नहीं आने पाता और विरहानुभूतियों की तीव्रता की करुणा, पूर्ण रूप से हृदय पर व्याप्त हो जाती है। रीतिकालीन नायिका की भाँति उनके विरह में वह उपहासप्रद अत्युक्ति नहीं है, जिससे अपनी क्षीणता के कारण अपनी श्वासों की गति वहन करने में भी वह असमर्थ है। मीरा की अत्युक्ति का प्रभाव करुणात्मक है—

माँस गले गल छीजिया रे, करक रह्या गल माँहि।
आँगुरिया री मूँदड़ी, आवन लागी बाँहि।

तथा

आऊँ आऊँ कर गया साँवरा, कर गया कौल अनेक।
गिणता गिणता घिस गई उँगली, घिस गई उँगली की रेख॥

यद्यपि उपर्युक्त अनेक अलंकारों की झलक उनके काव्य में मिलती है, परन्तु मीरा ने कला रूप में उनको नहीं अपनाया। उनके हृदय की तीव्र वेदनायें तथा गहन अनुभूतियाँ अपने में इतनी सजीव तथा सुन्दर हैं कि छन्द, अलंकार, ध्वनि इत्यादि काव्य कला के अनेक अंगों की कोई सार्थकता नहीं है। मीरा के प्रेम के अपार सागर

की तरंगित लहरों का सौन्दर्य सरल तथा स्पष्ट शब्दों में व्यक्त हुआ है। भावनाओं की यही एकनिष्ठा मीरा के काव्य का प्राण है, जो साहित्यिक परम्पराओं का निर्वाह करने वाले अनेक कवियों की रचनाओं से अधिक सप्राण तथा सजीव है।

छन्द—मीरा के पदों की स्वच्छन्द गति तथा मधुर संगीत पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए भाषा को छन्द अथवा पिंगल के बन्धनों में नहीं बाँधा। उनकी रागात्मक अनुभूतियाँ संगीत के माधुर्य में बिखर गई थीं। उनके छन्दों के रूप पूर्णतया स्वच्छन्द हैं, जिनमें समय तथा स्थान के और संगीत की सुविधाओं के अनुसार अनेक परिवर्तन किये गये हैं। उनके भावों के अनुरूप ही उनके छन्द की गति का निर्माण होता है। कहीं मात्राएँ अधिक हैं तो कहीं कम; और कहीं यति-भंग है। सारांश यह कि मीरा के सुन्दर तथा प्रवाहपूर्ण संगीत का कोई नियम नहीं, वह भी स्वच्छन्द है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने लगभग पन्द्रह प्रकार के छंद उनकी पदावली में बताये हैं। इन छंदों के प्रयोग में दोष आ गये हैं, परन्तु मात्राओं की संख्या तथा अन्य साम्यों के द्वारा अनेक छंदों का प्रयोग प्रमाणित किया है। जिन छंदों का प्रयोग उन्होंने किया है उनमें मुख्य ये हैं—

सार छंद, सरसी छंद, विष्णु पद, दोहा, समान सवैया, शोभन छंद, ताटंक छंद, कुंडल छंद।

सार छंद—इस छंद का प्रयोग उनके लगभग एक तिहाई पदों में हुआ है। इस मात्रिक छंद में १६ तथा १२ के विश्राम से २८ मात्राएँ होती हैं। अन्त में दो गुरु होते हैं। मीरा के जिन पदों में इस छंद का प्रयोग है उनमें कहीं-कहीं निरर्थक सम्बोधनों के प्रयोग के कारण उन्हें सदोष कहा जा सकता है, अन्यथा वे पूर्ण रूप से इस छंद के अन्तर्गत आ जाते हैं यथा—

मैं तो अपने नारायण की, आपहि हो गई दासी रे!

इसी प्रकार—

मैं जमुना जल भरन गई थी, आगयो कृष्ण मुरारी हे माय!

इस पद की प्रत्येक पंक्ति में प्रयुक्त यह निरर्थक 'हे माय' उसे सदोष बना देता है। परन्तु ऐसे उदाहरण इतने अधिक हैं कि इन निरर्थक शब्दावलियों को निकालकर इन पदों को सार छंद के अन्तर्गत रखना अनुचित नहीं प्रतीत होता।

सरसी छंद—इस छंद का प्रयोग भी मीरा के पदों में बहुलता से मिलता है। इसमें १६ तथा ११ के विश्राम से २७ मात्राएँ होती हैं तथा अन्त में गुरु व लघु आते हैं। इन पदों में भी निरर्थक शब्दों द्वारा अन्त ही छंद की मात्रा में अभिवृद्धि कर उसे सदोष बना देता है। उदाहरणार्थ—

दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल कर रही सोर छै जी।
मीरा के प्रभु गिरधरनागर, चरणों में म्हारो जोर छै जी।।

इस छंद के पदों में अनेक स्थलों पर मात्रा-भंग तथा यति-भंग का दोष आ गया है।

विष्णु पद्—इसका प्रयोग भी मीरा के पदों में हुआ है। इसमें १६ तथा १० के विश्राम से २६ मात्राएँ होती हैं और इसके अंत में गुरु लघु आते हैं। इस छंद में भी 'रे' आदि के प्रयोग उसे सदोष बना देते हैं। उदाहरणार्थ—

राम नाम जप लीजे प्राणी, कोटिक पाप करे रे।
जनम जनम के खत जु पुराने, नाम हि लेत फटे रे।।

दोहा छंद—दोहा छंद का प्रयोग मीरा ने किया है, परन्तु पूर्णतया, छंद के नियमों का अनुसरण प्रायः नहीं है, संगीत की लय से सामंजस्य उत्पन्न करने के ध्येय से छंद के नियमों की उन्होंने पूर्ण उपेक्षा की है। इस छंद के विषम चरणों में १३ तथा सम चरणों में ११ मात्राएँ होती हैं, परन्तु इनमें भी 'है' तथा 'जी' इत्यादि के प्रयोग से मात्राओं की संख्या बढ़ गई है—

झूठा मानक मोतिया री झूठी जगमग जोति।
झूठा सब आभूखना री साँची पिया जी री पोति।।

इनके बीच में प्रयुक्त 'री' इस छंद की गति को असम बना देता है। इसी प्रकार—

अविनासी सूँ बालमा है, जिनसूँ साँची प्रीत।
मीरा कूँ प्रभू मिला है, एही जगत की रीत।।

समान सवैया—मीरा द्वारा प्रयुक्त इस छंद में नियमों का काफी उल्लंघन हुआ है। इसमें १६ तथा १६ के विराम से ३२ मात्राएँ होती हैं और इसके अन्त में भगण अर्थात् ऽ।। आता है। इस छंद के नियमों में अनेक उल्लंघन हैं; उदाहरण-स्वरूप एक पद लीजिए—

आँबा की डाल कोयल इक बोले, मेरो मरण अस जगकेरी हाँसी।
विरह की मारी मैं बन बन डोलूँ, प्रान तजूँ करवत ज्यूँ कासी।।

ताटंक छंद—इस छंद में १६ तथा १४ के विश्राम से ३० मात्राएँ होती हैं। इसके अंत में साधारणतः मगण आना चाहिए, कहीं कहीं एक गुरु का प्रयोग भी मिलता है, उदाहरणार्थ—

उड़त गुलाल लाल भये बादल, पिचकारिन की लगी झरी री!
चोवा, चंदन और अरगजा, केसर गागर भरी धरी री!

अंत का री केवल संगीत की लय बनाने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

कुंडल छंद—इस छंद के भी प्रयोग में नियमों का बहुत उल्लंघन किया गया है। इसमें १२ तथा १० के विराम से २२ मात्राएँ होती हैं। प्रयोग की अशुद्धि के प्रमाणस्वरूप यह पद लिया जा सकता है—

गोहने गुपाल फिरूँ ऐसी आवत मन में।
अवलोकन वारिज वदन विवस भई तन में॥

× × ×

मुरली कर लकुट लेइ, पीत वसन धारूँ।
काछि गोप भेष मुकुट, गोधन संग चारूँ॥

प्रथम पंक्ति के सम चरण की मात्राओं की विषमता से ही यह सम्पूर्ण पद सदोष हो गया है। इन मात्रिक छंदों के अतिरिक्त कुछ वर्णिक छन्दों का प्रयोग भी मिलता है जिनमें मनहर कवित्त मुख्य है।

इस प्रकार मीरा के काव्य में छंदात्मक संगीत के पूर्ण अभाव का निष्कर्ष भ्रममूलक सिद्ध होता है। भाव संगीतबद्ध होकर ही गेय पदों का रूप ग्रहण करते हैं, मीरा के पदों को पूर्ण मुक्त छंदों की संज्ञा दे देना अनुचित है। उनके काव्य में जो लय तथा संगीत है, उसे सहसा भावनाओं का अजस्र प्रभावमात्र मान लेना तर्क-संगत नहीं है। यह सत्य है कि भाव काव्य की आत्मा है, पर जहाँ भावनाएँ गीत बनकर प्रस्फुटित होती हैं, वहाँ सचेष्ट कला की अति चाहे न हो, परन्तु कला का अस्तित्व अनिवार्य होता है।

मीरा को संगीत का पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने अपने पदों की रचना राग-रागिनियों के अनुसार की है। उनके पदों में अनेक शास्त्रगत छंदों का प्रयोग भी मिलता है, इन प्रयोगों को आकस्मिक मान लेना काव्य तथा कला की उपेक्षा के साथ-साथ मीरा के संगीत तथा काव्य-ज्ञान की भी उपेक्षा होगी। मीरा के काव्य में छंदों का प्रयोग भावनाओं की सरस तथा लयपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए हुआ है, यह कहना तो उपयुक्त है, पर उनकी भावनाएँ काव्य-नियमों के बन्धन में पड़ी ही नहीं, यह कहना भ्रामक है। उन्होंने पदों की रचना के उपयुक्त अनेक प्रचलित छंदों में अपनी रचनाएँ कीं, जिसमें लोकगीतों में प्रयुक्त शब्दावलियों का भी प्रयोग किया। लोकगीतों के इसी प्रभाव के कारण उनके पदों में ऐसे निरर्थक प्रयोग मिलते हैं, जो केवल गाने की रोचकता वृद्धि करने की दृष्टि से ही प्रयुक्त हुए हैं। इनके प्रयोग के साथ-साथ ही उन्होंने छंदों के नियमों की मर्यादा भंग की है। रे, री, जी, ए, माय, हो, माई इत्यादि शब्दों का प्रयोग उनके काव्यगत साधारण ज्ञान को स्थानीय लोक-गीतों का पुट देकर अधिक स्वाभाविक तथा गेय बना देते हैं।

पद-रचना परम्परा में, और विशेषकर रामबद्ध रचनाओं में, इस प्रकार के

प्रयोग अक्षम्य नहीं माने जाते। किसी विशिष्ट राग की सुविधानुसार एक ही पद में कई छंदों का प्रयोग, अथवा दो भिन्न-भिन्न छंदों का सम्मिश्रण काव्य-दोष नहीं ठहराया जा सकता। मीरा के ऐसे अनेक पद हैं जिनमें भिन्न-भिन्न छंद एकत्रित हो गये हैं। ऐसे पदों को सदोष नहीं ठहराया जा सकता, परन्तु जिन छंदों का प्रयोग हुआ हो उनका शुद्ध प्रयोग ही अभीष्ट होता है। मीरा के छंद इस दृष्टि से दोषयुक्त हैं, विविध छंदों के प्रयोग में मात्राओं में नियम-भंग अनेक स्थानों पर मिलता है, परन्तु यह दोष भी उन्हीं स्थलों पर आया है जहाँ पद को रागबद्ध करने के लिए विभिन्न तालों के साथ उनका सामंजस्य करने का प्रयास किया गया है, ऐसे ही स्थलों पर पिंगल के नियम भंग किये गये हैं। संगीत की सुविधानुसार ह्रस्व की गणना दीर्घ रूप में तथा दीर्घ की गणना ह्रस्व रूप में करनी पड़ी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मीरा की अजस्र भावनाओं का स्रोत छंदों द्वारा उद्भूत संगीत के लय में बँधकर प्रवाहित होता है। अनुभूतियों का प्रवाह छंदों की परिधि से टकराकर नहीं रह जाता, अनेक बार सीमा की मर्यादा का उल्लंघन कर पूर्ण वेग से विकास की ओर अग्रसर होता है, परन्तु इस आवेग में असंयत उच्छृंखलता नहीं, संयत प्रवाह तथा रागात्मक लय है, जिसका श्रेय उनकी रागात्मक अनुभूतियों के साथ-साथ उनके कला-परिचय तथा संगीत प्रेम को भी है।

मीरा की भाषा—प्रत्येक कवि की भाषा स्थान तथा काल से प्रभावित होती है। मीरा की रचनाओं के साथ भी यही सिद्धान्त शत-प्रतिशत लागू होता है। उनके जीवन के तीन मुख्य क्रीड़ास्थल रहे। शैशव तथा गार्हस्थ्य जीवन राजस्थान में व्यतीत कर वे वृन्दावन गईं, तदुपरान्त द्वारिकापुरी में जाकर जीवन के शेष दिन बिताये। इन तीनों ही प्रदेशों की भाषा का प्रभाव उनकी रचनाओं में मिलता है। राजस्थानी, ब्रजभाषा तथा गुजराती भाषा का प्रत्यक्ष प्रभाव है। यथेष्ट संख्या में उनके पद शुद्ध गुजराती में प्राप्त होते हैं।

पद चाहे गुजराती के हों या ब्रजभाषा अथवा राजस्थानी के, सरलता तथा आडम्बरहीनता सबके गुण हैं। उनकी भाषा में अलंकारों का विधान नहीं, भाषा को सुन्दर बनाने का कलापूर्ण प्रयास उसमें नहीं दृष्टिगत होता, परन्तु भावों की अभिव्यक्ति में पूर्ण सफलता तथा परिष्कार दृष्टिगोचर होता है। उनकी अनलंकृत भाषा का सौंदर्य अनूठा है। उनकी सर्वग्राहक प्रवृत्ति ने जो कुछ भी जहाँ प्राप्त किया उसे ग्रहण किया, परन्तु उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन सदैव जनता की ही भाषा रही, साहित्यिक विद्वज्जनों की नहीं।

राजस्थान में भाषा दो रूपों में विकसित हो रही थी—पश्चिमी राजस्थानी तथा पूर्वी राजस्थानी। पश्चिमी राजस्थानी का प्रयोग साहित्यिक रूप में करने वाले

चारण तथा जैन कवि थे। इनकी भाषा पर संस्कृत का प्रभाव प्रायः नगण्य था। इसलिए एक ओर इसमें संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का अभाव तो है ही दूसरी ओर उसमें प्राकृत तथा अपभ्रंश की अनेक विशेषताएँ संरक्षित रहीं, और दुर्भाग्यवश विकास के अनुकूल परिस्थितियाँ न पाकर अधिकतर अपने प्रान्तीय रूप में ही सीमित रह गईं।

पूर्वी राजस्थानी पर संस्कृत का प्रभाव बहुत अधिक है। इसी का विकसित रूप आगे चलकर ब्रजभाषा के रूप में प्रचलित हुआ। उस काल की पिंगल भाषा तथा शुद्ध भाषा में व्याकरण तथा उच्चारण सम्बन्धी कुछ मौलिक अन्तर है। मीरा के राजस्थानी में लिखे हुए पदों में इसी भाषा का प्रभाव प्रधान है। डिंगल के शब्दों का प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलता है, पर पूर्वी राजस्थानी ही उनकी भाषा का मुख्य रूप है। श्री सुरेन्द्रनाथ सेन ने अपने लेख 'मेवाड़ कोकिल मीराबाई' में एक समस्या की अपेक्षा की है। यह एक समस्या अपने हल की अपेक्षा करती है कि उस समय की परम-प्रिय डिंगल को छोड़कर मीरा ने हिन्दी में ही भजन क्यों गाये? राजस्थानी भाषा की उपर्युक्त विवेचना इस समस्या का पूर्ण समाधान कर देती है।

मीरा की राजस्थानी में पिंगल का रूप ही प्रधान है, परन्तु पिंगल के शब्दों का समावेश यत्र-तत्र हो गया है। जैसे—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत, सिगरी रैन बिहानी हो ॥
अंगि अंगि व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर वेदन विरह की वह पीर न जानी हो ॥
ज्यूं चातक घन को रटे, मछरी जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल बिरहिनी, सुध बुध बिसरानी हो ॥

यों तो मीरा के गुजराती पदों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। इन्हीं के आधार पर उन्हें गुजराती भाषा के अग्रगण्य कवियों में स्थान प्राप्त है। उनके वे पद तो स्वतन्त्र आलोचना की अपेक्षा रखते है, परन्तु हिन्दी में लिखे पदों में भी गुजराती की स्पष्ट छाप है। उदाहरणार्थ—

प्रेम नी प्रेम नी प्रेम नी मोहे लागी कटारी प्रेम नी।
जल जमुना माँ भरवा गमांतां, हती गागर माथे हेम नी।

इसके अतिरिक्त पंजाबी, खड़ीबोली, तथा पूर्वी भाषा का प्रभाव भी उनके पदों में दिखाई पड़ता है। यद्यपि मीरा की भाषा पर ये प्रभाव बहुत गौण हैं, परन्तु उनके प्रयोग में भी सौंदर्य तथा सरलता का हनन नहीं होने पाया है। उदाहरण के लिए—

हो कानाँ किन गूँथी जुल्फाँ कारियाँ

पूर्वी का प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलता है—

जसुमति के दुवखाँ, ग्वालिन सब जाय।
बरजहु आपन दुलरुवा हमसे अरुझाय ।।

मीरा की भाषा की इस अनेकरूपता का एक कारण उनके पदों की लोकप्रियता तथा गेयात्मकता है। माधुर्य तथा प्रसाद गुण प्रधान होने के कारण उनके पद सर्वसाधारण में प्रचलित होते गये। समस्त उत्तरापथ तथा दक्षिण भूमि, साधना और विश्वास-प्रधान उस धार्मिक युग में मीरा की मधुर वाणी से गूँज उठा।

बंग देश से पंचनद प्रदेश, तथा उत्तरापथ से महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिणात्य तक उनके गान जनता की वाणी में मुखरित हो उठे। तत्पश्चात् परम्परागत विकास, प्रचार के विस्तृत क्षेत्र और सार्वजनिक लोकप्रियता के कारण उनके गीतों के बाह्य परिधान में अनेकरूपता आ गई। मीरा के नाम से अनेक पद लिखकर उनके पदों के नाम से प्रचलित किये गये, पर मीरा की अमर माधुर्य भावना की तुलना में वे इतने पीछे पड़ जाते हैं कि प्रक्षिप्त पदों तथा मौलिक पदों के मध्य एक निश्चित रूपरेखा खींची जा सकती है। मीरा के गीत जनवाणी की महत् शक्ति में स्थान प्राप्त कर सर्वयुगीन तथा सर्वकालीन बन गये हैं।

इस प्रकार मीरा का नैसर्गिक व्यक्तित्व हिन्दी काव्य जगत् में शाश्वत बन गया है। उनकी चरम अनुभूतियों की सरस अभिव्यक्तियों ने उन्हें अमरता का वरदान दिया है। मीरा कवि नहीं थीं, यह कथन काव्य रस से अनभिज्ञ उन कृत्रिम व्यक्तियों की मूढ़ता का परिचायक है जो सचेष्ट छंद रचना तथा अलंकार विधान को ही कला मानते हैं। मीरा की कला उनकी सरस अनुभूतियों तथा आडम्बरहीन सरलता में निहित है। उनका काव्य उनके हृदय की अनुभूतियाँ हैं, अन्तर्वेदना का चीत्कार मीरा की गम्भीर विरहानुभूतियों में व्यंजित है। जायसी, सूरदास तथा विद्यापति की शास्त्रगत परम्पराबद्ध विरहोक्तियाँ विदग्धता तथा चमत्कार की दृष्टि से चाहे मीरा की कविता विरह-व्यंजना से आगे हो, परन्तु उनका बहिर्मुखी दृष्टिकोण मीरा के आभ्यंतरिक विरह की अनुभूतियों की उत्कृष्टता को स्पर्श भी नहीं कर सकता। मीरा चिर-आकुल विरहिणी थीं, उनके गीतों में व्यक्त विरह-भावना अनुपम अतुलनीय है। अन्तर्वेदना का इससे सजीव चित्र अन्य किस कवि की रचना में मिलेगा—

राम मिलन के काज सखी मेरे आरति उर में जागी री।
तलफत तलफत कल न परत है, विरहबाण उर लागी री।
विरह भुवंग मेरो डस्यो है कलेजो, लहरि हलाहल जागी री ।।

मीरा में काव्य-रचना की नैसर्गिक प्रतिभा थी। पाण्डित्य, साहित्य तथा कला

सम्बन्धी परिपक्व ज्ञान के अभाव के कारण उन्हें भक्ति शाखाओं के महान् कवियों के समकक्ष नहीं रखा जा सकता । परन्तु दर्द दीवानी मीरा की प्रेमानुभूतियों की स्वच्छंदता, सौंदर्य तथा माधुर्य की समता अन्य कहीं असम्भव है । उनके नैसर्गिक व्यक्तित्व की अनुपमेयता की भाँति ही उनका काव्य भी अनुपम है, जिनमें उनकी विह्वल भावनाएँ व्यक्त हैं जिनकी स्वच्छंदता में उन्मुक्त परन्तु उनकी मर्यादापूर्ण मधुर भावनाएँ मुखरित हो उठती हैं—

लोक लाज कुल काणि जगत की, दई बहाय जस पाणी ।
अपने घर का परदा कर ले, मैं अबला बौराणी ।।

गंगाबाई—(विट्ठल गिरधरन) गंगाबाई के स्वर कृष्ण काव्यधारा में मिले हुए उस निर्झरिणी के एकान्त प्रवाह के सदृश हैं, जिसके सौंदर्य तथा संगीत का महत्त्व, प्रमुख धारा में लय होने वाले बृहत्तर प्रवाहों की गरिमा के समक्ष उपेक्षित रह जाता है। गंगाबाई श्री विट्ठलदास जी की शिष्या थीं । विट्ठलनाथ जी के अन्य शिष्य जहाँ अष्टछाप में कृष्ण के सखाओं के प्रतीक बनकर वैष्णव जगत् के माध्यम से हिन्दी में अमर हो गये, वहीं गंगाबाई के सरस पदों की प्रतिध्वनि एक सीमा में ही गूँजकर विलीन हो गई। कृष्ण भक्ति परम्परा की इस कवयित्री के नाम का उल्लेख अभी नागरी प्रचारिणी सभा की प्रकाशित खोज रिपोर्टों में भी नहीं आया है। स्वर्गीय डा० बड्थ्वाल द्वारा सम्पादित हस्तलिखित ग्रथों की खोज रिपोर्टों की उन प्रतियों में जिनका अभी मुद्रण नहीं हुआ है, उनके नाम का उल्लेख मिलता है। मिश्रबंधुओं ने इनके नाम का उल्लेखमात्र अपने बृहत् इतिहास 'मिश्रबन्धु विनोद' में कर दिया है।

गंगाबाई के रचनाकाल के विषय में यद्यपि कोई निश्चित उल्लेख नहीं मिलता, पर विठ्ठलनाथ जी की शिष्या होने के कारण उनका समय संवत् १६०७ (विक्रमी) सन् १५५० के लगभग होना निश्चित है, क्योंकि विट्ठलनाथ जी का समय इसी के आसपास माना जाता है । इनका जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था तथा ये महावन नामक स्थान में रहती थीं । गंगाबाई की जीवनी के विषय में और कुछ उल्लेख नहीं प्राप्त होता । विट्ठलदास के शिष्यों द्वारा रचित पदों के संग्रहों में उनके पद विट्ठल गिरधरन के नाम से संगृहीत हैं।

गंगाबाई द्वारा रचित एक स्वतन्त्र ग्रंथ गंगाबाई के पद नाम से प्राप्त हुआ है। इस ग्रंथ में प्राप्त उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि उन्होंने कृष्ण के बाल रूप की उपासना की है तथा बाललीला के ही गीत गाये हैं । इन पदों को विषय की विभिन्नता के अनुसार चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. कृष्ण-जन्म के पद।

२. कृष्ण के पालने, छठी, राधा अष्टमी की बधाई तथा दान आदि के पद।
३. रास, रूप चतुर्दशी, दीपमालिका, अन्नकूट, गुसाईं जी की बधाई और धमार सम्बन्धी गीत।
४. आचार्य जी की बधाई, मल्हार, नित्य पूजा अथवा ठाकुर सेवा के समयोचित गीत।

हस्तलिखित ग्रंथ के अप्राप्त होने के कारण यद्यपि पदावली पर पूर्ण विवेचना असम्भव है, परन्तु विषयों के उल्लेख द्वारा उनकी भाव-पद्धति तथा उपासना इत्यादि का अनुमान किया जा सकता है। कृष्ण काव्यधारा की लेखिकाओं में गंगाबाई ने ही वात्सल्य भाव को प्रधान रूप में ग्रहण किया है। अधिकांश स्त्रियों ने कृष्ण के प्रति शृंगारिक माधुर्य भावनाओं का ही उन्नयन किया है। मातृ हृदय के उल्लास की अभिव्यक्ति कृष्ण के बालरूप में करने वाली केवल गंगाबाई ही हैं।

वात्सल्य की अभिव्यक्ति में हृदय की अनुभूतियों का उतना सूक्ष्म विश्लेषण वे नहीं कर सकी हैं, जितना वात्सल्यजन्य रागपूर्ण वातावरण की सजीव तथा चित्रमयी अभिव्यक्ति। कृष्ण-जन्म पर यशोदा का उल्लास इन सीधी-सादी पंक्तियों में सजीव हो उठता है—

रानी जू सुख पायो सुत जाय।
बड़े गोप वधून की रानी हँसि हँसि लागत पाय॥
बैठी महरि गोद लिये ढोटा आछी सेज बिछाय।
बोलि लिये ब्रजराज सबनि मिलि यह सुख देखो आय॥
जेई जेई बदन बदी तुम हमसों ते सब देहु चुकाइ।
ताते लेहु चौगुनी हम पै कहत जाइ मुसकाइ॥
हम तो मुदित भये सुख पायो चिरजीवो दोउ भाइ।
श्री विट्ठल गिरधरन कहत ये बाबा तुम माइ॥

मातृत्वजन्य उल्लास के प्रति ये एक स्त्री के उद्‌गार हैं। प्रसंग की सूक्ष्मताओं पर वात्सल्य क्षेत्र के अधिपति सूर की ही दृष्टि पड़ सकी है। पुत्र का वरदान पाकर रानी यशोदा अपने सुत की मंगल-कामना की आशीष पाने को उत्सुक, नव-प्रसूत वधू के अनुरूप सबके चरण स्पर्श कर रही है। परम्पराओं तथा रीतियों के निर्वाह के प्रति स्त्रियाँ ही जागरूक रह सकती हैं, पुरुष नहीं। गंगाबाई भी अपने नारीत्व की इसी रूढ़िवादिता के कारण इस सूक्ष्मता को काव्य में पिरो सकी हैं। प्रसंग आगे चलकर और भी सजीव तथा सरस हो जाता है, जब शिशु कृष्ण के जन्म के पूर्व लगी शर्तों को पूरी करने की माँग की जाती है, और नन्द-यशोदा शर्त से चौगुना देने का वचन देते हुए उल्लास से मुस्करा देते हैं।

इस स्वतन्त्र ग्रंथ के अतिरिक्त पुष्टिमार्गी भक्तों के अनेक पद-संग्रहों में विट्ठल गिरधरन के पद सम्मिलित हैं। जिन संग्रहों में उनके पद मिलते हैं उनके नाम निम्नलिखित हैं—

१. बधाई गीत सागर—इस संग्रह में अनेक अवसरों पर लिखे गये बधाई के गीत हैं। इनमें कुछ पद गंगाबाई के भी हैं।

२. बधाई सागर—इस संग्रह के पदों का विषय महामहोत्सव अर्थात् गोकुलनाथ की जयन्ती दिवस की बधाइयाँ हैं। जिन प्रसंगों पर उनके पद प्राप्त होते हैं वे प्रसंग निम्नलिखित हैं—

१. वल्लभाचार्य जयन्ती के उपलक्ष में लिखी गई बधाइयाँ।

२. गुसाईं जी का कीर्तन।

३. आचार्य महाप्रभू की पुनः बधाई।

३. गीत सागर—इस संकलन में गंगाबाई द्वारा रचित बाल लीलाओं के गीत, राधा जी के गीत, दानलीला के पद, वामन अवतार, साँझ उत्सव, आचार्य वल्लभाचार्य के जन्मदिन की बधाई, गुसाईं विट्ठल नाथ जी के जन्मदिन की बधाई, तथा रामनवमी की बधाई इत्यादि विषयों पर लिखे हुए पद हैं।

४. उत्सव के पद—इस संग्रह में जन्माष्टमी के उत्सव पर गाये जाने वाले गीतों का संग्रह है, गंगाबाई द्वारा रचित कृष्ण जन्मोत्सव तथा वर्षगाँठ उत्सव के पद हैं। जन्माष्टमी कृष्ण की पुण्य वर्षगाँठ दिवस है। इस प्रसंग के पदों में गंगाबाई ने हिन्दू परम्परा के अनुसार वर्षगाँठ के सुन्दर आयोजन का वर्णन किया है—

जसुमति सब दिन देत बधाई।
मेरे लाल की मोहि विधाता बरसगाँठ दिखाई ॥
बैठी चौक गोद ले ढोटा आछी लगनि धराई।
बहुत दान पावन सब विप्रन लालन देखि सिहाई ॥
रुचि करि देहु असीस ललन को अप अपने मन चाई।
श्री विट्ठल गिरधरन गहि कनिया खेलत रहहि सदाई ॥

पुत्र की वर्षगाँठ के अवसर पर यशोदा के उल्लसित हृदय की कल्पना कर गंगाबाई उन्हीं के उल्लास को अपने हृदय की भावनाएँ मान सदैव ही बाल-कृष्ण को गोद में लेकर उनके प्रति वात्सल्य रस उँडेल देने को आकांक्षित हैं। नैसर्गिक आलम्बन के प्रति लौकिक पुण्य भावना के इस साधारण रूप-चित्रण के अतिरिक्त ऐसे अति प्राकृत प्रभाव वाले चित्र भी हैं, जहाँ इस उल्लास तथा आनन्द का प्रभाव भी नैसर्गिक है, जहाँ अपार्थिव के प्रति वात्सल्य के उल्लास में तन्मयता, विमुग्धता

तथा प्रेम की पराकाष्ठा की अभिव्यंजना है—

सब कोई नाचत करत बधाये।
नर नारी आपुस में ले ले हरद दही लपटाये॥
गावत गीत भाँति भाँतिन के अप अपने मन भाये।
काहू नहीं सँभार रही तन प्रेम पुलकि सुख पाये॥
नन्द की रानी ने यह ढोटा भले नक्षत्रहि जाये।
श्री विट्ठल गिरधरन खिलौना हमरे भागन पाये॥

कृष्ण के बालरूप के प्रति इन उक्तियों की सरलता तथा स्वाभाविकता ही उनकी सुन्दरता है। अनलंकृत परिधान में उनके साधारण भाव यद्यपि बहुत साधारण रूप में व्यक्त हुए हैं, पर उस साधारणता में एक आकर्षण है। पदों में लय निर्माण के लिए अप्रचलित रूपों में शब्द का प्रयोग भी हुआ है। उपर्लिखित दोनों ही उद्धरणों में अपने-अपने के स्थान पर अप अपने का प्रयोग किया है। वात्सल्य-सिक्त इन पदों के अतिरिक्त माधुर्य भावना से ओत-प्रोत कृष्ण की किशोर लीलाओं तथा रूप का वर्णन उन्होंने किया है। किशोर कृष्ण की नटवर प्रवृत्ति, चंचल स्वभाव तथा सुन्दर आकृति के प्रति उनकी भावनाएँ एक किशोरी प्रेयसी की हैं, जो कृष्ण की रसिकता तथा लीला के रंग से सिक्त होकर विमुग्धा-सी अपने आपको उनमें खो देती है—

उसकी यह प्रेम भरी खीझ कितनी स्वाभाविक है—

लाल ! तुम पकरी कैसी बान ?
जब ही हम आवत दधि बेचन तब ही रोकत आन॥
मन आनन्द कहत मुँह की सी, नंद नंदन सो बात।
घूँघट की ओझल ह्वै देखन, मन मोहन करि घात॥
हँसि लाल गह्यो तब अंचरा, बदन दही जु चखाई।
श्री विट्ठल गिरधरन लाल ने खाइ के दियो लुटाई॥

इनकी माधुर्य भावना में मीरा का प्रौढ़ मार्दव नहीं, चांचल्य है परन्तु उच्छृंखलता नहीं है। गोरस दान इत्यादि सरस प्रसंगों की ओर उनका अधिक आकर्षण है। कृष्ण की चंचल क्रीड़ाएँ उनके सुख की प्रेरणा बनकर उनके जीवन को विभोर कर देती हैं—

जो सुख नैनन आज लह्यो।
सो सुख मो पै मोरी सजनी नाहिन जात कह्यो।
हौं सखियन संग श्री वृन्दावन बेचन जात दह्यो॥
नन्द कुमार सलोने ढोटा आँचर धाइ गह्यो।
बड़े नैन विशाल सखी री मोतन नैकु चह्यो॥

इन दो-चार उद्धरणों द्वारा गंगाबाई के काव्य के विषय में कोई निश्चित धारणा बनाना कठिन है। इन थोड़े से पदों द्वारा उनके काव्य का परिचयात्मक आभास मात्र सम्भव हो सकता है, पूर्ण रूपांकन नहीं।

उनके काव्य के विषयों तथा नित्य लीला इत्यादि के वर्णनों से यह पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है कि विट्ठलनाथ जी की शिष्या होने के कारण उन पर पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों का पूर्ण प्रभाव है। स्त्री होने के कारण उन्होंने वात्सल्य तथा माधुर्य भाव को ही अधिक अपनाया है। दूसरे भावों का आरोपण उन्होंने कृष्ण पर किया है अथवा नहीं, यह कहना कठिन है; क्योंकि खोज रिपोर्टों में उल्लिखित थोड़े से पदों के आधार पर ही उनके सम्पूर्ण पदों के विषय में पूर्ण निष्कर्ष नहीं बनाया जा सकता। वल्लभ सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार भगवान् प्रत्येक भाव से भजनीय हैं। मानव-हृदय की प्रधान अनुभूतियों में से वात्सल्य तथा माधुर्य भावनाओं को ही उन्होंने प्रचुर रूप में अपनाया है। गंगाबाई के पदों में भी कृष्ण के बालरूप के प्रति वात्सल्य तथा किशोर रूप के प्रति मधुर भावनाएँ व्यक्त हैं। उनके भावपक्ष यद्यपि प्रांजल तथा अधिक मार्मिक नहीं हैं, परन्तु उनमें गद्यात्मक नीरसता भी नहीं है। भावनाओं में सरसता तथा सजीवता है, परन्तु सरल तथा स्वाभाविक।

समाज-प्रिय होने के कारण मनुष्य को अपनी भावनाओं के समाजीकरण द्वारा विचित्र सुख का अनुभव होता है। वैयक्तिक भावनाएँ, चाहे उनमें अवसाद की कालिमा हों अथवा उल्लास की अरुणिमा, सामाजिक तादात्म्य के पुट से निखर उठती हैं। गंगाबाई के काव्य में जहाँ एक ओर मानव-मन की इस प्रवृत्ति का आभास मिलता है, वहीं दूसरी ओर समस्त वातावरण के उल्लास की व्यंजना भी मिलती है। कृष्ण के जन्म के पूर्व तथा उसके पश्चात् का वातावरण अभिधात्मक वर्णन के बिना भी पूर्ण चित्र बनकर पाठक के सामने आ जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि वात्सल्य भाव की अन्तः अनुभूतियों को वे स्पर्श भी नहीं कर सकी हैं और अष्टछाप के कवियों की वात्सल्य व्यंजना के समक्ष उनके पद कुछ नीचे पड़ते हैं, परन्तु उनके द्वारा रचित पदों के अनुपात में प्राप्त पद इतने कम हैं कि इस विषय में कोई निष्कर्ष देना अनुचित-सा जान पड़ता है। श्रीकृष्ण की नित्य लीला-वर्णन तथा संकीर्तन में हिन्दू संस्कार विधियों के अनुसार कृष्ण के जन्म तथा वर्षगाँठ के नीरस अभिधात्मक वर्णन वात्सल्य क्षेत्र के एकाधिकारी सूरदास तक ने दिये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सूरदास के वात्सल्य सम्बन्धी पद मानव की इस शाश्वत भाव की अमर अभिव्यक्ति है, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उनके तद्विषयक अनेक पदों में केवल भोज्य पदार्थों और व्यंजनों का परिगणन मात्र है। गंगाबाई के पद सूर के उन पदों से निःसन्देह अच्छे हैं।

विट्ठल गिरधरन की काव्यगत विशेषताओं में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि वात्सल्य तथा शृंगार दोनों ही क्षेत्रों में उनकी भावनाओं में एकान्त वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा रागजन्य सामूहिक ऊहापोह का स्थान अधिक है। इसका कारण यह हो सकता है कि उनकी काव्य-रचना की मूल प्रेरणा आत्मानुभूति नहीं थी और उनकी परिसीमित अन्तःदृष्टि सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण के आधार पर कृष्ण की मूर्ति के प्रति इन भावों की प्रकृत अभिव्यक्ति में असमर्थ थी। उनकी काव्य-प्रेरणा अपार्थिव कृष्ण के प्रति आन्तरिक प्रेमजन्य चरमानुभूति से नहीं, अष्ट-छाप कवियों के सम्पर्क द्वारा उत्पन्न आस्था और निष्ठा है, जिसमें रागजन्य अनुभूतियों की अपेक्षा विश्वासजन्य आस्था अधिक है। पुष्टि मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों के गाम्भीर्य से उनका परिचय था या नहीं यह कह सकना कठिन है, परन्तु उनके उपलब्ध पदों से इस प्रकार का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

गंगाबाई की साहित्यिक देन पर न्यायपूर्ण दृष्टिपात तब तक नहीं किया जा सकता जब तक उनकी समस्त रचनाएँ प्रकाश में न आ जायँ। वल्लभ सम्प्रदाय के अनेक पद-संग्रहों में यत्र-तत्र बिखरे हुए उनके स्फुट पदों तथा उनके स्वतन्त्र ग्रन्थ के पदों से पूर्ण परिचय प्राप्ति के बिना उनके द्वारा रचित काव्य के गुण तथा दोषों आदि की अधिक विवेचना करना प्रायः असम्भव है। हाँ, इतना निर्भ्रांत रूप से कहा जा सकता है कि उनके पद प्रकाश में आने पर मात्रा तथा गुण दोनों ही दृष्टियों से कृष्ण काव्य-परम्परा की नारी की स्वतन्त्र देन के अस्तित्व की साक्षी देने में समर्थ हो सकेंगे।

महारानी सोनकुँवरि—महारानी सोनकुँवरि जयपुर के राजवंश की रानी थीं। उनके पति तथा वे स्वयं वैष्णव सम्प्रदाय की प्रमुख धारा राधावल्लभी सम्प्रदाय को मानते थे। इनका उपनाम सुवर्ण बेलि था। इनकी एक रचना सुवर्ण बेलि की कविता के नाम से प्राप्त है जिसमें कृष्ण-पूजा के विशेष अवसरों पर गाये जाने वाले गीत संगृहीत हैं। इस पुस्तिका की हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में है, इसके अतिरिक्त और कहीं इनका उल्लेख नहीं प्राप्त होता। इस प्रति का हस्तलेखन सन् १७७७ ई० में हुआ था। इसमें २०१ पद संगृहीत हैं।

वृषभानकुँवरि महारानी—ये ओरछा राज्य की महारानी थीं। इनके द्वारा रचित तीन ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है। ये ग्रन्थ हैं—भक्ति विरुदावली, औरंगचन्द्रिका तथा दानलीला। इनका रचनाकाल १८८५ से लेकर १९०४ तक माना जाता है। इनका तथा इनकी रचनाओं का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट की एक प्रति के परिशिष्ट में मिलता है।

रसिक बिहारी बनीठनी जी—कृष्ण-काव्य-परम्परा के कवियों में नागरी-

दास यद्यपि प्रचारात्मक अभाव के कारण अष्टछाप के कवियों की भाँति लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध नहीं हो सके, परन्तु उनकी रचनाओं का इस परम्परा में विशिष्ट स्थान है। नागरीदास ने जीवन को रसात्मक दृष्टिकोण से देखा था, रसिक बिहारी बनीठनी जी से भी उन्होंने रूढ़ियों तथा सामाजिक शृंखलाओं के बन्धनों को तोड़कर सम्बन्ध स्थापित किया था। उनके प्रणय के पूर्व इतिहास के उल्लेख के अभाव में, रसिक बिहारी जी के पितृकुल तथा पूर्व जीवन आदि पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला जा सकता; केवल इतना कहा जा सकता है कि भ्रमर की उन्मुक्त चेष्टाएँ कलिका के जीवन में मुस्कान तथा सौरभ बन गईं। नागरीदास की प्रतिभा के स्पर्श से रसिक बिहारी को अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति की क्षमता प्राप्त हुई।

नागरीदास जी के जीवन में विपत्तियों की अनेक झंझाएँ आईं, और फलस्वरूप अनेक प्रतिक्रियाएँ भी उत्पन्न कर गईं। राजनीतिक विषमताओं तथा गार्हस्थिक झंझटों ने उनकी जीवनधारा में विराग की एक लहर उत्पन्न करदी, उसी लहर के प्रवाह में वे राजकाज, वैभव, ऐश्वर्य सब कुछ त्यागकर विरागी बन गये।

वैराग्य-धारण के उपरान्त, अपने सम्बन्ध की अवैध सीमा के व्यवधान के रहते हुए भी, बनीठनी जी उनका साथ न छोड़ सकीं; तथा अपने उस सम्बन्ध के कोमल सूत्र को, जिसे पाणिग्रहण तथा भाँवरों के द्वारा स्थायी रखने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी, दृढ़ बनाये रखा। नागरीदास जी ने अपने इस जीवन में अनेक भ्रमण किये, बनीठनी जी सदैव उनके साथ रहीं। नागरीदास जी प्रेम से उन्हें 'बनी' कहकर सम्बोधित करते थे। वृन्दावन में रसिक बिहारी बनीठनी जी के नाम की एक छतरी है जिससे यह पूर्णतया प्रमाणित हो जाता है कि वे नागरीदास जी के साथ वृन्दावन में रही थीं। छतरी पर अंकित शिलालेख इस प्रकार है—

श्री बिहारी जी

श्री विहारिन विहारि जी ललितादिक हरिदास।
नरहरि रसिकन की कृपा कियो वृन्दावन वास॥
रसिक बिहारी साँवरी, ब्रजनागर सुरकाज।
इन पद पंकज मधुकरी,··· विष्णु समाज॥

वृन्दावन में ही उनकी मृत्यु संतान-हीनावस्था में ही हो गई। उनकी मृत्यु वि० सं० १८२२ आषाढ़ सुदी मानी जाती है।

नागरीदास जी के रचना-संग्रह 'नागर समुच्चय' में आन कवि कृत नाम से उनके पद मिलते हैं। पहले यह सन्देह किया जाता था कि स्वयं नागरीदास जी ही रसिक बिहारी के नाम से कविता लिखते थे, परन्तु अनेक पदों में 'बनी' शब्द के प्रयोग से इस संशय का निवारण हो जाता है। उदाहरणार्थ—

बनी बिहारिन रस सनी निकट बिहारी लाल।
पान कियो इन दृगनि ते अनुपम रूप रसाल॥

× × ×

तहँ पद गाये ओसर संजोग, बिच रसिक बिहारी ही के भोग।

नागर समुच्चय के अतिरिक्त उत्सव माला नामक ग्रंथ में भी रसिक बिहारी छाप के तीन पद तथा चार दोहे प्राप्त होते हैं। रसिक बिहारी राधाकृष्ण के युगल रूप की उपासिका थीं। कृष्ण के प्रति उनके भावों में माधुर्य की ही प्रधानता है, परन्तु राधा के बालरूप तथा जन्म के अवसर पर जो पद मिलते हैं उनमें वात्सल्य प्रधान है। रसानुभूतियाँ तो इस रस की प्रायः नगण्य ही हैं, परन्तु जन्मोत्सव के उल्लास तथा आनन्दपूर्ण वातावरण के चित्र सजीव हैं, राधाकृष्ण की आनन्द प्रसारिणी सिद्ध शक्ति है। उसका जन्म इसी कारण लीला के इतिहास में पृथक् अस्तित्व रखता है—

आज बरसाने मंगल गाई।
कुँवर लली को जन्म भयो है घर-घर बजत बधाई॥
मोतिन चौक पुरावो गावो देहु असीस सुहाई।
रसिक बिहारी की यह जीवनि प्रगट भई सुखदाई॥

कृष्ण के प्रति उनकी भावनाओं में माधुर्य का वही रूप प्रधान है, जिसके अनुसार पुरुष नारी की रतिमूलक भावनाओं का ही पूरक होता है। उनके अनुराग में गाम्भीर्य, मार्मिकता तथा शुद्ध भावना का अभाव है। उनके प्रेम पर चढ़ा हुआ वासना का गहरा रंग, अनुभूतियों को अपनी प्रगाढ़ता के आवरण में छिपा लेता है। बनीठनी जी के जीवन में मानसिक तथा शारीरिक कुंठा का अभाव था। मध्यकालीन युग की पराधीनता में अपनी कामनाओं की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के फलस्वरूप, उन्होंने नागरीदास जी के साथ, समस्त सामाजिक तथा वैधानिक नियमों का उपहास करते हुए, अपने हृदय का संसार बसाया था। नागरीदास जी के रसिक व्यक्तित्व से जो कुछ भी उन्होंने प्राप्त किया उसी की एक छाया उनके मधुर गीतों में मिलती है।

प्रेम की आतुरता समाज के उपहास की अपेक्षा नहीं करती, उनके जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव का एक साकार उदाहरण अपार्थिव कृष्ण पर आरोपित भावनाओं से मिल सकता है—

मैं अपने मन भावन लीन्हों, इन लोगन को कहा नहिं कीन्हों।
मन दे मोल लियो री सजनी, रत्न अमोलक नवल रंग भीनो॥
कहा भयो सबके मुँह मोरे मैं पायो पीव प्रवीनो।
रसिक बिहारी प्यारो प्रीतम, सिर विधना लिख दीनो॥

उनके काव्य में व्यक्त परकीया भावनाओं में यौवन की असंगत परिभाषा है,

परन्तु उसमें परकीयत्व की तीव्र अनुभूतियों और मादक मूर्छनाओं का एकान्त अभाव नहीं। प्रेम की वह स्थिति जहाँ समस्त संसार से लोहा लेकर उसकी स्थापना की जाती है; जब समस्त तर्क, विवेक तथा बौद्धिकता, भावनाओं की तीव्रता तथा प्रबलता के समक्ष हार मान जाती है; उस स्थिति के प्रति वैयक्तिक सन्तोष की यह अभिव्यक्ति असफल नहीं कही जा सकती।

उनके माधुर्य में भावनाओं की विशुद्धि कम, रतिभाव की चेष्टाएँ अधिक हैं। इनका मांसल नारीत्व सदैव सजग है, कृष्ण के प्रति आकर्षण के साथ-साथ मधुर उपालम्भ देती हुई गोपिका के स्वरों में एक किशोर की उच्छृंखल चेष्टाएँ तथा किशोरी-सुलभ आकर्षण, मान तथा मर्यादाजन्य विकर्षण का सम्मिलित रूप साकार हो जाता है—

कै तुम जाहु चले जिन धरो मोरी सारी।
सुन श्याम सुन श्याम सौं है तिहारी॥
यही बेर छिनाय लेऊँ कर तें पिचकारी।
अब कछु मो पै सुन्यो चहत हौ गारी।

इसी प्रकार अनेक युवतियों के साथ झूलती हुई राधा के यौवन और सौंदर्य को छिप-छिपकर पान करने वाले कृष्ण के किशोर रूप में भी एक आकर्षण है। नवल रंगीली सखियों के साथ राधा झूल रही है, वायु के झकोरों से उड़ता हुआ अंचल उनकी लज्जा की रक्षा में असमर्थ है, युवक कृष्ण नेत्रों की कोर से इस सौंदर्य का पान कर रहे हैं, जब अनायास ही गोपियों की दृष्टि उन पर पड़ जाती है और वे छिपने की चेष्टा करते हुए कुंज में चले जाते हैं—

नवल रंगीली सबै झुलावत गावत सखियाँ सारी री।
फरहरात अंचल चल चंचल लाज न जात सँभारी री॥
कुंजन ओट दुरे लखि देखत, प्रीतम रसिक बिहारी जी॥

कृष्ण के इस चित्रण में स्वाभाविकता तथा सरलता है, परन्तु समस्त वातावरण में अपरिष्कृत वासनाओं के कारण स्थूल लौकिकता है।

प्रेम की पराकाष्ठा के चित्रों में भी अनुभूतिमूलक लय नहीं, शरीरजन्य चेष्टाएँ व्यक्त हैं। रतनारे नेत्रों वाले कृष्ण के पार्श्व में शयन का अधिकार प्राप्त करने वाली स्त्री ही उनके अनुसार भाग्यशालिनी है—

रसिक बिहारी वारी प्यारी कौन बसी निसि काँखड़िया।

इसी प्रकार उल्लासभरी अन्धकार निशा में कृष्ण के साथ रात्रि व्यतीत करना ही उनके प्रेमजनित उल्लास की चरम सीमा है। इस मिलन-वेला में, फलों का सौरभ, वातावरण की रसमयता तथा काम की उमंगों से भरा हुआ हृदय, प्रेमजन्य उल्लास

को बहुत बढ़ा देते हैं—

गह गह साज समाज जुत अति सोभा उफनात।
चलिवे को मिलि सेज सुख मंगल मुदमय रात ।।
रही मालती महक तंह, सेवति कोटि अनंग।
करो मदन मनुहारि मिलि सब रजनी रस रंग ।।
चले छोड़ मिलि रसमसे, मैन रसमसे नैन।
प्रेम रसमसी ललित गहि, रंग रसमसी रैन ।।

शृंगार की रसमयता की दृष्टि से वे चित्र सफल कहे जा सकते हैं, परन्तु माधुर्य की निर्मलता के मानसिक उल्लास में वासना का यह पुट आलम्बन की अपार्थिवता तथा आश्रय की भावनाओं की परिष्कृति के विषय में संशय उत्पन्न कर देते हैं।

फाग के उल्लास तथा पावस की मादकता का प्रयोग उन्होंने संयोग-भावना के उद्दीपन रूप में किया है। इन उद्दीपनों के प्रसंग में भी, अपने मांसल नारीत्व के प्रति वे सतत सजग हैं; श्यामसुन्दर से होली खेलने को उत्सुक मुग्धाएँ उनके मार्ग में आ तो जाती हैं, परन्तु उस धृष्ट नायक की निर्भय चेष्टाओं से शंकित होकर कह उठती हैं—

भीजे म्हारी चुनरी हो नन्दलाल।
डारहु केसर पिचकारी जनि हा! हा! मदनगुपाल ।।
भीजे वसन उघरों-सो अंग अंग बड़ो निलज यह ख्याल।
रसिक बिहारी छैल निडर थे पाले को जंजाल।

आर्द्र वस्त्रों में उभरते हुए अंगों पर ही उनकी दृष्टि जाती है, उनकी सजग रति-चेतना इन्हीं की ओर विशेष रूप से इंगित करती है।

होली के इस उल्लास के अतिरिक्त पावस के प्राकृतिक उपकरण भी उनकी भावनाओं की उद्दीप्ति में सहायक होते हैं।

स्वतन्त्र रूप से प्रकृति-वर्णन का महत्त्व भा इसीलिए है कि वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राधा और कृष्ण पर कुछ-न-कुछ प्रभाव डालते हैं—

पावस ऋतु, वृन्दावन की दुति दिन दिन दरसे है।
छवि सरसे है।
लूम लूम सावन घन बरसे है
हरिया तरुवर सरवर भरिया, जमुना नीर कलोले है
मन मोले है।
स्यामसुन्दर मुरली बन बाजे है
रसिक बिहारी नी रो भीज्यो पीताम्बर प्यारी जी री चूनर सारी है।
सुखकारी है।

इस प्रकार उनके काव्य के भावपक्ष में नारी-हृदय के संयत प्रेम की परिभाषा नहीं है। काव्य की सरसता के मूल में यौवन की मादक उच्छृंखलता है, जिसका आरोपण कृष्ण तथा राधा पर करके कवयित्री ने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। माधुर्य भाव ही उनके काव्य का प्राण है, जिसका शृंगारिक रूप अधिक प्रधान है—उनके माधुर्य का स्थायी भाव सूक्ष्म प्रेम नहीं अपितु मांसल रति-भाव है। केवल आलम्बन की अपार्थिव संज्ञा के कारण ही इनका काव्य अपार्थिव शृंगार अथवा माधुर्य-भक्ति-भावना के अंतर्गत रखा जा सकता है।

अपार्थिव के प्रति प्रणय निवेदन भक्तिकालीन अध्यात्म चेतना का एक विशिष्ट अंग रहा है, निम्बार्क मत के अन्तर्गत तो उसकी रूपरेखा पूर्णरूप से रति-भाव पर ही आधृत मानी गई थी। बनीठनी जी उस मत में दीक्षित अवश्य थीं, पर उनके काव्य में व्यक्त वैयक्तिक स्पर्शों से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि उनकी काव्य-प्रेरणा सम्प्रदाय-जन्य आस्था नहीं, प्रत्युत आत्मानुभूति थी। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि उनकी रचनाओं में वास्तव में अपार्थिव सत्ता के प्रति अनुभूतियों का व्यक्तीकरण है अथवा पार्थिव आलम्बन को सार्वजनिक रूप से ग्रहण करने में असमर्थ होकर ही उन्होंने अपने आलम्बन को कृष्ण का नाम देदिया था। उनके अन्य वक्तव्यों तथा उनके जीवन के साम्य को देखते हुए उपर्युक्त दूसरी बात ही सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। उनके काव्य को साहित्य-शास्त्र की कसौटी पर चढ़ाना उपहासप्रद है क्योंकि उनकी काव्य-दृष्टि कलाकार की दृष्टि नहीं थी, पर रस की सृष्टि में वे असफल रही हैं यह नहीं कहा जा सकता। वासना के पुट से ही यदि आलम्बन की अपार्थिवता पर संशय किया गया तो शृंगार रस के सम्राट् सूर के भी अनेक पद ऐसे मिलेंगे जिनको शृंगार रसाभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। बनीठनी जी के द्वारा किया गया संयोग रात्रि का वर्णन जहाँ अनुभूतिशून्य वस्तु परिगणनयुक्त विवरणमात्र ही नहीं है वहीं उसमें नग्न रसाभास का भी अभाव है। परन्तु यह सब होते हुए भी शृंगार रस के उपयुक्त मादक वातावरण की सृष्टि में वे पूर्ण सफल रही हैं।

मध्यकालीन काव्य में इस प्रकार की प्रेमजन्य शारीरिक चेष्टाओं का वर्णन तो साधारण बात है, केवल स्त्री स्वभाव की सुलभ लज्जा के साथ उसका सरलता से सामञ्जस्य करने में कुछ विचित्रता का अनुभव होता है।

नागर समुच्चय में संकलित इनकी प्रायः समस्त रचना पदों में है। उत्सव संग्रह में कुछ कवित्त तथा दोहे हैं। कृष्ण काव्य के प्रबन्धात्मक तत्त्व के अभाव के कारण प्रायः सर्वोत्कृष्ट लेखकों से लेकर सामान्य कवियों तक ने स्फुट पदों की शैली ग्रहण की है। रसिक बिहारी ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया है। इन पदों में संगीत तथा लय है, कहीं-कहीं लय के प्रवाह में मात्राओं की विषमता अथवा कमी से

व्याघात पहुँचता है।

उनकी भाषा पर भी ब्रजभाषा के पुरातन रूप पिंगल की छाप है। संस्कृत तद्भव तथा तत्सम शब्दों के प्रयोग से राजस्थानी की बीहड़ता में प्रांजलता आ गई है। संस्कृत-मिश्रित ब्रजभाषा तथा राजस्थानी के समन्वय से उनकी भाषा में परिष्कार का अभाव नहीं है, परन्तु व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ तथा शब्दों के विस्तृत रूप मिलते हैं। राजस्थानी विभक्तियों तथा शब्दों के प्रयोग से ब्रजभाषा के माधुर्य तथा सौन्दर्य में कोई व्याघात नहीं होता। काव्य का कलापक्ष भी पूर्णतया नगण्य नहीं है। अलंकारों के सम्यक् और सुन्दर प्रयोग मेरे इस कथन की पुष्टि करेंगे—

रतनारी हो थारी आँखड़ियाँ।
प्रेम छकी रस बस अलसानी, जानि कमल की पाँखड़ियाँ॥
सुन्दर रूप लुभाई गति मति हो गई ज्यूँ मधुमाखड़ियाँ॥

इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ कला-साधना के प्रयास में यद्यपि नहीं लिखी गई हैं, परन्तु उनके भावों की अभिव्यंजना में बहुत सहायक हुई हैं। उनके काव्य पर वैष्णव सम्प्रदाय की राधावल्लभ धारा की स्पष्ट छाप है। नागरीदास जी स्वयं राधावल्लभ सम्प्रदाय के मानने वाले थे, अतः उनकी प्रेयसी पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इन पदों में कृष्ण तथा धर्म के नाम पर किये जाने वाले उच्छृंखल भ्रष्टाचारों की स्पष्ट ध्वनि मिलती है। केवल बनीठनी जी पर ही इसका दोषारोपण करना यद्यपि न्यायसंगत नहीं होगा, परन्तु कृष्ण तथा राधा के रूप और व्यापारों में कामुकता का ही प्रधान आरोपण करने वाले राधा-वल्लभी सम्प्रदाय के साधुओं से घिरी हुई बनीठनी जी के विषय में जो कल्पना बनती है, उसमें संयत नारी अथवा स्वच्छन्द भक्त-हृदय की छाया नहीं मिलती। लोक-प्रणय की असंयत तथा उच्छृंखल वार्त्ताओं में रस प्राप्त करने वाली तथा योग देने वाली वारांगना और जीवन के प्रति कामुक दृष्टिकोण रखने वाले साधुओं के मध्य विराजित, कृष्ण के उच्छृंखल प्रेम की अभिव्यंजना करने वाली बनीठनी जी में अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता। यह कुछ भी हो, परन्तु इस रसात्मक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में वे असफल नहीं रही हैं, अतः उनका काव्य उपेक्षणीय नहीं है।

ब्रजदासी रानी बाँकावती—इनका जन्म जयपुर राज्य के लिवाण प्रदेश के कछवाहा राजवंश में हुआ था। ये राजा आनन्दराम की पुत्री थीं। इनके वंशज भगवानदास जी को अकबर ने उनकी वीरता के कारण बाँका की पदवी दी थी, इसलिए उस वंश के लोग पूर्वज के गौरव के प्रतीकस्वरूप अपने नाम के आगे बांकावत तथा स्त्रियाँ बांकावती का प्रयोग करती थीं। इनका जन्म सं० १७६० के लगभग माना जाता है। सम्वत् १७७८ में इनका विवाह कृष्णगढ़ के महाराज

राजसिंह के साथ वृन्दावन में प्रतिपादित हुआ ।

कृष्णगढ़ के राठौर वंश में काव्य-प्रेम एक परम्परागत संस्कार-सा बन गया था। इस वंश के अनेक राजा तो स्वयं सुकवि तथा कवियों के आश्रयदाता रहे ही हैं, उस वंश की रानियाँ तथा कन्यायें भी काव्य-रचना में काफी निपुण रही हैं। महारानी बाँकावती ने श्रीमद्भागवत् का छन्दोबद्ध अनुवाद किया, जो ब्रजदासी भागवत के नाम से प्रसिद्ध है। यह अनुवाद दोहा तथा चौपाई छन्द में हुआ है। बाँकावती जी कृष्ण की घनिष्ठ प्रेमिका थीं। भागवत के प्रति विशेष अनुराग के कारण ही उन्हें उसका अनुवाद भाषा में करने की प्रेरणा हुई। अनुवादित होने के कारण ग्रंथ के विषय की मौलिकता का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु भागवत की सम्पूर्ण कथा का यथातथ्य वर्णन करने के लिए वे सदैव सजग रही हैं।

भागवत की कथा में यद्यपि कोई विकृति नहीं आ पाई है, परन्तु काव्य-तत्व का इस ग्रंथ में पूर्णतया अभाव है। ग्रंथ प्रारम्भ करने के पूर्व वे सबसे पूर्व राधाकृष्ण की युगल दम्पति तथा गुरु के अनुग्रह की आकांक्षा करती हैं। गुरु तथा द्वैदम्पति का महत्त्व उनकी दृष्टि में समान है—

बार-बार वन्दन करौं, श्री वृषभानु कुँवारि।
जय-जय श्री गोपाल जू, कीजे कृष्णमुरारि॥

ग्रंथ में भागवत की आद्योपान्त कथा का वर्णन है, कृष्ण काव्य-परम्परा म यह प्रथम स्त्री कवि हैं, जिन्होंने पदों की मुक्त गेय प्रणाली को छोड़कर दोहों तथा द्विपदियों की प्रबन्धात्मक शैली को अपनाया। भागवत के उपदेशात्मक प्रसंगों के कारण कथा-का क्रम बीच-बीच में से टूट गया है।

ब्रजदासी जी को एक अनुवादक के रूप में पर्याप्त सफलता मिली है। विषय तथा सामग्री यद्यपि उन्हें बनी-बनाई मिल गई थी, परन्तु मूल ग्रंथ के भावों के यथातथ्य प्रकाशन में वे सफल रही हैं। केवल ग्रंथ के हल्के अंश ही नहीं अपितु माया, जीव, ब्रह्म, जगत इत्यादि गूढ़ तथा गम्भीर विषयों का उलथा भी इतना परिष्कृत तथा शुद्ध है, जिससे उनकी ग्राहक शक्ति तथा अभिव्यक्ति की क्षमता का परिचय मिलता है।

उनके काव्य के कुछ उद्धरण इस कथन की पुष्टि करेंगे। संसार की नश्वरता की चिरतृष्णा मृग-मरीचिका के समान है, संसार में जो कुछ सत्य है, वह प्रभु की छाया है, संसार तो मिथ्या है, प्रवंचना है, मृगजल की भाँति—

जैसे रेत चमक मृग देखी। जल के भ्रम मन माँहि सपेखी॥
जल भ्रम झूठ रेत ही सत्य। भ्रम सों देखि परत जल छत्य॥
जल भ्रम काँच माँहि ज्यों होत। सो झूठो सति काँच उदोत॥
यों झूठो सबही संसारा। साँची हौं स्वामी करतारा॥

संसार की नश्वरता तथा मिथ्यापरता के ये चित्र भावों तथा विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देते हैं। अनुवादित अंश के विषय की मौलिकता पर तो अधिक नहीं कहा जा सकता, परन्तु भागवत के प्रारम्भ के पूर्व की कुछ पंक्तियों के द्वारा भी यह निश्चित धारणा बनाई जा सकती है कि मौलिक भावों की अभिव्यक्ति की भी उनमें पूरी क्षमता थी। भागवत के महात्म्य तथा अपने अनुवाद की प्रेरणा वे जिन शब्दों में करती हैं, वह इसके प्रमाणस्वरूप पर्याप्त होंगे—

किया प्रगट श्री भागवत, व्यास रूप भगवान्।
यह कलिमल निखार हित, जगमगात ज्यों भान॥
करचो चहत श्री भागवत, भाषा बुद्धि प्रयान।
कर गहि मोहिं समर्थ हरि, देहैं कृपा-निधान॥

भक्ति के आवेश में उन्होंने इस ग्रंथ की रचना भक्तों की ही सुविधा के लिए की थी। अतः उस ग्रंथ की भाषा में स्थानीय शब्दों के प्रयोग का बाहुल्य है। ब्रजभाषा में स्थानीय बैसवाड़ी उपभाषा की छाप है, राजस्थानी के शब्दों के प्रयोग भी यत्र-तत्र आ गये हैं। दोहों तथा चौपाइयों के अधिकतर प्रयोग शुद्ध हैं, परन्तु अपवाद रूप में कुछ अशुद्धियाँ भी मिलती हैं। चौपाई के अन्त में दीर्घ मात्रा आवश्यक होती है, परन्तु कई स्थलों पर लघु द्वारा ही चरण का अन्त होता है। उदाहरणार्थ—

ऐसो वचन कत सुनि आन। प्रभु परम प्रेम उर ठान॥

यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उन्होंने चौपाइयों का नहीं, अर्धालियों का प्रयोग किया है, क्योंकि छन्द का अन्त दो ही चरणों के पश्चात् हो जाता है।

काव्य की दृष्टि से ग्रंथ का मूल्य साधारण है, परन्तु कृष्ण-काव्य-परम्परा की लीलाओं तथा सरसताओं में गम्भीरता का पृष्ठ जोड़ने का श्रेय उन्हें है। श्रीमद्-भागवत जैसे वृहद् ग्रंथ का उल्था उनके धैर्य, प्रतिभा तथा अध्यवसाय का प्रमाण है। काव्य जगत् के लिए उसका मूल्य चाहे अधिक नहीं है, परन्तु भक्त संसार में उनकी यह कृति अमर है।

रानी बख्त कुँवरि (प्रियासखी)—इनके विषय में अनुमान किया जाता है कि यह दतिया राज्य की रानी थीं। कृष्ण के प्रति इनका अनुराग बहुत अधिक था। इनका उपनाम (प्रियासखी) था। खोज में इनका केवल एक ग्रंथ 'प्रियासखी की बानी' नामक प्राप्त हुआ है। इसमें राधा-कृष्ण की युगल लीलाओं का वर्णन है। हस्तलेखन की तिथि वर्ष १७३४ वि० स० है, ग्रंथ का रचना-काल भी वही माना जाता है।

विषय पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति की ये उपासिका थीं। राधा-कृष्ण की दम्पति-लीला का

माधुर्ययुक्त वर्णन उनकी कविता का ध्येय था, राधा तथा कृष्ण की प्रेमलीलाएँ ही उनके काव्य की प्रेरणा हैं। रूप की होली की मादकता में मस्त राधा कृष्ण के इस प्रेम-व्यापार पर मुग्ध हैं—

सखी ! ये दोई होरी खेलें।
रंगमहल सें राधावल्लभ रूप परस्पर झेलें।
रूप परस्पर झेलत होरी खेलत खेल नवेले॥
प्रेम पिचक पिय नैन भरे तिय, रूप गुलाल सुमैसे।
कुन्दन तन पर केसरि फीकी, स्याम गौर भये मैसे॥
···· समर के सूर लरत दोई, टूटन हार हमेले।
सन्मुख रुख मुस्कयाति झपकि झुकि लाडिली लालहि पैलै॥
प्रियासखी हित यह छवि निरखति सुख की रासि सकेलै।
'सखी ! ये दोई होरी ·····।'

राधा-कृष्ण की उन्मुक्त क्रीड़ाओं के इस वर्णन के माध्यम से उनका मध्यकालीन वातावरण में पोषित बन्धनपूर्ण नारीत्व मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करता हुआ प्रतीत होता है। कक्ष के एकान्त वातावरण में रूप की होली खेलते हुए, प्रेम-जनित चेष्टाओं में एक दूसरे से होड़ लगाते हुए कृष्ण तथा हार और हमेल को प्रेम-क्रीड़ाओं से खंड-खंड करती हुई राधा में कामसिक्त रति-भावना का आरोपण ही हो सकता है, भक्तों के चिर-अभीष्ट माधुर्यजन्य भक्ति रस का नहीं।

हस्तलिखित प्रति में एक पद के पाँच भावों के आधार पर पाँच भावों की टीकाएँ की गई हैं। पद इस प्रकार हैं—

प्रीतम हरि हिय बसत हमारे।
जोई कहूँ सोइ करत रैन दिन, छिन पल होत न जिय ते न्यारे॥
जित तित तन मन रोमि रोमि में ह्वै रहे मेरे नैननि तारे।
अति सुन्दर वर अन्तर्यामी, प्रिया सखी हित प्रानहि प्यारे॥

जिन प्रसंगों द्वारा इसके विभिन्न अर्थ निकाले जाते हैं वे ये हैं—

१. सिद्धान्त;
२. रस का अर्थ;
३. सखी कौ वचन सषी सौ;
४. श्री लाल जू को वचन श्री सषी प्रिया सषी जूँ सो; और
५. वेष पलट।

इनमें से अन्तिम की टीका भी मिलती है, जिसके द्वारा उस युग के अपरिष्कृत गद्य का एक आभास मिल जाता है। इस पद के अर्थ यद्यपि बहुत स्पष्ट हैं, परन्तु

उसी युग के टीकाकार की भाषा तथा भाव से एक परिचय अप्रासंगिक तथा अनुप-युक्त न होगा।

पंचम संदर्भ के अनुसार टीका—अथ पांचौ अर्थ लिख्यते। वेष पलट कहा कै। श्री प्रिया जी के रूप को देखत ॥ सखी प्रीतम रूप को रस पी के ॥ छकि के यह जानत हैं के हम प्रिया हैं ये प्रीतम हैं। सो श्री लाल जी वा समय में कहते हैं ॥ सषी सों ॥ कैं सुनो सखी प्रीतम हरि उर बसत हमारे ॥ कै हमारे प्रीतम हमारे हिये में बसत है यह बात प्रीतम के मुषारविन्द की सखी सुनि कै सब परस्पर हँसती हैं। कै ये प्रीतम हैं कै ये प्रिया हैं। ऐसे मगन होइ रहे हैं यों भाँति तन्मय होई रहे हैं। कै हम प्रिया हैं। सब श्री प्रिया जी के कैसे गुन दिखात हैं। लाज नेत्र में वैसी है, रूप भी वैसो ही है, हँसनि बतरानि वैसेई है सो श्री प्रिया रूप होई कहत है। जोई कहत सोइ करत रैन दिन छिन पल होत न जिय ते न्यारे। कै जोइ हम कहें सोइ रैन दिन करत हैं प्रीतम पल छिन जिउ ते न्यारे नहिं होत। जित तित मन तन रोम रोम में रहे तन मन नैननि तारे ॥ वाही भाँति श्री राधा रूप निहार के प्रीतम फिर बोले कि सुनो सखी जितै देखो तितै तन में, मन में, अरे प्रीतम तो मेरे नैनन के तारे होइ रहे हैं। अति सुन्दर वर अन्तर्यामी प्रिया सखी हित प्राननि प्यारे ऐ सखी जो मैं मन में विचारौं सो प्रीतम तुरत ही करत है। तब प्रिया सखी ने यह सुख देखे ॥ कै ये प्रान प्यारे प्रीतम श्री प्रिया जी को रूप ही होई रहे हैं। तब नई श्री प्रिया जी सों हँसी सखी, अरु कही कै प्रिया जू तुम्हारे प्रियतम तो तुम्हारे प्राननि तें प्यारे हैं तब यह सुष देखि कै सब सखी आनन्द पायो। प्रीतम को सुधि कराई कि आप तो प्रीतम ही हो। तब सकुचे अरु कहीं कै मेरे मन की बातें आज सखिन ने सब जानी।

इस पद के अतिरिक्त एक अन्य पद भी प्राप्त है, जिसमें फाग की मादक लीलाओं का चित्रण है—

छैल छबीली राधा गोरी होरी खेल मचायो।
केसरी ढोरि गुलाल माँडि मुष अंजन दे हँसि पिय गुलचायो ॥
पीताम्बर सो हाथ बाँधि करि होरी को नाच नचायो।
प्रियासखी को भेष बनायो पगनि महावर रंग रचायो ॥

कृष्ण-चरित्र के इन चित्रों में अनुभूतियों की अपेक्षा लीलाएँ प्रधान हैं, परन्तु इन लीलाओं में हीन रुचि का प्रदर्शन अधिक नहीं है, उनके काव्य की प्रेरणा रतिभाव का स्थूल पक्ष नहीं है। वे राधा तथा कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं के द्वारा उल्लास तथा सुख प्राप्त करने वाली निरपेक्ष दर्शिका हैं, प्रेम के भावपक्ष में सूक्ष्म अनुभूतियाँ बहुत कम तथा काममूलक भावनाएँ अत्यन्त तीव्र हैं। किशोर लीलाओं के चित्र बड़े सजीव तथा सप्राण हैं। सखियों के साथ राधा होली खेलते-खेलते कृष्ण को अपने अधीन

करने में समर्थ हो जाती हैं। केसर तथा गुलाल से उनके मुख को रंजित कर, पीताम्बर से उनका हाथ बाँध बिलकुल विवश बना देती हैं, पगों में महावर रचाकर वे उनका सखी वेष बनाने का प्रयास करती हैं।

इस वर्णन में वह सरस अभिव्यंजना है, जिसके अनुभव के लिए प्रत्येक भक्त लालायित रहता है। उनकी प्रेमाभिव्यक्ति में नारी की ओर से रतिभाव की ही सजगता नहीं है, आकर्षणजन्य मुग्धता भी है। ब्रजभाषा की माधुरी अलंकार-विहीन भी साधारणतः सुन्दर है। राधावल्लभ सम्प्रदाय की होने के कारण उनके प्रिया सखी उपनाम के कारण उनके पुरुष होने की आशंका होती है, परन्तु उनके मुख्य नाम बख़्त कुँवरि का प्रयोग इस आशंका को निर्मूल सिद्ध कर देता है। राधावल्लभी साधु जिस अवस्था की केवल कल्पनामात्र कर सकते थे, नारी होने के कारण वह उनकी स्वानुभूति थी।

बनीठनी जी नागरीदास की रक्षिता थीं। उनमें स्वकीया प्रेम के गाम्भीर्य का अभाव तो है ही, परकीया भावना की तीव्रता का भी अभाव है, केवल प्रेम की उच्छृंखलताओं का चित्रण प्रधान है। प्रियासखी के दाम्पत्य प्रेम के चित्रण में उनके विवाहित जीवन के मार्दव की छाया में राधावल्लभ सम्प्रदाय की सरसता घुली हुई ज्ञात होती है। कृष्ण तथा राधा की लीलाओं का काम अंश ही उनके आकर्षण का तत्त्व नहीं है, किशोर-किशोरी सुलभ चपलता, चचलता तथा भावजन्य क्रीड़ाओं पर भी उनकी अनुरागमयी दृष्टि पड़ी है। इस हस्तलिखित प्रति का प्रकाशन राधावल्लभीय साहित्य के इतिहास में नारी द्वारा रचित एक मुख्य पृष्ठ जोड़ने के लिए आवश्यक है।

सुन्दर कुँवरिबाई—सुन्दर कुँवरिबाई का जन्म कार्तिक सुदी ९, सम्वत् १७९१ में दिल्ली में हुआ था। इनके पिता कृष्णगढ़ के राठौर राजा राजसिंह तथा माता रानी बांकावती थी, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनकी बाल्यावस्था में ही इनके पिता राजसिंह का देहान्त सम्वत् १८०५ में हो गया, जिसके कारण कृष्णगढ़ के राजवंश में अनेक पारिवारिक तथा राजनीतिक झगड़े खड़े हो गये, इस कारण विवाह योग्य अवस्था प्राप्त कर लेने पर भी उनका विवाह न हो सका तथा वे ३१ वर्ष की आयु तक अविवाहित रहीं। सं० १८१२ में उनके भतीजे महाराज सरदारसिंह ने उनका विवाह रूपनगर के खीची वंश के राजकुमार बलवन्तसिंह के साथ कर दिया, परन्तु उनका जन्म तो मानो राजनीतिक विषमताओं के चक्र में पिसने के लिए ही हुआ था। पितृगृह में तो उनके भाइयों के बीच पारस्परिक वैमनस्य चल ही रहा था, पति भी सिंधिया सरदारों द्वारा पराजित करके बन्दी बना लिये गये, तथा राघवगढ़ का किला सेंधिया के अधिकार में चला गया। अंत में जयपुर, जोधपुर तथा अपने कुटुम्बियों खीची सरदार शेरसिंह की सहायता से राघवगढ़ फिर उनके हाथ में

आ गया।

सुन्दर कुँवरि के सम्बन्ध में अधिकांश बातों का पूर्ण निश्चय नहीं मिलता। पति की पराजय के पश्चात् ऐसा अनुमान किया जाता है कि कदाचित् वे सलेमाबाद चली गई हों क्योंकि वहीं उनके कुल का गुरुद्वारा था। उनकी मृत्यु-तिथि भी अनिश्चित है। उनके अन्तिम ग्रंथ का रचनाकाल सं० १८५३ है, जबकि उनकी अवस्था लगभग ६३ वर्ष की हो गई थी। इसके पश्चात् ही इनकी मृत्यु किसी वर्ष में हुई होगी।

सुन्दर कुँवरि के वंशजों को काव्य-प्रतिभा का वरदान प्राप्त था, सुन्दर कुँवरि की भी यह प्रतिभा जन्मजात् थी, जो माँ तथा भ्राताओं की भक्ति तथा आस्था का सम्बल पाकर विकास की ओर अग्रसर हुई। उनका वंचित नारी-हृदय लौकिक क्षेत्र में कामनाओं के निष्क्रमण के अभाव में काव्य-रचना द्वारा ही भावनाओं की अभिव्यक्ति प्राप्त कर सन्तोष अनुभव करने का प्रयास करने लगा।

इनकी रचनाओं का उल्लेख प्रायः सभी खोज-ग्रंथों तथा राजस्थानी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उपलब्ध है। इनके द्वारा रचित ग्यारह ग्रंथ प्राप्त हैं, जिनका संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है—

१. नेह निधि—इस पुस्तक में वृन्दावन में हुई कृष्ण तथा राधा की विलास-क्रीड़ाओं का वर्णन है। इसका रचनाकाल सम्वत् १८१७ माना जाता है।

२. राम रहस्य—इस काव्य ग्रंथ का विषय राम की आदर्श लीलाओं का वर्णन है। इसकी रचना-तिथि कार्तिक शुक्ल ६, गुरुवार, सम्वत् १८५३ है। आरम्भ में दिये हुए दोहे तथा सवैये में वर्णित राम-कथा द्वारा इस ग्रंथ के वर्ण्य विषय, शैली तथा भाषा इत्यादि के विषय में निष्कर्ष निकाला जा सकता है—

श्री रघुपति सिय चरन को. करि निज उर में धार।
मति सम जस वरनन करत जो दायक फल चार॥

सवैया

श्याम सरूप अनूपम अंग अनंगहु तो सम नाहिं लखायो।
सोहत है कच कुंचित और दृग पंकज से धनु भौंह लजायो॥
जा गुन गान और ध्यान करै, नर सोई धरा मह धन्य कहायो।
जीवन ताको जाहि या मति नाहिं सिया वर आयो॥

श्रीमती सुन्दर कुँवरि के अधिक ग्रंथ राधा-कृष्ण की लीलाओं पर लिखे गये हैं। राधा-कृष्ण सम्बन्धी ग्रंथों में मंगलाचरण में कृष्ण तथा राधा की वन्दना है, पर इस ग्रंथ का आरम्भ 'श्रीमते रामानुजाय नमः। अथ राम रहस्य ग्रंथ लिष्यते' से होता है।

३. संकेत युगल—इसमें राधा-कृष्ण के विनोद का वर्णन है। इसका रचना-

काल सम्वत् १८३० है। इस ग्रंथ के वर्ण्य विषय तथा भाषा-शैली इत्यादि के आभास के लिए निम्नलिखित उद्धरण पर्याप्त होगा—

सवैया।

श्री वृषभान सुता मनमोहन, जीवन प्राण पियारी।
चन्द्रमुखी सु निहारन आतुर, चातुर नित्त चकोर बिहारी॥
जा पद पंकज के अलि लोचन स्याम के लोभित सोभित भारी।
सर्न हौं हूँ जिन चरनन के, प्रिय नेह नवेल सदा मतवारी॥

ग्रंथ की रचयित्री तथा रचनाकाल इत्यादि का परिचय वे इन शब्दों देती हैं—

संवत् यहि नवदून सत अरु तीसा को साल।
सोरह सै पंचानवे माघ मास सुभकाल॥
सावन पुण्य तिथि अष्टमी बासर मंगलवार।
पुस्तक कीन्हौं कृष्णगढ़ पूरण कृपा मुरार॥

४. गोपी महात्म्य—इस ग्रंथ में गोपियों तथा कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। इसकी रचना स्कन्द पुराण के कथानक के आधार पर हुई है। ग्रंथ के प्रारम्भ में इस बात का स्पष्ट उल्लेख उन्होंने कर दिया है—

श्री राधावल्लभो जयति। अथ श्री सद्भागवत। गोपी महात्म्य स्कन्ध पुराण मध्ये श्लोके अर्थाकार········भाषा कथन लिख्यते। इस ग्रंथ का रचनाकाल उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

सम्वत् है नवदून से छयालीस उपरंत।
सत्रह से एकादसम साकै जान गनंत॥

इस ग्रंथ में गोपियों तथा कृष्ण की साधारण मानवी लीलाओं का ही वर्णन नहीं है, वर्ण्य विषय की दार्शनिक पृष्ठभूमि के प्रति भी लेखिका काफी जागरूक है; कृष्ण की लीलाओं के साधारण रूप में अन्तर्निहित उनका नैसर्गिक पक्ष काफी स्पष्ट है—

राधा रमण ब्रज जीवन, ब्रज प्रान।
बन्दौं जिन पद कंज रज, वृन्दा विपिन सुथान॥
महाधीर कलि तम हरन, भक्त मुक्त हित दैन।
श्री वृन्दावन मम प्रभु बन्दौ जिन पद रैन॥

५. रस पुंज—इस ग्रंथ में राधा तथा कृष्ण के प्रेम तथा रस का वर्णन है। राधा-कृष्ण की सिद्धि आनन्ददायिनी शक्ति है। कृष्ण ब्रह्म के प्रतीक हैं, अपनी लीलाओं का विस्तार वे प्रधान रूप से राधा तथा सहायक रूप से गोपियों के द्वारा करती है।

राधा के प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा का स्थान कृष्ण से उच्च है। इसी सिद्धान्त की मान्यता का स्पष्ट आभास सुन्दर कुँवरि के इस ग्रंथ में मिलता है। उदाहरणार्थ—

ब्रज जीवन, जीवन प्रिया, श्री वृषभान कुमारि।
बन्दौं जिनकी चरण रज, जाकी कृपा अपार॥

कवित्त

भानुकुल भूषण लड़ैतो वृषभान जी को,
कृष्णचन्द्र भाग्य रूप प्रगटी हैं राधा जू।
वेद हू न भेद लहैं विष्णु जाय नाम रहै,
गूढ़ गहि राखैं शिव सुकृत से साधो जू॥
जा पद परस ब्रजधर को प्रभाव भूर,
चाहत दरस सुर परस अगाधा जू।
गायें कृपा किंकरि नवल नेह मतवारी,
सुन्दर कुँवरि पद बन्दि हरि बाधा जू॥

इस ग्रंथ का रचनाकाल उनके द्वारा इस प्रकार वर्णित है—

सम्वत् शुभ नवदून से, चौंतीसा को साल।
सोलह सै निन्यानवे, साके समय रसाल॥

६. सार संग्रह—इस ग्रंथ में अनेक पद संकलित हैं जिनमें कृष्ण के अनेक रूपों की वन्दना है। इसमें भक्ति के प्रेम के तत्त्व में ज्ञान योग इत्यादि का पुट है। कृष्ण परब्रह्म हैं, जिनकी महिमा का ज्ञान करने की सामर्थ्य वेदों में भी नहीं है। युगों से चले आते हुए ब्रह्म की असीम शक्ति के प्रति अणु की सीमित भावनाओं का परिचय सुन्दर कुँवरि इस प्रकार देती हैं—

नेति नेति भाषत निगम, जिहि प्रभु भाय पुकारि।
सो हरि निज मुख कहत हैं, महिमा भक्त अपार॥
निज चित श्री हरि लीन है, हरि चित जिन जन लीन।
हरि जल जन मन मीन है, जन जल हरि मन लीन॥

इस ग्रंथ का रचनाकाल इस प्रकार है—

सम्वत् शुभ षट त्रिगुन सै पैंतालिस उपरन्त।

७. वृन्दावन गोपी महात्म्य—आदि पुराण में वृन्दावन तथा गोपियों के महात्म्य का वर्णन है। यह ग्रंथ उसी पुराण का भाषा में अनुवादित रूप है। इस ग्रंथ में उन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी भावनाओं पर निम्बार्क मत के प्रभाव का उल्लेख किया है। खोज रिपोर्टों में उद्धृत पंक्तियों में से कुछ के उद्धरण द्वारा यह प्रमाणित हो

जाता है—

श्री गुरु कृपा प्रताप जब ह्वै उदोत हिये मान।
तिमिर नसै दरसै करन वृन्दा विपुल बखान॥
जुगल उपासक रसिक मणि निंबायत सम्प्रदाय।
जिन दास्यता ही में लई भाग्य वर पाय॥

इस ग्रंथ का रचनाकाल सम्वत् १८२३ विक्रमी है।

८. भावना प्रकाश—इस ग्रंथ में कृष्ण तथा राधा की दाम्पत्य नित्य लीलाओं का वर्णन है। इसका रचनाकाल १८४५ माना जाता है।

९. रंगझर—इस ग्रंथ में भी राधा तथा कृष्ण की नित्य लीलाओं का वर्णन है। इसका रचनाकाल भी सम्वत् १८४५ ही है।

१०. प्रेम संपुट—इस ग्रंथ में भी राधा कृष्ण की नित्य लीलाओं का वर्णन है। इसका रचनाकाल सं० १८४८ है।

इन समस्त ग्रंथों की रचना की प्रेरणा भगवत् भक्ति है। केवल राम रहस्य में राम-कथा वर्णित है। शेष सभी में कृष्ण के लीला रूप की ही प्रधानता है। राधा-वल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव इनकी रचनाओं पर पूर्णतः स्पष्ट है, परन्तु इनके प्रेम के चित्रण में असंयत स्थूलता का सर्वथा अभाव है। राधावल्लभ सम्प्रदाय की तीन साधिकाओं के दृष्टिकोण में जो विभिन्नता मिलती है, वह यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि भावनाओं में अलौकिकता का आरोपण लौकिक जीवन के प्रति अपने विशिष्ट दृष्टिकोण तथा परिस्थितियों के आधार पर ही होता है। एक ही परिवार की तीन महिलाओं के एक ही विषय में दृष्टिकोण व्यक्त हैं। बनीठनी जी के असंयत उद्गारों में उनका बनाठना रूप तथा छिछले हाव-भाव साकार हो उठते हैं। बाँकावती जी के प्रेम-वर्णन में रूमानी अंश का व्यक्तीकरण मर्यादापूर्ण है, जिसमें प्रेम की मादकता में स्त्रियोचित नियन्त्रण भी है। सुन्दर कुँवरिबाई की रचनाओं में प्रेम तथा विरह के उत्कट अंशों में भी भावना तथा अनुभूतियों की तीव्रता है, रतिभावजन्य हाव-भाव, चेष्टाओं तथा स्थूलता का नहीं। प्रौढ़ावस्था तक का कौमार्य उनके जीवन का अभाव अवश्य था, पर उस अभाव की अभिव्यंजना में अविवाहित नारी के संयम, लज्जा तथा नियन्त्रण की अभिव्यक्ति है।

सुन्दर कुँवरिबाई के काव्य की मूल प्रेरणा है भक्ति, जिस पर पारिवारिक परम्परा की पूर्ण छाप है। रानी बाँकावती तथा नागरीदास जी के संसर्ग में पोषित होकर राधाकृष्ण की युगल लीलाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। राधा की उपासना कृष्ण से अधिक महत्त्वपूर्ण है। राधा का रूप-वर्णन, प्रेम-प्रसंगों में राधा की विजय, किशोर क्रीड़ाओं में राधा की महत्ता स्थापित करने का उन्होंने सतत प्रयत्न

किया है। परन्तु उनकी गोपियाँ कामदग्ध होकर श्रीकृष्ण के सौंदर्य को लीलापूर्ण दृष्टि से देखने वाली रसिक नायिकायें नहीं, केवल चंचल किशोरियाँ हैं जो कृष्ण के नटखट चांचल्य से सरलतापूर्वक हार मानने को तैयार नहीं हैं। उनके कृष्ण भी गोपियों का आँचल खींचते हुए अथवा झुरमुट की ओट से, हवा में उड़ते हुए अंचल द्वारा उघरते सौंदर्य को छुपकर ताकने वाले लोभी नायक नहीं, किशोरावस्था प्राप्त एक अति नटखट बालक हैं जो स्वभावजन्य चांचल्य तथा कौतूहल के कारण ही गोपियों का मार्ग रोक उनको सताते हैं, उनकी क्रीड़ाओं में कामुक युवा का नहीं, वय का विकास प्राप्त करते हुए एक समस्यामूलक बालक का आभास मिलता है। उनकी इन क्रीड़ाओं में समवयस्क बालक-बालिकाओं का विशुद्ध प्रेम अंकित है। रसपुंज में से गौरस दान के कुछ चित्र इस कथन की पुष्टि करेंगे—

वृन्दावन की गोपिकायें दधि बेचने के लिए जा रही हैं। उनका मार्ग रोककर हठीले कृष्ण खड़े हो जाते हैं और कहते हैं—

विपिन हमारे कौन तुम कहा काज कित जात ?
देहु दान वन राह कर, बहुरि न पूछें बात ॥

ललिता उत्तर देती है—

तुम को हो ? टरि जाहु किन तुम्हारो का बन माँहि ?
बन वृषभान महीप के, नंद बसायो नाहिं ॥

इस मुखरता में प्रतिद्वंद्विताजन्य तर्क है, परन्तु कृष्ण का व्यवहार पूर्णतया बालोचित ही नहीं, किशोरावस्था की चंचलता उनमें आने लगी है; वह कहते हैं—

लंक लचत पग डगमगे, तन थहरत सुकुमार।
ताते हमको देहु यह शीश गगरिया भार ॥

गोपियाँ चूकती नहीं, प्रखर उत्तर देती हैं—

हमारे ये गृह काज हैं नित इत आवत जात।
तुमहि भार को भार का क्यों मुख पानी आत ॥

इसी प्रकार की अनेक चुटकियों से भरी हुई उनकी बाल-प्रतिद्वंद्विता चलती रहती है; गोपियों की मुखरता कृष्ण की धृष्टता से टक्कर लेती रहती है; बार-बार कृष्ण उन्हें स्मरण दिलाते हैं; नन्द की शपथ खाकर कहते हैं, सीधे से देना हो तो दे दो, नहीं जबरदस्ती शीश से गगरी खींच ली जायगी। गोपिकायें भी अपने गोरस की रक्षा करती हुई उसका यथातथ्य उतर देती हैं, काले चोर को दान लेते कभी नहीं सुना। प्रतिद्वंद्विता चलती रहती है। उस समय तक जब तक मौन राधा भी उन्हें चुनौती देती है; कृष्ण गर्व करते हुए कहते हैं—

ग्वारि गवारिनि तुम सबै, समुझत नहीं कछु मूर ।
चौदह विद्या हम महाँहि चौदह कला सपूर ॥

तब राधा का मौन टूटकर इस प्रकार मुखरित होता है—

चौदह विद्या तुम नहीं, सोलह कला बसाय ।
तो गुन प्रगट दिखाय कछु, लीजे दान रिझाय ॥

राधा की यह चुनौती कृष्ण के धैर्य का बाँध तोड़ देती है और कृष्ण नटनागर अपने सखाओं के संग जो लीला करते हैं उसे देखते-देखते राधा विभोर हो जाती है। नृत्य करते हुए कृष्ण के चित्र का सजीवता तथा मुग्ध होकर स्तब्ध खड़ी हुई राधिका के चित्र की अभिव्यक्ति कला तथा भाव दोनों ही दृष्टि से प्रशंसनीय हैं, नृत्य के पगों के साथ लहराती हुई वनमाला, हाथों तथा ग्रीवा की गति, नयनों की भावाभिव्यक्ति, सब कुछ गोपियों को मुग्ध कर लेती है, और राधा तो विवश मुग्ध चित्रलिखित-सी रह जाती है—

चित्र-सी लिखी-सी राधे विवश छकी-सी रही,
आँखिन की पाँखे बाँधी ता खिन बिहारी जी ।

आकर्षण मुग्ध हो तन्मयता में परिवर्तित हो जाता है, दो क्षणों पूर्व की मुखर गोपिकाएँ बेसुध हो जाती हैं, गोपियों की यह अवस्था देख ग्वाल-बाल मदन की दुहाई देकर मदन-मुरारी की विजय की घोषणाएँ करते हैं—

गागर गिरी है केऊ, सीस उधरी है केऊ,
सुध बिसरी है ते लगी हैं द्रुम डार कै ।
डगमग ह्वै के भुजधारी गर द्वै के काहू,
बैठि गई कोई सीस मटुकी उतार कै ॥
मैन सर पागी कोऊ, घूमन हैं लागी कोउ,
मोति मणि भूषण उतार डारे वारि कै ।
ऐसी गति हेरि उन्हें ग्वार कहें टेरि टेरि,
मदन दुहाई जीति मदन मुरारी कै ॥

विजय की यह घोषणा गोपियों की तन्मयता को चौंकाकर सजग बनाती है और चिर-मुखर ललिता अपनी हार को वचनों द्वारा कह उठती है—अच्छे विजेता देखे हैं हमने; जाओ, गिरि के पीछे मुँह छिपाकर बैठो। यह जीत तुम्हारी नहीं वृषभान कुँवरि की है जिसने कृष्ण को मनमाना नाच नचा लिया। उसका हास-भरा व्यंग्य नेत्रों में स्थिति को साकार बना देता है—

आछे जयवार देखे मदन मुरारि जी को,
रहो रे लबार गिरिवान मुँह डारि कै ।

नाचन नचाय लीने, कैसे मन माने कीन्हें,
जीत है हमारी वृषभान के कुमारि कै ॥

गोरस दान प्रसंग में महाकवियों द्वारा चित्रित श्रृंगार के अनेक संचारियों तथा अश्लील उद्भावनाओं की तुलना में सुन्दर कुँवरि द्वारा रचित यह संयत गोरसदान किसी प्रकार कम नहीं है। उनकी संयत उद्भावनाएँ, कलात्मक अभिव्यक्ति, प्राणोपम चित्रण उनकी सफलता के द्योतक हैं।

प्रेम के अन्य प्रसंगों में भी अश्लीलता का पूर्ण अभाव है। अभिव्यक्ति के साधन यद्यपि परम्पराबद्ध दूतीवाक्य, संकेत-स्थल, अभिसार इत्यादि ही हैं, परन्तु सब प्रसंगों में भावनाओं में निहित कामनाओं की ध्वनिमात्र आती है, स्थूल वर्णनों का प्रायः सर्वथा अभाव है। अनेक पदों में कृष्ण की आतुरता व्यक्त है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा ही मूल शक्ति मानी जाती है, यहाँ तक कि स्वयं ब्रह्मस्वरूप कृष्ण की कलायें भी उसी पर आधृत रहती हैं। जीवात्माओं की प्रतीक गोपिकायें ही ब्रह्म में लय के लिए आतुर नहीं रहतीं बल्कि ब्रह्म भी अपने शक्ति-प्रसारण के लिए राधा की इस प्रसारिणी शक्ति पर निर्भर रहता है। सुन्दर कुँवरि के पदों में कृष्ण की आतुरता की यही पृष्ठभूमि है। घनश्याम की आज्ञा पाकर दूती उनके प्रेम का सन्देश मानिनी राधा के पास लेकर आती है, उनके विरहाकुल हृदय की व्यथा सुनाती है, उस व्यथा में कामुक इच्छाएँ नहीं, भावजन्य तीव्रताएँ हैं। मानिनी राधा का मान तोड़ने का प्रयास करती हुई सखी की उक्तियों में मानिनी राधा तथा याचक कृष्ण का साकार रूप देखिये—

प्रिय के प्राण समान हो, सीखी कहाँ सुभाय।
चख चकोर आतुर चतुर चंद्रानन दरसाय ॥
चन्द्रानन दरसाय अरी हा हा है तोसों।
वृथा मान यह छोड़ कही पिय की सुनि मोसों ॥
सूधै दृष्टि निहारि प्रिया सुनि प्रेम पहेली।
बिन झख अहि मणि जु हीन इन गति उन बेली ॥

—चतुर दूती कहती है कि तुम प्रिय के प्राण समान हो, तुमने यह स्वभाव सीखा कहाँ से है, उनके चकोर चक्षु तुम्हारे चन्द्र-मुख के दर्शन के लिए आतुर हैं। अपनी इस तीक्ष्ण दृष्टि को त्याग सरल गति धारण करो। वह तुम्हारे बिना जलच्युत मछली तथा खोई मणि वाले सर्प के समान व्यथित हो रहे हैं।

कृष्ण की प्रतीक्षा में काम-भावना का अभाव नहीं है, परन्तु उसका संकेत उन्होंने केवल वातावरण के चित्र-निर्माण द्वारा कर दिया है—

उतै अकेले कुंज में बैठे नन्द किसोर।

केरे हित सज्जा रचित विविध कुसुम दल जोर ॥
विविध कुसुम दल जोर, तलप निज हाथ बनावत ।
करि करि तेरो ध्यान कठिन सो छिनन बिहावत ॥
जाके सब आधीन सु तौ आधीनो नेरे ।
जिहिं मुख लखि ब्रज जियत वहै तौ मुख रुख हेरे ॥

उधर एकाकी कृष्ण कुंज में बैठे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, तुम्हारे लिए अनेक कुसुमों की पंखुड़ियों की शैया सजाकर, पल-पल तुम्हारे वियोग में विक्षिप्त-से हो रहे हैं। जिस कृष्ण के आधीन समस्त विश्व है वे तेरे आधीन हैं, वह हर समय तुम्हारी कृपा-दृष्टि की आशा में तुम्हारे मुख के भाव देखा करते हैं।

कृष्ण के रूप के प्रति आकर्षण तथा नारीसुलभ लज्जा के बीच कर्तव्याकर्तव्य निश्चित न करने वाली गोपिका के इस चित्र में कल्पना, अनुभूति तथा कला का सुन्दर सम्मिश्रण है—

मोतिन की बेली सी, मुरानी सकुचानि भरी,
आनन फिरानी कर कानन धरत है।
चकित चितौन रहे, अजान मुसुकानि दावे,
फावै भाव भरी भौंहैं चित भरत है।
मैन मधुवान सजै, मुक्तन लता पै चंद,
घूँघट के ओट मानों मृगया करत हैं॥ (उत्प्रक्षा)

माधुर्य भाव उनके काव्य में प्रधान है, परन्तु कुछ पदों में विनय की अभिव्यंजना भी बड़ी सुन्दर हुई है। कृष्ण तथा राधा दोनों ही के प्रति उनकी उपासना में याचना के स्वर भी मिलते हैं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिसकी शक्ति के अणुमात्र के परिचायक हैं, जो सर्वशक्तिमान, अपार विरदी, सर्वगुणग्राही हैं, उस ब्रह्म के समक्ष अपने तुच्छ अस्तित्व के अशुभ लक्षणों, असंख्य पापों का उद्घाटन करती हैं केवल एक सम्बल, एक आशा के सहारे—

ग़रीब नेवाज तैं, ग़रीब मैं निवाजे क्यों न,
लाख लाख बातन की सूधी एक बात है।

राधा की स्तुति में याचना के स्वर ध्वनित होते हैं, राधा का अनुग्रह ही उनके जीवन की डगमगाती नौका को पार लगाने में समर्थ हो सकता है—

त्राहि-त्राहि बृषभानु नंदिनी तो को मेरी लाज।
मन मलाह के पड़ी भरोसे बूड़त जन्म जहाज॥
उदधि अथाह थाह नहिं पाइयत प्रबल पवन की सोय।
काम क्रोध मद लोभ भयानक लहरन को अति कोय॥

जीवन-नौका डूबी जा रही है, उसकी रक्षा की लाज तुम्हारे ही हाथ में है। केवल तुम्हारा ही भरोसा है··· ········

सुन्दर कुँवरि बाँह गहि स्वामिनि, एक भरोसो तेरो।

सुन्दर कुँवरि के काव्य में श्रृंगार प्रधान है। भक्ति-भावना में निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रभावस्वरूप रसात्मक दृष्टिकोण के आरोपण में श्रृंगारिकता प्रधान है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अपार्थिव श्रृंगार की असंयत अभिव्यंजना में सुन्दर कुँवरि की रचनाएँ अपने संयत तथा परिष्कृत श्रृंगाराभिव्यक्ति के कारण पृथक् तथा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, परन्तु वह मानसिक पक्ष के सहकारी के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस कारण उसमें स्थूलता तथा हाव-भाव और चेष्टाओं का अभाव है। श्रृंगार के इस संयम में उनके जीवन की भी एक छाप है। हिन्दू समाज की अविवाहित साधारण नारी इससे अधिक कह ही क्या सकती थी? मीरा की वेदना की तीव्रता में संयोग की जो आकांक्षाएँ झलकती हैं, उनमें पत्नीत्व के मार्दव के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व की असाधारणता भी है, अनुभूति पक्ष में मीरा के साथ सुन्दर कुँवरि की कोई तुलना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार मीरा की विशुद्ध भावनाजन्य विरहानुभूतियों के समक्ष कृष्ण के प्रति शारीरिक सम्बन्धों की कल्पना पर ही आधृत सम्प्रदाय के प्रभाव से सिक्त, सुन्दर कुँवरि का संयोग कुछ भी महत्त्व नहीं रखता उसी प्रकार मीरा के असाधारण व्यक्तित्व के साथ सुन्दर कुँवरि के व्यक्तित्व की कोई तुलना नहीं की जा सकती। परन्तु उनके श्रृंगार के संयम का पूर्ण श्रेय उनके व्यक्तित्व तथा कुलीनता को है।

शान्त रस गौण रूप से प्रयुक्त हुआ है, जिसकी अनुभूति याचना के पदों में व्यक्त हुई है। हास्य का भी सफल प्रयोग उन्होंने किया है। उनके हास्य के उपादान साधारण जीवन की साधारण घटनाओं से लिए गये हैं। उनका आयोजन यद्यपि परम्परागत साहित्यिक श्रृंखलाओं में बाँधकर नहीं हुआ है, परन्तु हास्य रस की सृष्टि में वह काफी सफल रही हैं।

विवाह-योग्य किशोर कृष्ण को उनकी चोरी की बान का स्मरण दिलाती हुई गोपिकायें कहती हैं—

तज चोरी की घात अयान की।
नंदराय के लला लड़ैते सुन लो बात सयान की॥
कीरति पठई दुलहा देखन तिय आई बरसान की।
सुन्दर कुँवरि सुलच्छन गुन निधि ब्याहोगे वृषभान की॥
आई है तो जाय कहेंगी बात रावरे बान की।
सास कहेंगी चोर कुँवर को जैहे वह प्रिय प्रान की॥

इक तो कारो चोर भयो फिर दूइया बात लजान की।
सुणि हँसि हैं चंदाननि दुलही जिहि उपमा न समान की ॥

—हे नन्दराय के लाड़ले पुत्र ! मेरी शिक्षा सुन लो, अब अपनी यह चोरी की बान तज दो। बरसाने की स्त्रियाँ तुम्हें देखने के लिए आ रही हैं, तुम्हारा विवाह सुलक्षणी गुणनिधि राधिका से होने जा रहा है, वहाँ की स्त्रियाँ वहाँ जाकर तुम्हारी इस बान की आलोचना करेंगी, सास कहेगी एक तो काला है दूसरे चोर है, तुम्हारी चन्दा के समान दुलहन जिसका सौन्दर्य अनुपम है, इस बात को सुनकर हँसेगी।

स्त्रियोचित इन परिहासों में विदग्धता तथा कला चाहे न भी हो, पर इसकी सरलता तथा स्वाभाविकता ही इसका सौन्दर्य है।

उनके काव्य का कलापक्ष भी पूर्णतः नगण्य नहीं है। भावाभिव्यक्ति की सरसता में कला का योग चेष्टा करके उन्होंने किया है। कला की साधना उनका ध्येय नहीं रहा है, परन्तु अभिव्यक्ति में सजीवता तथा सरसता लाने के लिए उन्होंने अनेक अलंकारों की शरण ली है, उनकी अनुभूतियों में यथार्थता तो है, परन्तु सजीव सौन्दर्य इतना उत्कृष्ट नहीं कि अलंकृत सौन्दर्य आभूषित सुषमा की आभा को क्षीण बना दे। अपने काव्य को अनेक अलंकारों से सज्जित कर उन्होंने आकर्षक तथा सरस बनाया है। रूपक, उपमा तथा उत्प्रेक्षा, उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में मुख्य हैं। अलंकारों की योजना भावाभिव्यक्ति के सहायक रूप में ही हुई है। श्याम के रूप-सागर में डगमगाती हुई राधे की लाज की नौका के वर्णन की सजीवता तथा सफलता इस कथन की पुष्टि करेगी—

स्याम रूप सागर में नैन वार पारथ के,
नाचत तरंग अंग अंग रगमगी है।
गाजन गहर धुनि बाजन मधुर बैन,
नागिन अलक जुग सोधे सगमगी है ॥
भवर त्रिभँगताई पान पैं लुनाई ता में,
मोती मणि जालन की जोति जगमगी है।
काम पौन प्रबल धुकान लोपी लाज तातें,
आज राधे लाल की जहाज डगमगी है ॥

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा के उदाहरण में ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

मैन मधुवान सजे, मुक्तन लता पै चंद
घूँघट के ओट मानों मृगया करत है।

उपमाओं के प्रयोग में प्रायः प्रसिद्धियों और परम्परागत उपमानों का ही सहारा लिया गया है। काव्य के सौन्दर्य को परिष्कृत बनाने के लिए ही अलंकारों का

प्रयोग किया गया है और इस ध्येय की पूर्ति में वे पूर्ण सफल रही हैं।

छंद-ज्ञान से वे पूर्ण भिज्ञ थीं। दोहा, सवैया, कुंडलिया, कवित्त, सभी प्रचलित तथा प्रधान छंदों का प्रयोग उनके काव्य में मिलता है। इनके प्रयोग में अशुद्धियाँ अपवाद रूप में आती हैं। पिंगल शास्त्र की रूपरेखा का उन्हें पूर्ण ज्ञान था, ऐसा मालूम होता है। कई स्थलों पर मात्रा की न्यूनता तथा अधिकता का दोष कविता के प्रवाह को भंग कर देता है, पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं। उस युग की अन्य लेखिकाओं ने कला तथा भाव का संतुलन इस मात्रा में नहीं बाँधा। कुंडलिया छंद के साधारण नियम के अनुसार, जिस शब्द से छंद आरम्भ होता है उसी से उसका अन्त भी होना चाहिए, परन्तु सुन्दर कुँवरि ने इस नियम का पूर्ण उल्लंघन किया है।

इन्होंने प्रधान रूप से ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। क्रियापद, विभक्तियाँ, कारक चिह्न इत्यादि शुद्ध ब्रजभाषा के ही हैं, आश्चर्य का विषय तो यह है कि राजस्थानी की छाया का भी आभास उनकी भाषा में नहीं मिलता। ऐसा ज्ञात होता है कि भाषा के प्रयोग में वह स्थानीय भाषा-निषेध के प्रति जागरूक रहती थीं। इस निषेध का मूल कारण क्या था यह समझ में नहीं आता। ब्रजभाषा में संस्कृत शब्दों का तत्सम रूप में प्रयोग उनके संस्कृत विषयक यथेष्ट ज्ञान का परिचायक है। संस्कृत मिश्रित साहित्यिक ब्रजभाषा ही उनके काव्य की भाषा है, जो यथोचित अलंकार से विभूषित होकर, भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण सक्षम बन गई है।

सुन्दर कुँवरिबाई के काव्य की पूर्ण उपेक्षा हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों की नारी द्वारा रचित साहित्य के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टि की परिचायक है। विशालता के समक्ष क्षुद्र की उपेक्षा का कारण तो समझ में आ सकता है, परन्तु साहित्य के विशाल सागर में केवल असाधारण बिन्दुओं का ही महत्त्व नहीं होता, साधारण बिन्दुओं का अभाव सागर की विशालता के अस्तित्व को भी शंकायुक्त बना सकता है, सुन्दर कुँवरि की प्रतिभा पर संशय करने का कोई आधार नहीं है। नारी-जीवन की परिसीमाओं के बीच प्रस्फुटित उनकी काव्य-प्रतिभा के कला तथा भाव दोनों पक्ष सबल हैं। परिष्कृत भाषा, सरस अभिव्यक्ति, सुन्दर कल्पनाएँ, रसानुभूति इत्यादि काव्य का कोई अंग ऐसा नहीं, जो उनकी रचनाओं में न हो।

उनकी समस्त रचनाओं की साधारणता में अनेक उत्कृष्ट स्थल मिलते हैं, जहाँ अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तथा कला का प्रयोग श्रेष्ठ तथा उच्च स्तर पर है। उनके काव्य की अन्यायपूर्ण उपेक्षा के लिए हिन्दी के इतिहासकारों का स्त्रियों द्वारा रचित साहित्य के प्रति उपेक्षामय दृष्टिकोण ही उत्तरदायी है।

ताज—धर्म तथा जाति की सीमा तोड़कर कृष्ण के चरणों में सर्वस्व समर्पण द्वारा, ताज ने कृष्ण रूप के प्रति नारी के सहज आकर्षण का प्रमाण दिया। मध्य-

कालीन धार्मिक संकीर्णताओं तथा सामाजिक बन्धनों का अतिक्रमण कर अपनी भावनाओं की सामर्थ्य तथा प्रबलता की इस परिचायिका की जीवनी पूर्णतः संदिग्ध है। इनका संक्षिप्त उल्लेख यद्यपि शिवसिंह सरोज के समान प्राचीन इतिहास ग्रंथ में भी मिलता है, परन्तु इनका परिचय उसमें पुरुष के रूप में दिया गया है। ताज कवि शीर्षक से उनके स्त्री होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु श्री मुंशी देवीप्रसाद तथा अन्य लेखकों की कृतियों में ताज का नाम स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है। इनका जन्म, रचनाकाल, मृत्यु-तिथि सब कुछ पूर्णतया संदिग्ध है। शिवसिंह सरोज के अनुसार इनका जन्म संवत् १६५२ है। मुंशी देवीप्रसाद ने सम्वत् १७०० के लगभग इनका समय माना है। 'हिन्दी के मुसलमान लेखक' तथा 'मुसलमानों की हिन्दी सेवा' में उनकी जीवनी का कुछ अंश तथा उनकी रचनाओं के कुछ उद्धरण संकलित हैं। 'स्त्री कवि कौमुदी' में जीवनी अंश तो सन्तोषजनक है, पर काव्य के उद्धरणों की संख्या इतनी कम है कि उसके आधार पर ताज की काव्य-प्रतिभा के विषय में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। श्री निर्मल जी ने ताज के विषय में श्री गोविन्द गिल्ला भाई से पत्र-व्यवहार किया था। गोविन्द गिल्ला भाई हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक थे। उन्होंने लिखा है कि ताज के सैकड़ों छंद उनके पास एकत्रित हैं। उनके निम्न पत्र द्वारा ताज के जीवन के विषय में अनुमान किया जा सकता है :—

"ताज नाम की एक मुसलमान स्त्री कवि करौली ग्राम में हो गई है। वह नहा-धोकर मंदिर में भगवान् का नित्य प्रति दर्शन करती थी, इसके पश्चात् भोजन ग्रहण करती थी। किन्तु एक दिन वैष्णवों ने उसे विधर्मिणी समझकर मंदिर में दर्शन करने से रोक दिया। ताज उस दिन उपवास करके मंदिर के आँगन में ही बैठी रह गई और कृष्ण का नाम जप करती रही। जब रात हो गई तब ठाकुर जी स्वयं मनुष्य का रूप धारण कर भोजन का थाल लेकर ताज के पास आये और कहने लगे तूने आज ज़रा-सा भी प्रसाद नहीं खाया, ले अब इसे खा।.........प्रातःकाल जब सब वैष्णव आये, तो ताज ने सारी बातें उनसे कह सुनाईं। ताज के सामने भोजन का थाल देखकर वे अत्यन्त चकित हुए। वे सभी वैष्णव ताज के पैरों पर गिर पड़े और क्षमा-प्रार्थना करने लगे। तब से ताज प्रतिदिन भगवान् के दर्शन करके प्रसाद ग्रहण करने लगी। पहले ताज मंदिर में जाकर ठाकुर जी का दर्शन कर आती थी तब और दूसरे वैष्णव दर्शन करने जाते थे।

"ताज परम वैष्णव और महा भगवद्भक्त थी। ठाकुर जी की कृपा से वह भक्त हो गई। जब मैं करौली गया था तब अनेक वैष्णवों के मुँह से मैंने यह बात सुनी थी, वहीं मैंने इनकी अनेक कविताएँ भी सुनीं। उसी समय इनकी कितनी ही कविताएँ मैंने लिख भी ली थीं। ताज की दो सौ कविता मेरे हाथ की लिखी हुई मेरे

निजी पुस्तकालय में हैं।"

—गोविन्द गिल्ला भावे
सिहोर,
भाव नगर राज्य

ताज का निवास-स्थान करौली ग्राम में था। मुसलमान घर में जन्म लेकर भी उनके संस्कार परम वैष्णवों के-से थे। इनके विषय में कुछ दन्तकथाएँ प्रचलित हैं जिनका सारांश यह है कि वे कृष्ण की परम भक्त थीं। हिन्दू नियमों के अनुसार स्नान-ध्यान करके वे मंदिर में कृष्ण के दर्शन-हेतु जाती थीं। एक दिन वैष्णवों ने उनके विधर्मी होने के कारण उन्हें मंदिर में प्रवेश करने का निषेध कर दिया। ताज अपने इष्टदेव के दर्शन के बिना भोजन कैसे करतीं, अतः उपवास करके वे कृष्ण का नाम जपती रहीं। रात्रि में स्वयं कृष्ण मानव रूप में उनके पास भोजन लेकर आये, और इस भेद के खुलने पर वैष्णवों ने लज्जा से क्षमा-प्रार्थना की और अपना निषेध लौटा लिया। अन्तःसाक्ष्य तथा यत्र-तत्र बिखरी हुई ताज विषयक प्राप्त सामग्री से यह प्रमाणित होता है कि वह पंजाब की निवासिनी थीं। उनके मुसलमान होने में कोई सन्देह नहीं है। वे स्वयं अपने धर्म-परिवर्तन की कहानी इन शब्दों में कहती हैं—

सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी, मैं निवाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान साढे गुनन गहूँगी मैं॥
स्यामला सलोना सिर ताज कुल्ले दिये
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान तोरी सूरत पै,
त्वाढ़ नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं॥

इस स्पष्ट कथन के पश्चात् उनके धर्म-परिवर्तन में कोई सन्देह नहीं रह जाता। परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि इनकी रचनाओं में इस्लामी सिद्धान्तों की छायामात्र भी नहीं दिखाई देती। प्रसिद्ध मुसलमान कृष्ण-भक्त रसखान की भाँति ही ताज भी कृष्ण के रूप और शक्ति पर मुग्ध हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि किसी वैष्णव का उन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। कृष्ण के प्रेमवर्णन में केवल उनका रूप ही नहीं है, उनकी शक्ति भी है।

यद्यपि उनके कृष्ण का रूप माधुर्य भावना के अनुकूल आलम्बन प्रस्तुत करता है, परन्तु अधिक स्थलों में या तो वह सजे-सजाये रासमंडली में नृत्य करने वाले नकली कृष्ण के समान भासित होते हैं; जैसे—

छैल जो छबीला सब रंग में रँगीला,
बड़ा चित्त अड़ीला कहूँ देवतों से न्यारा है।
माल गले सोहे, नाक मोती सेत जोहे,
कान कुंडल मन मोहे, लाल मुकुट सिरधारा है ॥

अथवा पतित-उद्धारन गरिमामय, अवतार रूप कृष्ण उनकी आस्था के पात्र हैं—

ध्रुव से प्रहलाद गज ग्राह से अहिल्या देवि,
स्योरी और गीध और विभीषन जिन तारे हैं।
पापी अजामिल सूर तुलसी रैदास कहूँ,
नानक मलूक ताज हरि ही के प्यारे हैं ॥
धनी नामदेव दादू सदना कसाई जान,
गनिका, कबीर, मीरा, सेन उर धारे हैं।
जगत को जीवन जहान बीच नाम सुन्यो,
राधा के वल्लभ कृष्ण वल्लभ हमारे हैं ॥

कृष्ण के मधुर रूप का चित्रण उनके विराट रूप के अंकन की तुलना में बहुत नीचे रह जाता है। मधुर चित्रण में शारीरिक चेष्टाओं की प्रधानता के सामने उनका भावात्मक पक्ष गौण पड़ जाता है, परन्तु विराट की गरिमा के प्रति आस्था और विश्वास उनके काव्य के एक-एक शब्द में प्रस्फुटित होता है। उनके कृष्ण में महाभारत के राजनीतिज्ञ, गीता के उपदेशक तथा ब्रज के कन्हैया के रूपों का समन्वय है।

भावनाओं की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दू धर्म पर विश्वास और कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम तो आश्चर्य की वस्तु नहीं है, परन्तु ताज द्वारा वर्णित हिन्दू धर्म में प्रचलित पौराणिक कथायें, उनके प्रसंगानुकूल शुद्ध तथा यथातथ्य वर्णनों को देखकर हठात् विश्वास नहीं होता कि उनका जन्म मुसलमान घराने में हुआ था। महाभारत रामायण इत्यादि की प्रचलित कहानियों से ही नहीं अपितु अनेक अन्तःकथाओं से भी उनका पूर्ण परिचय है। कुन्दनपुर जाकर भीष्म की सहायता करने जैसी अनेक छोटी-छोटी कथाओं का विवरण भी उनकी रचनाओं में मिलता है जिससे अनुमान होता है कि उन्हें हिन्दू धर्म की रूपरेखा का विस्तृत ज्ञान था।

कृष्ण के प्रति उनकी भावना में अनन्यता है। मानव-भावनाओं के आरोपण में माधुर्य भावना की प्रधानता है। उनके माधुर्य में लीला, रूप तथा प्रेम का सामंजस्य है। विरह की अनुभूतियों में मिलन की छाया देखकर संतोष कर लेने की शक्ति उनमें नहीं है, उनके नेत्रों को तो साकार दर्शन में ही विश्वास है, प्रेम सम्बन्धी अनेक प्रसिद्ध उपमानों से उनकी भावनाओं का यह सम्बन्ध स्थापन अनुपम है—

भानु के प्रकास बिना कंज मुख ढाँपि रहे,
केतकी के वास बिना भौंर दुख सीर है ।
देखे बिना चन्द के चकोर चित्त चाय रहे,
स्वाति बूँद चाखे बिना चातक मन पीर है ।।
दीपक की जोति बिना सीस तो पतंग धुने,
नीर के बिछोह मीन कैसे करि जी रहे ।
कहूँ कवि ताज मिल मानिये हमारी किधौं,
नैनन में देखूँ जब नैनन में धीर है ।।

हिन्दू धर्म में प्रचलित अनेक आडम्बरों पर उन्होंने जो आक्षेप किये हैं, उनमें व्यंग्य और लांछना नहीं है, परन्तु उनकी मीठी वाणी में निहित संकेत इन उपहासप्रद वस्तुओं की महत्त्वहीनता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं । उदाहरण के लिए—

काहू को भरोसो बद्रीनाथ जाय पायँ परे,
काहू को भरोसो जगन्नाथ जू के मान को ।
काहू को भरोसो काशी गया में ही पिंड भरे,
काहू को भरोसो प्राग देखै वट पात को ।।
काहू को भरोसो सेतबन्ध जाय पूजा करे,
काहू को भरोसो द्वारवती गये जात को ।
काहू को भरोसो ताज पुस्कर में दान दिये,
मो को तो भरोसो एक नन्द जी के लाल को ।।

इस प्रकार ताज की भक्ति-भावना का आधार कृष्ण का माधुर्यमय विराट रूप है । उनकी भावनाओं में निर्झरणी का चंचल वेग नहीं, समतल स्थान में प्रवाहित सरिता का शान्त स्निग्ध प्रवाह है । उपास्य के प्रति उनकी भावना में विश्वासजन्य समर्पण है । इस समर्पण में उद्विग्नता विह्वलता उतनी नहीं जितनी आस्था और श्रद्धा है । कृष्ण के मधुर रूप में भी नैसर्गिक छाप है, लौकिक व्यक्ति के रूप में भी उनके कृष्ण उनसे उच्च स्तर पर हैं, राधा तथा गोपियों के साथ कृष्ण की क्रीड़ा के प्रति आनन्द और उल्लास तो है, परन्तु उच्छृंखल रसिकता नहीं ।

प्रेम पंथ की गहनता और गम्भीरता से उनका प्रौढ़ हृदय परिचित है । कृष्ण के रूपजन्य आकर्षण के उन्माद में उनकी भावनाओं का बाँध नहीं टूट जाता, उनका संतुलित मस्तिष्क उसे जीवन की तुला पर रख उसका मूल्य आँकने का प्रयास करता है—

मुस्क्यानि तिहारी जो मैंने लखी,
लखि के मन में अति नेह जुटानो ।

जो तुम चाहत एक बिसे,
हम एक के बीस बिसे तेहि मानो ॥
राह बड़ी है जो प्रेम के पंथ की,
चातुर होय सोई चित आनो ।
जीवन ताज कहे जग में,
तुक चारहि आदि के अक्षर जानो ॥

उपास्य तथा भक्ति-भावना के अतिरिक्त हिन्दू धर्म में मान्य अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी उनकी रचनाओं में मिलता है। कर्म-काण्ड भारतीय दर्शन में सदैव से मुख्य विषय रहा है, ताज ने इसकी विवेचना करते हुए भी अनेक सवैये लिखे हैं, जिनके सौष्ठव तथा स्पष्टता का परिचय तद्विषयक एक सवैये से हो जायगा—

कर्म सो बुद्धि हूँ ज्ञान गुनै अरु, कर्म सो चातक स्वाति जो पीवे ।
कर्म सो जोग अरु भोग मिले, अरु कर्म सो पंकज नीर न छीवे ॥
कर्म सो ताज मिले सुख देह की, कर्म सो प्रीति पतंग ज्यूँ देवे ।
कर्म के यों ही अधीन सबै, अरु कर्म कहू के अधीन न होवे ॥

ताज द्वारा रचित काव्य के विषय से परिचय के उपरान्त उनकी रचनाओं का काव्य-पक्ष हमारे समक्ष आता है। ताज के काव्य में अनुभूतियों के स्रोत का स्वच्छन्द तथा निर्बन्ध प्रवाह नहीं है। अनुभूतियों की गति की स्वच्छन्दता मुक्त गेय पदों में ही व्यक्त की जा सकती है, ताज ने कृष्ण काव्य के लेखकों की चिर-परिचित पद-शैली का अनुसरण न करके कवित्त तथा सवैया-शैली को अपनाया है, परन्तु छंदों के बन्धान में वे पूर्णतया सफल रही हैं। उनके सवैया तथा कवित्त दोनों ही छंदों के प्रयोग में कोई विचारणीय दोष नहीं आ पाये हैं। शैली की प्रांजलता तथा छंदों की लय और संगीत एक मध्यकालीन साधारण नारी के लिए अपवाद-से लगते हैं। हिन्दी में भक्ति-काव्य की रचना करने वाली स्त्रियों में रानियाँ ही अधिक थीं। उनके लिए काव्य-शास्त्र इत्यादि विषयों की शिक्षा यद्यपि दुष्प्राप्य अवश्य थी, पर अप्राप्य नहीं थी, परन्तु ताज जैसी साधारण स्त्री में काव्य-शास्त्र विषयक प्रांजलता वास्तव में आश्चर्य का कारण बन जाती है।

उन्होंने अनेक स्थानों पर उत्प्रेक्षा, उपमा, उदाहरण इत्यादि अलंकारों द्वारा अपने काव्य का सौन्दर्य द्विगुणित किया है। प्रसिद्ध उपमानों ही का सम्बल उन्होंने लिया है, परन्तु उसे अपनी मधुर भावनाओं तथा भाषा द्वारा चिर-नवीन बना दिया है। अनुप्रास की पुट से ही उन्हें सन्तोष नहीं होता प्रत्युत उनकी शैली ही सानुप्रासिक है—

ऐसे हैं छबीले लाल छल की जो बात करें,
मेरे चाह चौगुनी तलास दिन रैन हैं ।

मन में उमंग भरे कोमले कनक रंग,
नेह भरे मोह सो जो मोहे मन मैन है।
चतुर सयाने सबै चातुरी की बातें सुने,
चाहि चित चोर लेत ऐसे दुख देन हैं।

उपमा के भी अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उपमा, उदाहरण, सन्देह इत्यादि अलंकारों का प्रयोग मात्रा में यद्यपि पर्याप्त है, परन्तु अधिक सुन्दर नहीं है। उत्प्रेक्षा बहुत सुन्दर बन पड़ी है। एक उदाहरण लीजिए—

नेकु बिहाय न रैन कछू यह जान भयानक भार भई है।
भौन में भानु समाज सु दीपक अंगन में मनो आग दई है॥

प्रसाद तथा माधुर्य गुणों से उनकी कविता ओत-प्रोत है। शान्त रस तथा अपार्थिव शृंगार उनके काव्य में प्रधान है। माधुर्य और श्रद्धा की भावनाएँ कृष्ण के महिम तथा रसिक चरणों पर बिखरकर काव्य बन गई हैं—

दुष्ट जन मारे, सब सन्त को उबारे, ताज,
चित्त में निहारे, प्रन प्रीति करनवारा है।
नन्द जू को प्यारा, जिन कंस को पछारा,
वह वृन्दावन वारा, कृष्ण साहब हमारा है॥

हृदय में उमड़े कृष्ण के प्रति आस्था का यह उल्लास, रवि के प्रकाश, चन्द्र की शीतलता, ईश की कृपा, शुक्र, शनि, मंगल इत्यादि अनेक नक्षत्रों की गति से भी अधिक दृढ़ और प्रबल है—

मो को तो भरोसो एक प्रीतम गोपाल को।

ताज के माधुर्य में किसी-किसी स्थल पर लौकिक शृंगार की भावनाओं का प्रभाव प्रधान दिखाई देने लगता है। कालिन्दी के तट पर स्थित निकुंज के मध्य पंकज शय्या प्रस्तुत कर राधा की प्रतीक्षा करते हुए कृष्ण तथा राधा की चटक-मटक पर अटकी हुई आँखें कल्पना-जगत् की सुन्दर निर्माण हैं, परन्तु इस प्रसंग में आलम्बन की अपार्थिवता ही नैसर्गिक है; भावनाओं तथा वातावरण की लौकिकता में काम का स्पन्दन है—

कालिन्दी के तीर नीर निकट कदम्ब कंज,
मन कछु इच्छा कीनो सेज सरोजन की।
अन्तर के यामी कामी कँवल के दल लेके,
रची सेज तहाँ शोभा कहा कहौं तिनकी॥
तिहि समै ताज प्रभु दंपति मिले की छवि,
बरन सकत नाहिं कोऊ वाहि छन की।

राधे की चटक देखि अँखियाँ अटक रहीं,
मीन को मटक नाहिं साजत वा छबि की ॥

उनकी सरस अभिव्यंजना प्रांजल भाषा, सजीव कल्पना, भावुक चित्रण तथा सुन्दर अलंकृत शैली का परिचय, नीरव रजनी के एकान्त में, अश्रुओं तथा उच्छ्वासों में तड़पती हुई विरहिणी बाला के चित्रण से मिल जायगा—

चैन नहीं मन में, मलीन सुनैन भरे जल में न तई है।
ताज कहे पर्यंक यों बाल, ज्यों चंप की माल बिलाय गई है ॥
नेकु विहाय न रैन कछू यह जान भयानक भोर भई है।
भौन में भान समान सुदीपक, अंगन में मनो आगि दई है ॥

मन की व्याकुलता में मलीन, पर्यंक पर मुर्झाई हुई चंपकमाल के सदृश माला की व्यथा इन भावपूर्ण तथा अलंकृत पंक्तियों में सजीव है। प्रतीक्षा की लम्बी घड़ियों के बीच यह देखकर कि रात्रि अभी बहुत शेष है, उसके मन का भार बढ़ जाता है और सूने भवन में जलते हुए प्रदीप का आलोक उसके अंगों को प्रखर सूर्य की भाँति जलाता है। कल्पना, भाव तथा अभिव्यक्ति, इन सभी दृष्टियों से ये पंक्तियाँ साधारण स्तर से ऊँची हैं। ताज के काव्य में व्यक्त प्रौढ़ भावनाओं तथा प्रांजल और परिपक्व अभिव्यंजना शैली पर दृष्टिपात करने से ऐसा ज्ञात होता है कि ताज ने काव्य-रचना का आरम्भ एक प्रौढ़ जीवन-दर्शन को आत्मसात् करने के पश्चात् किया था। इस्लाम के एकेश्वरवाद में उन्हें उनकी अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा का समाधान नहीं प्राप्त हो सका, और लौकिक विकर्षण के प्रभावस्वरूप अध्यात्म क्षेत्र में अनेक प्रयोग करने के पश्चात् उनकी रागात्मक प्रवृत्तियों को कृष्ण के मधुर रूप का आश्रय मिला, यही कारण है कि उनके काव्य में रागात्मक अनुभूतियों के साथ गम्भीर दार्शनिकता की सरस अभिव्यंजना मिलती है।

ताज पंजाब की निवासिनी थीं। उनकी कुछ कविताओं में पंजाबी तथा उर्दू के शब्दों का बाहुल्य है तथा अधिकांश सवैये तथा कवित्त शुद्ध ब्रजभाषा की माधुरी में पगे हुए हैं। ऐसा भास होता है कि काव्य-साधना के आरम्भ-काल की रचनाओं में जब उन्हें ब्रजभाषा का पूर्ण ज्ञान नहीं था, उन्होंने उर्दू तथा पंजाबी शब्दों का प्रयोग किया है। उनके धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी सवैये की यह पंक्तियाँ इस कथन की पुष्टि करती हैं—

सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।

× × ×

नन्द के कुमार कुरबान तोरी सूरत पै
त्वाढ़ नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।

दूसरे प्रसंगों के कवित्त तथा सवैये में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं—

प्रीतम प्रवीन सुनो कहूँ वे वेर तुम्हें
मित्र का मिलाप यार भिस्त की निसानी है।

इसके विपरीत अनेक स्थलों पर उनकी भाषा संस्कृत के अनेक तद्भवों तथा कुछ तत्समों से बनी हुई ब्रजभाषा है; पीछे आये हुए अनेक उद्धरण इस उक्ति के प्रमाणस्वरूप लिए जा सकते हैं। उर्दू भाषा के प्रयोग के कारण खड़ीबोली का भी पुट उनकी भाषा में आ गया है।

अन्य कवयित्रियों की रचनाओं के अप्रकाशन की ही भाँति ताज की रचनायें भी उपेक्षित साहित्य की राशि के साथ पड़ी हुई हैं। जो रचनायें यत्र-तत्र खोज के फलस्वरूप एकत्रित हो सकी हैं, उनका शतांश भी अभी जनता के सामने नहीं आ सका है, जो रचनायें प्राप्त हैं, उन्हीं के आधार पर उनकी काव्य-प्रतिभा और कला-प्रियता का आभासमात्र मिलता है।

कृष्ण काव्य की कवयित्रियों में, कला के सौष्ठव की दृष्टि से मीरा के पश्चात् ताज का ही स्थान आता है। उनके काव्य की शुद्ध आत्मा सुघर कला की कसौटी पर पूर्ण परिष्कृत होकर निखर गई है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि ताज अपने युग की एकमात्र सचेष्ट कलाकार थीं। मीरा की अनुभूतियों की प्रखरता ही कला बन गई थी, उनकी भावनाओं के अजस्र स्रोत के प्रवाह में सुन्दर मुक्ताएँ मिलती हैं, परन्तु ताज की अनुभूतियाँ उनकी प्रतिभा तथा कला के स्पर्श से कुन्दन बन गई हैं।

अलबेली अलि—श्री बडथ्वाल जी द्वारा सम्पादित, नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में तथा उन्हीं के द्वारा लिखित एक लेख में अलबेली अलि का उल्लेख मिलता है। इनके विषय में सबसे पहला सन्देह यह उत्पन्न होता है कि ये स्त्री थीं अथवा सखी सम्प्रदाय की स्त्री नामधारी अनुयायी। स्वयं बडथ्वाल जी ने तथा शोध करने वालों ने उनका उल्लेख किया तो है स्त्री के रूप में, परन्तु उसमें शंका के शब्द भी बहुत मिले हुए हैं। बडथ्वाल जी के मतानुसार उनके सखी सम्प्रदाय के अनुयायी होने की अधिक सम्भावना दृष्टिगत होती है। हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करने वालों ने एक स्थान पर लिखा है, अलबेली अलि वंशी अली की भक्त थीं। दूसरे स्थान पर लिखा है कि वह पुरुष थीं या स्त्री, यह कहना कठिन है। उनके काव्य तथा साधना का रूप देखकर तो उनके सखी सम्प्रदाय के पुरुष होने की सम्भावना लगती है; उन्होंने अपने यथार्थ नाम का प्रयोग अपनी रचनाओं में नहीं किया, इसी कारण, उन्हें कवयित्रियों की श्रेणी से पृथक् नहीं किया जा सकता, जब तक कि इतिहासकार इस विषय में किसी विशेष निष्कर्ष पर न पहुँच जायें।

मिश्रबन्धु में इनका उल्लेख इस प्रकार है—इनकी कविता भक्तमाल में है और

३०० पद गोविन्द गिल्ला भाई के पुस्तकालय में हैं। 'रस मंजरी' में भी इनके कवित्त हैं। परन्तु अब तक उनका स्वतन्त्र ग्रंथ न तो शोध में ही मिला था और न हिन्दी साहित्य के किसी इतिहास-ग्रंथ में ही।

उनके जीवन तथा रचनाकाल के विषय में कुछ सामग्री प्राप्त नहीं है। इनके गुरु वंशी अली थे, जिनके नाम का उल्लेख उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। इनके लिखे हुए तीन ग्रंथों का विवरण खोज रिपोर्ट में मिलता है—

१. अलबेली अलि ग्रंथावली।

२. गुसाईं जी का मंगल।

३. विनय कुंडलिया।

अलबेली अलि ग्रंथावली में, प्रिया जी का मंगल, राधा अष्टक और मांझ नाम के तीन छोटे-छोटे ग्रंथ संगृहीत हैं, जिनमें राधा जी के स्वरूप-शृंगार तथा सावन सम्बन्धी गीतों का चयन है। उद्धृत पदों द्वारा उनकी अभिव्यंजना, कला भाव तथा साधना के विषय में अनुमान किया जा सकता है। ग्रंथ के आरम्भ में राधा की स्तुति है, जो कला तथा भाव दोनों दृष्टियों से अत्यन्त साधारण है। अन्त में उस स्थिति का चित्रण है जहाँ भक्त हृदय की कल्पना, पूर्ण तन्मय होकर अपार्थिव सत्ता की अनुभूति अपने जीवन में करने लगती है—

नेह सनेह सनी अंगिया या सारी मन भावै।
सखी जानि के अपनी हमको अंतरौटा पहिनावै॥
बाल खुले पर सूहे फेंटा तूरा अजब सुहावै।
डोरी लगे डुपट्टे की लपटन लटकनि मन भावै॥
तिलक अलक माला मोतिन की कटि तट बंदी बाँधे।
चुम्बन करत लाल मुख लाल वंशी कर धर काँधे॥

राधा का यह रूप, उनके प्रति साधक की भावना तथा अभिव्यक्ति की स्पष्टता नारी-हृदय की अपेक्षा, नारी बनने की कल्पना सुख में विभोर पुरुष के हृदय के अधिक निकट है।

मो सों ही न कोई पातकी तुम सो तो अधिक उदार।
तुम हो तैसी कीजिए अहो रसिक सुकुमार॥
अहो रसिक सुकुमार करूँ विनती कर जोरी।
बंध्यो रहै मन रैन दिना तुव प्रेम की डोरी॥
जो चाहो सो करो कुँवर त्रिविध मन हरना।
अलबेली अलि परी आन पद पंकज सरना॥

इन पदों में भावनाओं की प्रखरता, अभिव्यंजना-शैली इत्यादि काव्य के सभी

आवश्यक अंगों की परिपूर्ति हुई है। नारी-भावना चाहे इनके रचयिता को स्त्री मानने का लोभ न संवरण कर सके, परन्तु तर्क और विवेक उन्हें सखी सम्प्रदाय का साधक मानने को ही विवश करते हैं, परन्तु कवयित्रियों के मध्य उनका उल्लेख करना उनके नाम की संदिग्धता के कारण ही अनिवार्य हो गया है।

अलबेली अलि ने शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। ब्रजभाषा के स्थानीय रूपों के साथ संस्कृत पदावली का प्रयोग भाषा की माधुरी की अभिवृद्धि कर देता है। शैली उनकी अलंकृत तो नहीं कही जा सकती, परन्तु अलंकारों के प्रयोग का अभाव नहीं है। रूपक तथा उपमाओं का परम्परागत उपमानों द्वारा प्रयोग किया है। पद शैली ही उन्हें प्रिय है, परन्तु विनय कुंडलिया ग्रंथ म कुंडलिया छंद का सफल प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा की माधुरी, कल्पना की प्रचुरता, मौलिक उद्भावनाओं तथा छंद के लय का परिचय इस कुंडलिया से भली प्रकार मिल सकता है—

ब्रजनागरि चूड़ामनि सुख सागर रस रास।
राखौ निज पद पिंजरे मम मन हंस हुलास ।।
मम मन हंस उलास बढ़े दिन दिन अतिभारी।
रहै सदा चित चाक लखै ज्यों चातक वारी ।।
कामी के मन काम दाम ज्यों रंकहि भावै।
नवल कुँवर पद प्रीति सु अलबेली अलि पावै ।।
जागत नैनन में रहौ सोवत सपने माँहि।
चलत फिरत इक छिन कहूँ अन्तर परिहै नाँहि ।।
अंतर परिहै नाँहि निरखि तुव वदन किशोरी।
प्रेम छके दिन रैन रहे दृग चंद चकोरी ।।

अलबेली अलि के व्यक्तित्व के विषय में केवल इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनमें काव्य-प्रतिभा थी। सखी सम्प्रदाय की आराध्य देवी राधिका की वन्दना तथा उनका महत्त्व-वर्णन उन्हें सखी सम्प्रदाय का अनुयायी ही घोषित करते हैं। वह स्त्री थीं अथवा पुरुष, यह प्रश्न अनिश्चित ही रह जाता है। यदि वास्तव में वह स्त्री थीं, तो कवयित्रियों के इस इतिहास में उनके साथ अन्याय नहीं होता, या यदि वे पुरुष थे, तो भावना में ही नारी बनने के पुरस्कार-स्वरूप इस लेख के अन्तर्गत उनके नाम का उल्लेख अधिक अनुपयुक्त नहीं है।

उनका दूसरा ग्रंथ है गुसाईं जी का मंगल। इस ग्रंथ में गुरु वंशी अली के सम्बन्ध में शृंगारपूर्ण बधाई के गीतों का संग्रह है। इस ग्रंथ की कविताओं का रूप-निर्धारण तथा विषय-निरूपण निम्नलिखित पद के द्वारा किया जा सकता है। आरम्भ के पद में गुरु की वन्दना में भी स्त्रीलिंग का प्रयोग है। वंशी अली सखी सम्प्रदाय के मुख्य

भक्तों में हो गये हैं। उनके लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग उनके पुरुषत्व को भी शंकित बना देता है। इस उद्धरण से उनका राधावल्लभ मत का अनुयायी होने की ओर भी अधिक पुष्टि होती है। पद में वंशी अली जी के प्रति मंगल कामना व्यक्त है—

जय जय श्री वंशी अली ललित अभिरामिनी।
रूप सुशील सुमुख प्रिये गुन गामिनी॥
रहत संतन अंग संगी, रसिक मनि कल कामिनी।
जय जय श्री वंशी अली, ललित अभिरामिनी॥

इस ग्रंथ के पद छोटे-छोटे, बहुत सरस और मार्मिक हैं, वंशी अली तथा राधा विषयक भावनाएँ उन्हें पूर्ण रूप से सखी सम्प्रदाय का प्रमाणित करती हैं।

तीसरा ग्रंथ है विनय कुंडलिया—इस ंथ में राधा की विनय अनेक प्रकार से कुंडलिया छंद में की गई है। अपने लिए भी उन्होंने स्त्रीलिंग का ही प्रयोग किया है। काव्य के जो अंश प्राप्त हैं उनमें प्रसाद गुण का प्राधान्य है। विनय के ये पद काव्य की आत्मा की कसौटी पर नारी-हृदय के अधिक निकट उतरते हैं।

बीरां—राजस्थान की इस कवयित्री का उल्लेख महिला मृदुबानी के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। मुंशी देवीप्रसाद जी की राजस्थान के लेखकों की खोज रिपोर्ट में इनके नाम का उल्लेख अवश्य मिलता है। इनके जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे जोधपुर-निवासिनी थीं। जनश्रुतियों के आधार पर यह भी कहा जाता है कि सम्वत् १८०० में सती होकर उन्होंने अपने जीवन का अन्त किया था।

इनके बनाये हुए पद जोधपुर के संग्रहालय के एक ग्रंथ में वहाँ के शासक श्री बख्तसिंह जी के पदों के साथ मिलते हैं, परन्तु इसके आधार पर ही बख्तसिंह जी के साथ उनके सम्बन्ध की सम्भावना उचित नहीं है। उनके पदों में कृष्ण के रूप-वर्णन तथा उनकी भक्ति-भावना की अभिव्यंजना मिलती है। उनके पद रागबद्ध हैं। राग सोरठ तथा राग विलावल के प्रति उनकी विशेष रुचि मालूम होती है। साधारण पिष्टपेष्टित भावनाएँ सीधे-सरल शब्दों में व्यक्त हैं। भजन, कीर्तन इत्यादि के अवसरों पर गाये जाने योग्य भजनों तथा गीतों में पाई जाने वाली संगीतबद्ध तुकबंदियों की अपेक्षा तो यह श्रेष्ठ है, पर उत्कृष्ट काव्य के अन्तर्गत रखे जाने की क्षमता उनमें नहीं है। काव्य की तन्मयता की अपेक्षा उनमें संगीत का प्रवाह अधिक है—

बस रहि मेरे प्राण मुरलिया बस रहि मेरे प्राण।
या मुरली ने काह न घोल्यो उन ब्रजवासिन कान॥
मुख की सौर लई सखियन मिल अमृत पीयो जान।
वृन्दावन में रास रच्यो है, सखियाँ राख्यो मान॥

धुनि सुनि कान भई मतवारी अन्तर लग गयो ध्यान।
बीरा कहे तुम बहुरि बजाओ नंद के लाल सुजान॥

ये गीत काव्य की अपेक्षा लोकगीत के अधिक निकट हैं। गाने की सुविधानुसार मीरा के पदों के समान इनके पदों में भी रे, री इत्यादि निरर्थक अक्षरों का प्रयोग मिलता है। काव्य-दृष्टि से इन पदों का अधिक मूल्य नहीं है, पर साधारण नारी-हृदय की साधारण भावनाएँ बड़ी सफलता के साथ इनमें व्यक्त हुई हैं—

प्रीति लगाय जिन जाय रे साँवरिया, प्रीत लगाय जिन जाय रे।
प्रीतम को पतिया लिख पठाऊँ रुचि रुचि लिखी बनाय रे।
जाय बंचाओ नन्द नन्दन सो, जिवड़ा अति अकुलाय रे॥
प्रीति की रीति कठिन भई सजनी करवत अंग कटाय रे।
जब सुधि आवे स्याम सुंदर की, बिन पावक जरि जाय रे॥
मिलन मिलन तुम कह गये मोहन अब क्यों देर लगाय रे।
बीरां को तुम दरसन दीजौ, तब मोरे नैन सिराय रे॥

इस पद की स्वाभावोक्तियाँ तथा विरह की सरल अभिव्यंजना ध्यान देने योग्य है। सबसे पहले नारी सुलभ एकनिष्ठ भावना स्वाभाविक रूप में व्यक्त होती है। तुम्हारे तो बहुतेरी संग सखी हैं पर हमारे तो तुम्हीं एक हो। फिर हृदय की आकुलता पत्र में अंकित कर वह उनके पास अपने हृदय की वेदना तथा दाहक ज्वाला का आभास भेजना चाहती है। उस प्रीति में करवत की टीस है, बिना पावक ही जला देने की शक्ति है, आने की अवधि देकर भी कृष्ण नहीं आये हैं। उनके पथ पर बिछी हुई आँखें उनके दर्शनों से ही शीतल हो सकती हैं अन्यथा नहीं।

किसी कवि के काव्य के संक्षिप्त आभास मात्र से उसके व्यक्तित्व तथा साहित्य के विषय में निश्चित धारणायें बनाना यद्यपि अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता, परन्तु उनके उपलब्ध पदों के आधार पर उनके काव्य के विषय में कुछ-न-कुछ अनुमान तो लगाया ही जा सकता है।

इन पंक्तियों में स्वतः अनुभूत भावनाओं का व्यक्तीकरण है। सुगठित कला-सर्जन का तो इसमें अभाव अवश्य है, परन्तु विप्रलब्धा की अनुभूतियों के चित्रण की स्वाभाविकता में किसी प्रकार का संशय नहीं किया जा सकता। इन पंक्तियों में व्यक्त माधुर्य में किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के प्रभाव की छाप नहीं है, नारी सहज विवश भावनाओं की वैयक्तिक अभिव्यक्ति ही इसमें प्रधान है। करवत तथा पावक के माध्यम से विरह की विदग्धता के व्यक्तीकरण की परम्परा यद्यपि किसी नवीन उद्भावना तथा नूतन कल्पना का परिचायक नहीं है, परन्तु बीरां के इस पद में जैसी स्वाभाविकता से यह भावना व्यक्त हुई है, उसमें कला का सौष्ठव न होते हुए भी

अनुभूति की सच्चाई अवश्य है।

राजस्थान के अनेक कवियों ने ब्रजराज कृष्ण की उपासना में, उन्हीं के प्रिय प्रदेश ब्रज की भाषा ही अपनाई है। कृष्ण-काव्य की रचना का क्षेत्र यद्यपि राजस्थान यथेष्ट मात्रा में रहा है, परन्तु उस काव्य की भाषा प्रायः ब्रजभाषा ही रही है। राजस्थानी प्रभाव तथा पुट अवश्य मिलते हैं, पर भाषा का प्रधान रूप ब्रजभाषा है। बीरां ने भी अपन गीतों की माधुरी की सृष्टि माधुर्यप्रधान ब्रजभाषा द्वारा ही की है। इन मुक्तक पदों पर शैली अलंकार-विहीन सीधी, सरल परन्तु आकर्षक है। उनके इन साधारण पदों में उनके साधारण परन्तु भावुक व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है।

छत्र कुँवरि बाई—छत्र कुँवरि बाई कृष्ण के राठौर वंश की काव्य-परम्परा को स्थिर रखने वाली प्रतिभाशालिनी कवयित्री थीं। महारानी बांकावती, नागरीदास जी, बनीठनी जी तथा सुन्दरि बाई इसी वंश की थीं। छत्र कुँवरि बाई नागरीदास जी के पुत्र सरदारसिंह की पुत्री थीं। इनका विवाह सम्वत् १७३१ में कांठडे के गोपालसिंह जी खींची से हुआ था। विवाह में इनकी आयु लगभग सोलह वर्ष की तो अवश्य ही रही होगी, अतः इनका जन्म सं० १७१५ के लगभग माना जा सकता है। कहीं-कहीं यह भी कथन मिलता है कि वे राजा सरदारसिंह जी की रक्षिता थीं, परन्तु यह अनुमान अशुद्ध (मालूम होता) है; क्योंकि उनके ग्रंथ प्रेम विनोद में उनके पितृकुल के विषय में निश्चित निर्वेद मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि पति के साथ जीवन की लम्बी अवधि व्यतीत कर वे किसी कारणवश रूपनगर चली आई थीं। पितामह नागरीदास के ग्रंथों के अध्ययन तथा कृष्ण-भक्त परिवार में जन्म के कारण बालपन से ही उनके हृदय में कृष्ण-प्रेम का अंकुर फूट चुका था। यही अंकुर समय के साथ भक्ति भाव द्वारा प्रेरित काव्य के रूप में विकसित हुआ।

सलेमाबाद स्थित निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रति उनके परिवार की परम्परागत आस्था थी। सुन्दरि कुँवरि बाई भी पतिगृह के राजनीतिक विलोड़न के पश्चात् सलेमाबाद में ही जाकर कुछ दिन रही थीं। छत्र कुँवरि बाई ने भी अपनी प्रौढ़ावस्था में सलेमाबाद के निम्बार्क मत की दीक्षा ली। इनकी मृत्यु-तिथि पूर्ण निश्चित रूप से नहीं बताई जा सकती। उनके ग्रंथ प्रेम विनोद में, जिसकी रचना सम्वत् १७४५ में हुई थी, उनका परिचय इन शब्दों में मिलता है—

रूप नगर राजसी, निज सुत नागरिदास।
तिनके सुत सरदार सौ, हौं तनया मैं तास॥
छत्र कुँवरि मम नाम है, कहि को जग माँहिवे।
प्रिया सरन दासत्व से, हौं हित चूर सदाहि॥

सरन सलेमाबाद की, पाई तासु प्रताप।
आश्रय ह्वै जिन रहि सके, बरन्यो ध्यान सजाप ॥

प्रेम विनोद में राधा-कृष्ण के जीवन के अनेक विनोदपूर्ण हास-परिहासों का चित्रण है। उनका प्रेम हास-परिहास तथा प्रेमलीलाओं से आगे की प्रौढ़ता तथा गम्भीरता नहीं प्राप्त कर सका है। उसमें उन्माद है, मादकता है, मूर्छना का माधुर्य है, परन्तु समर्पण तथा परिष्कार का अभाव है, वासनायें आलम्बन की अपार्थिव संज्ञा के होते हुए भी पूर्ण मादक तथा अनियन्त्रित हैं, प्रेम का मानसिक पद उतना प्रधान नहीं है जितना शारीरिक। उनके प्रेम का आरम्भ रूप राग-जन्य आकर्षण से न होकर काम द्वारा स्पन्दित आकांक्षाओं से होता है।

साँझी सजाने के लिए सुमन एकत्रित करने के हेतु सब गोप-बालायें उद्यान में आई हुई हैं, सब अपनी किशोरी सुलभ उल्लास में मस्त साँझी के लिए फूल चुन रही हैं और—

ये दुहुँ बेबस अंग फिरत, निज गति मति मिस्रित।

वर्णन की स्थूलता के कारण इनके काव्य को भक्ति के अन्तर्गत रखते हुए भी संकोच होता है, उनकी राधा में रीतिकालीन नायिका के हाव-भाव, काम-चेष्टायें, संयोग के अनेक पक्ष चित्रित हैं, उनके काव्य में सुन्दरि कुँवरि बाई का-सा मार्दव नहीं, संयोग की अनेक दशाओं का वर्णन कलापूर्ण तथा सजीव है, तथा कृष्ण और राधा के नाम पर शृंगार-रचना करने वाले श्रेष्ठ कवियों से टक्कर रखने की क्षमता उनकी रचनाओं में है। प्रेम विनोद में से कुछ उद्धरण तथा उनकी व्याख्या इस कथन की पुष्टि करेंगे।

उनकी राधा परब्रह्म की सिद्ध शक्ति नहीं, एक मुग्धा नायिका है तथा उनके कृष्ण उस मुग्ध भावना को सम्बल-प्रदान करने वाले नायक। मुग्धा का चित्रण अनुपम है इसमें कोई सन्देह नहीं है—

गरवाहीं दीने कहूँ, इक टक लखन लुभाहि।
रहि रहि द्वै द्वै पगन पै, थकित खड़ी रहि जाहिं ॥
थकित खड़ी रहि जाहिं, दृगन दृग जुटै न छुटैं।
तन मन फूल अपार, दुहूँ फल लाह लूटैं ॥
नैनन नैनन सुलगन बैन सो नहिं बनि आवै।
उमड़न प्रेम समुद्र थाह तिहिं नाहिन पावै ॥

अपलक नेत्रों से देखती हुई, दो-दो पगों के अन्तर पर उल्लासजनित श्रम से थकी राधा का चित्र अनुपम है। विविध मुकुलित सुमनों के मध्य उनका तन तथा मन भी उल्लास से कुसुमित हो रहा है, जिसके फल इन शारीरिक प्रतिक्रियाओं के रूप

में लक्षित होते हैं। उन दोनों की पारस्परिक भावनाएँ प्रेम के आवेश से आलोड़ित हो वाणी द्वारा व्यक्त होने में असमर्थ हैं। नेत्र ही एक-दूसरे के हृदय की बात कह देते हैं।

यह मौग्ध्य विलास में परिवर्तित होता है, दोनों सुमन तोड़ने में ही अनेक चेष्टाओं द्वारा तृप्ति का साधन ढूँढ़ते हैं, भावनाओं की उलझन को सुलझाने में असमर्थ राधिका के वस्त्र भी द्रुम लताओं में उलझ जाते हैं। उस उलझन का सुलझाव जो रूप धारण करता है वह भक्ति से सम्बन्धित होते हुए भी स्थूल, परन्तु मधुर तथा सजीव है—

अरुझन में अरुझन नवल गुरुजन रण अपार।
ज्यों डारन सों डार त्यों उर हारन सो हार॥
उर हारन से हार अलक अलकन लपटानी।
नैन नैन बैनान सुगल की कथा कहानी॥
प्रेम सिंधु छिल ललचि लहरि इत अति सरसानी।
कुँवरि सकुचि सतराय झिझकि ठिग सखिन बुलानी॥

इसके उपरान्त प्रेम-कामना की पूर्ण अभिव्यक्ति चरम रूप धारण करती है। आस्थावानों को कृष्ण तथा राधा के इस रूप में चाहे जो दार्शनिक पृष्ठभूमि दृष्टिगोचर होती हो, परन्तु तार्किक और विश्लेषक इसे व्यक्तिगत भावनाओं के अपार्थिव आरोपण के अतिरिक्त और कुछ नहीं मान सकता। इन पंक्तियों में उनके रसिक, भावुक तथा स्वच्छन्द व्यक्तित्व की छाप है। रूपनगर की इन रानियों द्वारा रचित काव्य के सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समान वातावरण, परिस्थितियों तथा संस्कारों की उपस्थिति में भी व्यक्तित्व का प्रभाव काव्याभिव्यक्ति में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। निम्बार्क सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि पर आधृत रानी बांकावती तथा सुन्दरि कुँवरि के काव्य में प्रेमजन्य उल्लास का मार्दव है, नारी-हृदय की संयत भावनाएँ हैं, बनीठनी जी तथा छत्र कुँवरि बाई की रचनाओं में प्रेम का उन्माद तथा मादकता है।

कला की दृष्टि से इन रचनाओं पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। इनकी भक्ति में अनन्यता तथा निर्वेद का स्पर्श भी नहीं, शृंगार की मादकता है। एक-आध स्थलों पर केवल मान विप्रलम्भ भी मिलता है, परन्तु उसमें भी काम की दाहक ज्वाला है। वर्णनों की सजीवता तथा प्राणोपमता लेखिका की प्रचुर कल्पना-शक्ति की परिचायक हैं। शृंगार के संचारियों तथा अनुभावों का इतना सूक्ष्म विश्लेषण कामशास्त्र के विशेषज्ञ के लिए ही सम्भव हो सकता है। छत्र कुँवरि बाई में प्रेम की त्रिविध दशाओं के अन्तर्गत अनुभूतियों तथा चेष्टाओं में केवल कल्पना नहीं, सूक्ष्म

निरीक्षण तथा मनोवैज्ञानिक पुट भी है।

उनकी प्रांजल भाषा, अलंकृत तथा संगीतमयी शैली प्रशंसनीय है। सानुप्रासिक शैली उन्हें प्रिय है। अनुप्रासों की छटा द्वारा चित्र उपस्थित कर देना उनकी कला की सार्थकता है। उदाहरणार्थ—

जुरन धुरन पुनि दुरन मुरन लोचन अनियारे।
भवना गति उर मैन, वान लगि फूट दुसारे॥

उपमाओं के प्रयोग भी सुन्दर हैं। सुमन लताओं से पुष्प तोड़ती तन्वंगी राधा भी उन्हीं में लता बनकर मिल जाती है—

लेत सुमन बेलीन ते, मोतिन की-सी बेलि।

छत्र कुँवरि बाई कृष्ण पर अपनी भावनाएँ बिखरा देने वाली उन अनेक साधिकाओं में से हैं, जिन्होंने राधा तथा कृष्ण को मानव रूप देकर, उनकी क्रीड़ाओं द्वारा ही अपनी कुंठाओं की तृप्ति की। इन अभिव्यंजनाओं में उनके जीवन की अनुभूतियाँ व्यक्त हैं, अतः उनमें जीवन के लक्षण हैं। जीवन की स्पन्दित भावनाएँ, कल्पना के पुट तथा कला-चातुरी के सम्बल से सफल कलात्मक कृतियाँ बन गई हैं।

बीबी रत्न कुँवरि—रत्न कुँवरि जी के नाम का उल्लेख प्रायः समस्त खोज रिपोर्टों तथा अन्य स्थानों पर मिलता है। उनके विषय में उनके पौत्र श्री राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द द्वारा दिया हुआ उल्लेख, उनके जीवन पर एक दृष्टि डालने में बहुत सहायक है। इनका पितृगृह मुर्शिदाबाद में था। धनी-मानी घर में उनका जीवन लाड़-प्यार में बीता। पतिगृह में भी युवावस्था से वृद्धावस्था पर्यन्त वे अत्यन्त सुखी रहीं। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के ही शब्दों में उनका परिचय अधिक उपयुक्त रहेगा। वह लिखते हैं—

"वह संस्कृत में बड़ी पंडिता थीं, छहों शास्त्र की वेत्ता। फ़ारसी भाषा भी इतनी जानती थीं कि मौलाना रूम की मसनवी और दीवान शम्स तबरेज जब कभी हमारे पिता पढ़कर सुनाते तो उसका सम्पूर्ण आशय समझ लेती थीं। गाने-बजाने में अत्यन्त निपुण थीं। चिकित्सा यूनानी और हिन्दुस्तानी दोनों प्रकार की जानती थीं। योगाभ्यास में परिपक्व थीं। संयम, नियम और वृत्ति ऋषियों और मुनियों की-सी थी। सत्तर वर्ष की अवस्था में भी बाल काले थे तथा आँखों में ज्योति बालकों की-सी थी, वह हमारी दादी थीं। इससे हमको अब उनकी प्रशंसा अधिक लिखने में लाज आती है, परन्तु जो साधु, संत और पंडित लोग उस समय के उनके जानने वाले काशी में वर्तमान हैं, वे उनके गुणों को यथाविधि स्मरण करते हैं।

पितामही के प्रति पौत्र की इन श्रद्धापूर्ण उक्तियों में अतिशयोक्ति होना स्वाभाविक है, परन्तु इनके पीछे रत्न कुँवरि जी का वात्सल्यपूर्ण पुण्य व्यक्तित्व छिपा

हुआ दिखाई देता है। उन्होंने अपने जीवन का अन्तिम काल काशी में बिताया।

कृष्ण काव्य अधिकतर अपनी लीला प्रधानता के कारण मुक्तक स्फुट पदों में ही व्यक्त हुआ है। कृष्ण-जीवन की गम्भीरता की अपेक्षा उनकी लीलाप्रियता ही कवियों का विषय रही है। रत्न कुँवरि जी की रचना कृष्ण काव्य परम्परा में अपवाद है। लीलामय कृष्ण के विशाल जीवन की एक घटना के आधार पर उन्होंने प्रेम रत्न नामक खंडकाव्य लिखा। कृष्ण के किशोर रूप, बालरूप, विराट रूप को सम्पूर्ण अथवा खंडरूप में प्रबन्धात्मक रूप देने का प्रयास प्रायः नहीं किया गया। इस ग्रंथ में भागवत के दशम स्कन्ध के बयासीवें अध्याय का कथा के रूप में वर्णन है। इसमें कृष्ण के लीला प्रधान रूप का वर्णन प्रधान है। सम्पूर्ण कलाओं से युक्त कृष्ण की लीलाओं का एक अणु इस कथा का विषय है, पर कवयित्री की कला तथा विन्यास के द्वारा यह अपूर्ण नहीं रह जाता। द्वारिकावासी कृष्ण का राजनीति में उलझा हृदय व्रजवासियों के प्रेम की पुनः अनुभूति के लिए आकुल हो उठता है, उन्हीं दिनों सूर्य-ग्रहण पड़ता है। सूर्यग्रहण के अवसर पर इधर से द्वारिकाधीश कृष्ण अपनी सुसज्जित सेना, सुहृदजनों तथा द्वारिकावासियों को लेकर कुरुक्षेत्र-स्नान के लिए प्रयाण करते हैं, उधर से व्रजवासी अपने वियोग की ज्वाला में शीतलता के छींटे डालने का असफल प्रयास करने वहाँ आते हैं। एक ब्रजवासी कृष्ण के आने का समाचार ब्रजवासियों में फैला देता है, और अन्त में कृष्ण, नन्द, यशोदा तथा राधिका से मिलते हैं। अतीत की स्मृतियाँ सजीव हो, आँसू बनकर निकल पड़ती हैं, प्रेम के उल्लास में मुग्ध, नन्द, यशोदा, गोप-गोपियाँ, राधा और कृष्ण आँसुओं द्वारा अपने गद्गद् हृदय के प्रवाह को रोकते हैं।

कुरुक्षेत्र में छः मास वास करके, गोपियों के जीवन में फिर से उत्साह उत्पन्न कर, उनके जीवन की विह्वलता को सांत्वना द्वारा वरदान और आश्वासन में परिवर्तित कर, कृष्ण द्वारिका लौट आये, और ब्रजवासियों ने ब्रज की ओर प्रस्थान किया।

भागवत के दशम स्कन्ध की यही कथा उनके इस खंडकाव्य का विषय है। ग्रंथ के आरम्भ में परम पुरुष परमात्मा तथा गुरु-चरणों की वन्दना है। ऐसा प्रतीत होता है कि छंद और शैली के साथ ही उन्होंने विषय-निर्वाह की पद्धति में भी कृष्ण कवियों की अपेक्षा राम काव्य रचयिताओं का ही मार्ग अनुसरण किया है। प्रारम्भ में दिये हुए मंगलाचरण तथा वन्दना से इस बात की पुष्टि होती है। ग्रंथ का आरम्भ इस प्रकार होता है—

अविगत आनन्द कन्द परम पुरुष परमात्मा।
सुमिर सुपरमानन्द गावत कुछ हरि जस विमल॥

पुनि गुरु पद शिर नाय उर धर तिनके वचन वर ।
कृपा तिनहि की पाय प्रेम रतन भाखत रतन ।।

वन्दना द्वारा, आरम्भ की हुई कथा के विकास की ओर उन्मुख होने से पूर्व कृष्ण के अनेक अवतारों की गरिमा का वर्णन है। गज की मुक्ति, लाक्षागृह काण्ड, द्रौपदी-चीरहरण, अजामिल उद्धार, ध्रुव को वरदान, प्रह्लाद की रक्षा इत्यादि प्रसंगों द्वारा उनकी नैसर्गिकता का स्मरण दिलाने के पश्चात् कृष्ण की लीला की कहानी आरम्भ होती है। कहानी यद्यपि भागवत की ही है, परन्तु मौलिक कल्पनाओं तथा प्रासंगिक उद्भावनाओं के पुट से उसका रूप पूर्णतया मौलिक हो गया है। भागवत की कथा में कृष्ण तथा बलराम केवल औत्सुक्य के कारण कुरुक्षेत्र जाना चाहते हैं, पर प्रेमरत्न के कृष्ण एक पंथ द्वारा दो कार्यों की पूर्ति करते हैं।

प्रभु के मन यह रहहि सदाहीं। ब्रजवासिन सों भेट्यों नाहीं ।।
सब दिन दिनकर ग्रहण भयो जब। बहु नरनारि जात चले तब ।।
यह सुनि यदुनन्दन मनमानी। एक पंथ द्वै कारज ठानी ।।

वातावरण के निर्माण में भी वह सफल रही हैं, द्वारकावती से कुरुक्षेत्र को जाते हुए विशाल जनसमूह उनके शब्दों की तूली द्वारा गरिमापूर्ण चित्र बन जाते हैं—

बढ़्यो कटक अति परम् विशाला। चले संग अगणित भूपाला ।।
कारे करिवर गर्जन लागे। सावन घन जनु लखि अनुरागे ।।
अगणित तुरंग चले हिहिनावत। खच्चर बसह ऊँट आरावत ।।
अमित भीर मग परत न पायो। धूरि धुंध नभ मंडल छायो ।।

शताब्दियों पूर्व युग की कल्पना के साथ ऊँटों तथा खच्चरों का आया हुआ यह सामंजस्य यद्यपि नहीं बैठता, परन्तु युगान्तर के कारण आया हुआ यह असामंजस्य अक्षम्य नहीं है।

द्वारिकाधीश के साथी वर्ण-वर्ण के वितानों में इतने उल्लास से विहर रहे हैं कि यह डेरा नहीं उनका घर ही ज्ञात होता है, ऐसे वैभवपूर्ण वातावरण में—

गोप एक नट भेष कर, आयो बीच बजार।
तंह खरभर लश्कर पर्‌यो, सो असि रह्यो निहार।।
इक यादव हँसि के कह्यो, कहाँ तुम्हारो वास।
अति सुन्दर तन छबि बनी नाम करहु परकास ।।

और तब प्रत्युत्तर में प्रश्नकर्त्ता का नाम तथा पता पूछने पर जो उत्तर मिलता है उससे उस गोप पर क्या प्रभाव पड़ता है—द्वारका के नाम से ही उसकी सुप्त वेदना मुख पर पीड़ा बनकर व्याप्त हो जाती है। और भोला-भाला ब्रजवासी सहज असाधारण रूप में अपने बाल सहचर कृष्ण के विषय में प्रश्न करता है—

इक गोपाल संग मम जाई। बस्यो नृपति ह्वै सोइ पुर छाई।।
हम कहँ छाँडि भयो सो न्यारे। ताही बिनु सब भये दुखारे।।

वायु के साथ ही यह आनन्द समाचार ब्रजवासियों में फैल जाता है, तथा विभिन्न व्यक्तियों पर इसकी विभिन्न प्रतिक्रियायें होती हैं। यशोदा का मातृत्व, सब कुछ भूल, वात्सल्य से विह्वल हो जाता है। श्याम के कुरुक्षेत्र में आने का समाचार सुनते ही वह आनन्द से विक्षिप्त-सी हो जाती है—

सुनतहि यशुमति ह्वै गई बौरी। ता ग्वालहि पूछति उठि दौरी।।
आये श्याम सत्य कहु भैया ? मोहि दिखावहु तनक कन्हैया।।
निज लालन को कंठ लगाऊँ। दुसह विरह को ताप नसाऊँ।।
कह अब गहर करत बेकाजहि। भेंटहु वेगि सकल ब्रजराजहिं।।

यशोदा की यह उत्कंठा, यह तन्मयता स्थिति तथा समय की दूरी चीरकर पुत्र से मिलने को आकुल हो उठती है, परन्तु नन्द का पौरुष यथार्थ के कटु सत्य की आशंका नहीं भुला सकता, उनकी शंका इन उक्तियों में प्रकट हो जाती है—

..................अब हरि होहिं न ब्रज की नाहीं।
मणिन खचित बैठन सिंहासन। चँवर छत्र कर गहे खवासन।।
अतिहि भीर नृप वास न पावैं। द्वारहि ते बहु फिर फिरि जावैं।
छत्रपतिहि छरियन बिलगावत। तहँ हम सबकी कौन चलावत।।
छपन कोटि चहुँ छाँछि संगाते। क्यों माने धायन के नाते।।

अब कन्हैया वह कन्हैया नहीं है। अब वे द्वारकाधीश हैं। मणि-खचित सिंहासन पर आरूढ़ राजा कृष्ण के चारों ओर दासियाँ चँवर डुलाया करती हैं, बड़े-बड़े राजा उनके द्वार पर से लौट आते हैं, मार्ग में आये हुए राजा वेत्र लताओं से हटा दिये जाते हैं वहाँ हमें कौन पूछेगा ? आदर्श राजा की कल्पना में जहाँ सामाजिक प्रभाव के कारण बनी हुई यह धारणा व्याघात बनती है, वहाँ इन सीधी-सादी सरल उक्तियों में नन्द का सभीत ग्रामीण व्यक्तित्व साकार हो जाता है। कृष्ण अब उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर हैं, अब धाय के नाते वह कैसे मान लेंगे. कल्पना यहीं नहीं रुकती अपितु ऐश्वर्य और वैभव के बीच हमारे जीवन तथा वेशभूषा की साधारणता से उन्हें लज्जा आयेगी—

हम कहँ लखि हरि मनहिं लजैहैं।

परन्तु ये तर्कपूर्ण उक्तियाँ भावनाओं के प्रवाह में बह जाती हैं। सब उल्लास से भरे चिरकाल से वियुक्त प्रिय गोपाल से मिलने की तैयारी में लग जाते हैं, परन्तु राधा अपने चिर-अवसाद में यह आकस्मिक आशा की किरण देख किंकर्त्तव्यविमूढ़-सी खड़ी रह जाती है, विरह और मिलन के चिह्न उसके मुख पर स्पष्ट अंकित हो जाते हैं—

कबहुँ झुरावत विरहवश, पीत वरण ह्वै जाय।
कबहूँ व्यापत अरुणता, प्रेम मगन मुद छाय ॥

परन्तु इन सबका अन्त कृष्ण के सुखद मिलन में होता है, चिर-पिपासित अभिलाषाएँ कृष्ण-रूप की सुधा पान कर परितृप्ति का अनुभव करती हैं तथा अपनी पुरानी लीलाओं के स्मरण, आवृत्ति इत्यादि से गोपियों के हृदय में फिर उल्लास छा जाता है, अपने नैसर्गिक व्यक्तित्व तथा अलौकिक शक्ति के द्वारा वह गोपियों के उल्लास को शाश्वत बनाकर द्वारिका लौट जाते हैं तथा व्रजवासी पूर्ण प्रसन्न भाव से वृन्दावन चले जाते हैं।

खंडकाव्य की दृष्टि से ग्रंथ सफल है। प्रत्युत् यह कहना अनुचित न होगा कि कृष्ण काव्य के इतिहास की सर्वत्र व्याप्त पदात्मक शैली में प्रेम रत्न एक अपवाद है परम्परागत पद्यबद्ध काव्य-रचना का अनुकरण न कर एक ओर तो उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया, दूसरी ओर कृष्ण काव्य की लीला प्रधानता में एक नया प्रयोग किया।

उनकी भाषा संस्कृत गर्भित अवधी है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोगों की प्राँजलता तथा परिष्कृति से सिद्ध होता है कि वे संस्कृत की पूर्ण पंडिता थीं। उदाहरण के लिए—

अग जग सकल विश्वके स्वामी। सर्वमयी सब अन्तर्यामी ॥
प्रेम युक्त ब्रज जन मन ध्यायो। ताते प्रेम हृदय हरि छायो ॥

संस्कृत शब्दों की इनकी रचना में इतनी बहुलता है कि कहीं-कहीं क्रियापदों के अतिरिक्त अन्य सभी शब्द संस्कृत के ही प्रयुक्त हुए हैं। क्रियापद अधिकतर अवधी तथा ब्रजभाषा के और कहीं-कहीं खड़ीबोली के भी हैं। कुछ शब्द ठेठ अवधी के भी आ गये हैं जैसे अंकवार। अंकवार देना पूर्व में दो स्त्रियों के गले मिलने को कहते हैं। परन्तु ऐसे शब्द जिनका प्रयोग स्थानीय हो बहुत कम हैं। हाँ, एक बात आश्चर्य की यह है कि रत्न कुँवरि जी ने, फ़ारसी तथा उर्दू की पूर्ण ज्ञाता होने पर भी, इस रचना में कदाचित् ही एक आध उर्दू के शब्द का प्रयोग किया है। हाँ, अवधी की ग्रामीणता में संस्कृत की प्राँजलता ने भाषा को शक्तिशालिनी तथा अभिव्यक्ति के उपयुक्त सक्षम बना दिया है। अवधी की प्रबन्धात्मक काव्यों के चिर-परिचित दोहों तथा चौपाइयों का प्रयोग इन्होंने भी किया है। इन्होंने चौपाइयाँ नहीं बल्कि द्विपदियाँ लिखी हैं। मात्राओं की संख्या तो चौपाइयों की ही भाँति है, परन्तु चरण उनमें दो ही हैं, तुलसीदास की चौपाइयों की भाँति चार नहीं। छंदों के प्रयोग प्रायः सर्वत्र शुद्ध हैं।

रत्न कुँवरि बाई का नाम कृष्ण काव्य-परम्परा के नवीन प्रयोग तथा मौलिक

उद्भावनाएँ करने वाले कवियों के अन्तर्गत रखा जा सकता है, काव्य की दृष्टि से ग्रंथ अधिक सफल नहीं कहा जा सकता। यशोदा के उल्लास, गोपियों के माधुर्य और कृष्ण की लीलामयता में हृदय को स्पर्श करने की शक्ति तो है, पर भावना के उस चरमोत्कर्ष का अभाव है जो भाव को साधारणीकरण सिद्धान्त के अनुसार तन्मय तथा विभोर करदे, परन्तु इस परिसीमा के साथ काव्य के अन्य तत्त्वों का जो रूप इनके काव्यों में मिलता है, वह कृष्ण-साहित्य में एक पृथक अस्तित्व रखने का अधिकारी है।

चन्द्रसखी—नवयुग ग्रंथ कुटीर से प्रकाशित 'चन्द्रसखी रा भजन' चन्द्रसखी के भक्ति विषयक गीतों का संकलन है। चन्द्रसखी के समय, जीवन, रचनाकाल, मृत्यु इत्यादि के विषय में प्राप्त करने का कुछ भी साधन नहीं है। उनके भजनों को साहित्यिक काव्य की अपेक्षा लोकगीतों के अन्तर्गत रखना अधिक उपयुक्त होगा। श्री ठाकुर रामसिंह एम० ए० के सम्पादकत्व में, यह ग्रंथ बहुत आकर्षक रूप में प्रकाशित हुआ है। संग्रहकर्त्ता हैं—श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी एम० ए०, विशारद, डूंगर कालेज, बीकानेर।

संकलनकर्त्ता ने पदों के विषय के आधार पर उन्हें अनेक भागों में विभाजित कर अनेक शीर्षकों के अन्तर्गत रख दिया है। यह विभाजन इस प्रकार है—

१. विनय।

२. बालकृष्ण।

३. राधाकृष्ण।

४. मुरली माधुरी।

५. प्रेम माधुरी।

६. विरह वेदना।

७. उद्धव संवाद।

८. कर्म गीत।

समस्त विभागों के पदों में माधुर्य भावना प्रधान है, केवल बालकृष्ण शीर्षक में कृष्ण के बाल रूप तथा यशोदा का वात्सल्य अंकित है। शेष सब में माधुर्य की ही प्रधानता है। सरलता, स्पष्टता तथा भावपरता की दृष्टि से सभी समान हैं, अतः संकलन में से दो-चार पदों के उद्धरण द्वारा ही उनके भाव तथा विषय इत्यादि का परिचय पर्याप्त होगा।

इन पदों में याचना की अपेक्षा अनुराग अधिक है, कृष्ण के चारों ओर के वातावरण तथा उनकी प्रिय वस्तुओं के प्रति नायिका के हृदय में एक आकर्षण है। सारे संसार के उपहास को चरणों से ठुकराकर उसके हृदय की आकांक्षायें बिखर जाती हैं—

मन, वृन्दावन चाल बसो रे।
मान घटो चाहे लोग हँसो रे॥
बिन दीपक के भवन किसो रे, बिना पुत्र परिवार किसो रे ?
मन न मिले बासो मिलवो किसो रे, प्रीत करे फिर पडदो किसो रे ?
प्रीति के कारण कुटुम्ब तजो है, नन्द को छबीलो मेरे मन में बस्यो रे।
चंद्रसखी मोहन रंग रांची, ज्यूँ दीपक में तेल रस्यो रे॥

दीपक के बिना भवन तथा पुत्र के बिना परिवार के अस्तित्व की क्या सार्थकता ? मन की दूरी होने पर मिलन का क्या महत्त्व ? और प्रीति उत्पन्न हो जाने पर फिर परदा क्या ? संकोच क्या ? प्रदीप में सिंचित स्नेह जिस प्रकार उसके आलोक का निर्माण करता है, उसी प्रकार मोहन के रूप तथा स्नेह से सिंचित उनका जीवन दीप आलोकित हो रहा है। सरस अनुभूतियों का यह कोश कल्पना जगत् के स्वामी किसी कवि से घटकर नहीं है।

बालकृष्ण की लीलायें तथा बालक कृष्ण की चंचलता का भी सजीव वर्णन करने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। परन्तु इन गीतों में संगीत की ही प्रधानता है। काव्य में मौलिक कल्पनाओं का प्रायः अभाव ही है। वही दूध-दही न खाकर माखन खाने का हठी गोपाल तथा मटुकी गिराकर दही लूट लेने वाला नटवर कृष्ण उनके वात्सल्य का आलम्बन है। जिसकी संगीतात्मकता ही उनकी नवीनता है। जो मंडलियों में नृत्य तथा अभिनेताओं के लिए बहुत सहायक सिद्ध हो सकते हैं—

नंदलाल दही मोरो खागयो री।
लाख कही मोरी एक न मानी, मनचाही बात बना गयो री।
तोड़ फोड़ सब दही मटुकिया, बरजोरी कर धमकाय गयो री॥

एक आश्चर्य की बात यह भी है कि चन्द्रसखी के भजनों के अन्तर्गत कई भजन ऐसे भी हैं जिनका उल्लेख मीरा के भजन के रूप में मान्य आलोचकों ने किया है, उदाहरणार्थ—

छोड़ो लंगर मोरी बँहियाँ गहो ना।
जो तुम मोरी बँहियाँ गहत हो, नैणा मिलाय मोरे प्राण हरो ना॥
हम तो नारि पराये घर की, हमरे भरोसे गोपाल रहो ना।
वृन्दावन की कुंजगलिन में, रीत छाँड अनरीत करो ना॥

इसी प्रकार के अनेक पद थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ मीराबाई तथा चन्द्रसखी दोनों के संकलनों में मिलते हैं।

प्रकृति की ओर भी इनकी उपेक्षा नहीं है। स्वतन्त्र रूप से प्रकृति-वर्णन तो उस युग की ही उद्भावना नहीं थी, पर उद्दीपन रूप में उसके प्रयोगों का अभाव नहीं

है। विरह की रातों में, चाँदनी, सावन के सुहावनेपन में बोलते हुए पपीहा और कोयल की संवेदना की कल्पना तथा अनुभूति दोनों ही सुन्दर हैं—

कब को गयो म्हारी सुधि ना लयी,
चाँदणी-सी रात म्हारी वैरन भयी।
सावण मास सुहावना, बागां कोयलिया बोले।
पापी रे पपैया सो मेरो प्राण के छौले।
कोयल वचन सुहावणा, बोले अमृत बैण।
कहो काली कैसे भयी, किस विध राते नैण।
कृष्ण पधारे द्वारका, जब के बिछड़े मिले न।
कलप कलप कालो भयो, रोय रोय राते नैण।

एक ओर चाँदी की रात बैरिन बन रही है, दूसरी ओर पापी पपीहा अपने करुणा-भरे स्वरों से प्राणों में छिपी हुई वेदना को कुरेद रहा है। कोयल मानो सहानुभूति के स्वर में पूछ रही है, तुम इतनी काली कैसे हो गई ? तुम्हारे नेत्र आरक्त क्यों हैं ? और तब तड़पती हुई विरहिणी अपनी संवेदना सुनाती हुई कहती है—प्रिय के वियोग की ज्वाला ने मुझे जलाकर कोयला कर दिया है तथा रोते-रोते मेरे नेत्र लाल पड़ गये हैं। इन गीतों की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है। अलंकारों, छंदों तथा काव्य के दूसरे कृत्रिम परिधानों से रहित ये गीत ग्रामस्थली के स्वच्छन्द वातावरण में कृत्रिम अलंकारों तथा वेशभूषाओं से रहित उन्मुक्त विहरती हुई स्वच्छन्द ग्रामबाला के समान हैं।

इन गीतों में गायिका के हृदय के एक-एक तार झंकृत हो उठते हैं। कला की साधना के ध्येय से लोकगीतों का निर्माण नहीं होता, वहाँ तो भावनाएँ ही स्वतः प्रस्फुटित होकर कला बन जाती हैं। यदि कला की इस परिभाषा में कुछ सत्य है तो चन्द्रसखी के भजन भी उसमें स्थान प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार रखते हैं।

पजन कुँवरि—कृष्ण-चरित्र पर काव्य-रचना करने वाली स्त्रियों में पजन कुँवरि के नाम का उल्लेख आवश्यक है। पजन कुँवरि बुंदेलखण्ड की निवासिनी थीं, इनके विषय में और कुछ उल्लेख नहीं प्राप्त है। उनकी रची हुई एक बारहमासी मिलती है, जिसका उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में है। इसमें उस सन्देश का कलापूर्ण तथा मार्मिक वर्णन है जो कृष्ण ने उद्धव द्वारा गोपियों के पास भेजा था, इसमें पैंतालीस पद हैं।

सम्पूर्ण रचना प्राप्त न हो सकने के कारण इसके विषय में कुछ कहना यद्यपि कठिन है। परन्तु खोज रिपोर्टों में दिये हुए आरम्भ तथा अन्त के उद्धरणों द्वारा कुछ अनुमान करने का साधन अवश्य प्राप्त होता है। ग्रंथ का आरम्भ इस प्रकार होता है—

श्री गणेसाय नमः श्री सरसुती देवी नमः । श्री परम गुरवे नम्ह अथ बारहमासी लिख्यते ।

मधुप तुम बोलो तो भाई ।
चैत हूँ ब्रज फुटत पाती ऊधो हाथ दई ।
दीजो जाइ राधिका जू को ललतैं बोल सई ।।
आपनहु रथ तुरत मंगायो छत्र चौंर धारी ।
आपने ही आभूषण दीन्हें अपनी मुकुट छरी ।
कहौ जाइ सकल गोपिन से दोइ कर जोर इही ।
राधा से विनती बहु कहिये मेरी अरज सही ।।

कृष्ण में अनुरक्त उनकी भावनाएँ कृष्ण की महिमा गाने के लिए उत्सुक हैं, परन्तु उनकी जीवन-कथा की सूक्ष्मताओं से वे अपरिचित मालूम पड़ती हैं। भ्रमर गीत प्रसंग में उद्धव को मधुप कहकर सम्बोधित गोपिकाएँ करती हैं, कृष्ण नहीं। भ्रमर के रूप-साम्य तथा प्रकृति-साम्य के कारण वे उद्धव को प्रत्यक्ष अपशब्द न कहकर, भ्रमर पर आरोपण द्वारा अपने हृदय के गुब्बार निकालती हैं। परन्तु पजन कुँवरि ने कृष्ण द्वारा ही उद्धव को मधुप रूप में सम्बोधित कराके तद्विषयक अज्ञान का परिचय दिया है। अपने आभूषण, मुकुट तथा छड़ी देकर उनको विदा करने की कल्पना यद्यपि सुन्दर तथा मौलिक है, परन्तु गोपियों को हाथ जोड़कर संदेश भेजने तथा विनम्र निवेदन में उन्होंने कृष्ण के पौरुष में अपने नारीत्व का आरोपण कर दिया है।

ब्रज में जाकर उद्धव गोपियों ारा बारहमासी के रूप में उनकी विरह-व्यथा की कहानी सुनते हैं, रचना का यह अंश अप्राप्त है। अन्तिम अंश इस प्रकार है—

सेस सारदा पार न पावै हरि के चरित यही।
ब्रज वनितन की विरह विपत्ति यह ऊधो आन कही ।।
पजण कुँवरि की विनय जानि कर हैं ब्रज के बासी।
मत अनुसारि गाई मैं प्रभु की, या बारामासी ।। इति बारामासी सम्पूर्ण समाप्त।

इस पद्यांश में व्यक्त भाव तथा कला पर कुछ कहना व्यर्थ है, परन्तु उनके भाषा सम्बन्धी ज्ञान का रूप अनुमानित किया जा सकता है। यद्यपि उन्होंने संस्कृत शब्दों के प्रयोग की चेष्टा की है, परन्तु अधिकतर उनके विकसित रूप का ही प्रयोग कर पाई हैं, पदों में लय तथा प्रवाह का अभाव है, यहाँ तक कि अन्त्यनुप्रास के अनिवार्य प्रयोग का निर्वाह भी वह नहीं कर पाई हैं। रमापत, सरसुती चौंर, इत्यादि शब्द उनके भाषा के अल्प ज्ञान के परिचायक हैं। काव्य-दृष्टि से इस रचना का अधिक मूल्य नहीं है, परन्तु उसके अस्तित्व की उपेक्षा भी असम्भव है।

स्वर्ण लली—स्वर्ण लली कवि यादवेन्द्र की पत्नी थीं। इनके तथा इनके काव्य के अस्तित्व की गवेषणा का सम्पूर्ण श्रेय श्री हरिकृष्ण साहित्यरत्न को है जिनके उल्लेखों के आधार पर ब्रज बुली साहित्य के इतिहास में इनका नाम सम्मिलित किया गया है। उनकी एक कविता का कुछ अंश मूलरूप में तथा उसी कविता का पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद प्राप्त हुआ है। स्वर्ण लली की कवित्व शक्ति का अनुमान लगाने के लिए सम्पूर्ण कविता के अनुवाद को आधार बनाना उपयुक्त होगा। अंग्रेजी अनुवाद के हिन्दी रूपान्तर करने से यद्यपि भाषा तथा शैली की मौलिकता का बिलकुल आभास नहीं मिल सकता, परन्तु भाव तथा विषय के प्रतिपादन में कुछ-न-कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। उस कविता का हिन्दी गद्य रूपान्तर इस प्रकार है—

"सांध्य वेला में यमुना-तट पर नीप तरु के तले मैंने प्रिय के दर्शन किये, उनके रूप की दीप्ति तथा माधुर्य की गरिमा के आकर्षण से मेरे नेत्र तथा हृदय-पक्षी उन्हीं की ओर उड़ चले। उस सौन्दर्य-निधि के प्रभाव से उत्पन्न अचेतन मूर्च्छना में मैं खो गई। राका शशि को लज्जित करने वाले उनके मुख की शोभा तथा उनकी त्रिभंगी मुद्रा मेरे हृदय में बिंध गई है, और मस्तिष्क तन्मय-विभोर हो जड़ बन गया है, उस विभोरता में कटि के कलश यहीं गिर गये। गृह लौटने की सामर्थ्य मुझ में नहीं थी अतः वहीं अंधकारपूर्ण मार्ग में मैं भटकती रही, कि कर्त्तव्यविमूढ़ किसी प्रकार घर लौटी तो कलश न देखकर गृह के सदस्यों ने मेरी भर्त्सना की। गृह मेरे लिए वन बन गया है, मेरे हृदय में अशान्ति है। घोर वन में भयानक जन्तुओं का वास रहता है, पर इस गृह वन में गुरुजन ही मेरे लिए भयावह बन गये हैं। कृष्ण के बिना मेरा जीवन व्यर्थ है तथा स्पष्टोक्ति की मुझ में सामर्थ्य नहीं है।"

स्वर्ण लली की उत्कृष्ट कल्पना तथा चित्रण-शक्ति का अनुमान उनकी कविता के इस गद्य रूपान्तर से लगाया जा सकता है। चैतन्य की माधर्य भक्ति से वे पूर्ण प्रभावित हैं, प्रेमजन्य सूक्ष्म अन्तवृत्तियों, अनुभावों तथा प्रक्रियाओं का सुन्दर तथा सजीव चित्रण है। तन्मय, विह्वल और विभोर भावनाएँ चित्र बनकर नेत्रों में आ जाती हैं यही उनके काव्य की सफलता है।

कृष्ण का अपूर्व आकर्षण, उनके प्रति विमुग्ध तन्मयता, तन्मयताजन्य मूर्च्छना, तद्जन्य विह्वलता, सामाजिक प्रतिरोध इत्यादि प्रसंगों के सप्राण चित्र स्वर्ण लली के अन्तरंग का इतिहास तो बनते ही हैं, उनके काव्य का बाह्य रूप भी आकर्षक और सुन्दर है, अभिव्यंजना में अलंकारों की सज्जा का यद्यपि प्रयास नहीं है, पर माधुर्य भावना की अभिव्यंजना के प्रसाधनों में भी सहज सौन्दर्य है। श्रुति मधुर मैथिली भाषा उनकी कुशल अभिव्यंजना शक्ति से और भी सरस बन गई है, अनलंकृत सज्जारहित परिधान भी काव्य सौन्दर्य को व्यक्त करने में सफल रहा है, उनकी कविता के प्राप्त

अंश से उस माधुर्य का अनुमान किया जा सकता है—

आशा काले गेलाम यमुना रे कूले,
बधुरे हेरिलम नीप तरु मूले।

× × ×

तन्मय तथा विभोर भावना के पश्चात् निराशा की अभिव्यंजना में व्यक्त करुणा की सजीवता इन पंक्तियों में देखिये—

गेह हैला मोरा दुर्गम बन,
की करी सखी धरे न रहे मन।

× × ×

दुर्गम वन ते सब जन्तु रथे,
गेह वन मोर गुरु जन भये।
से कृष्ण बिन मोरा प्रान ना रथे,
फुकुर कहित अन्दर भये॥

भावों के सौन्दर्य, भाषा माधुरी तथा अभिव्यंजना की सजीवता में गीत के प्रवाह का अभाव खटकता है, यद्यपि पदात्मक शैली में छन्दों के विशेष नियमों का पालन अनिवार्य नहीं होता, परन्तु गेयात्मकता के लिए एक लय अनिवार्य होती है, स्वर्ण लली के उत्कृष्ट काव्य में लय का अभाव एकमात्र दोष बनकर ध्यान में आ जाता है।

कृष्णावती—इनका नाम मिश्रबन्धुओं द्वारा सम्पादित खोज रिपोर्ट में मिलता है। इनका रचनाकाल अज्ञात है, पर हस्तलिखित प्रति की प्राचीनता से यह सम्वत् १६०० से पूर्व की रचना मालूम होती है। इनकी रचना का नाम है 'विवाह विलास' इसमें राधा-कृष्ण के विवाहोत्सव की शोभा का वर्णन है। ऐसा अनुमान होता है कि ये राधावल्लभ सम्प्रदाय की अनुयायिनी थीं, क्योंकि सदैव कृष्ण तथा राधा की तुलना में उन्होंने राधा की श्रेष्ठता ही प्रतिपादित की है, इस शंका के साथ दूसरी शंका भी आरम्भ होती है कि यदि ये राधावल्लभ सम्प्रदाय की थीं तो स्त्री थीं अथवा पुरुष, क्यों- उस सम्प्रदाय के अनुयायी अपना उपनाम स्त्रियों का रख लेते थे। अतः मिश्रबन्धुओं ने भी यह शंका उठाई है, परन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों के उपनाम में वती का नहीं सखी का प्रयोग अधिक प्रचलित था। इसके अतिरिक्त राधावल्लभ सम्प्रदाय की अनुयायिनी कई स्त्रियों ने काव्य-रचना की है, इस तथ्य पर ध्यान देने से उनके पुरुष होने की शंका कम पड़ जाती है।

विवाह विलास के जो पद प्राप्त हो सके हैं उन्हीं के आधार पर उनके काव्य की विवेचना सम्भव है। युगल दम्पति की लीला-वर्णन उनके काव्य का विषय है, राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व कृष्ण से अधिक है। कृष्णांवती इस तथ्य के

प्रतिपादन के लिए पूर्ण सचेष्ट रही हैं, यहाँ तक कि इसके निर्वाह के लिए उन्होंने परम्परागत रीतियों तथा संस्कार-विधियों में भी विपर्यय कर दिया है। हिन्दुओं में विवाह संदेश का नारियल कन्या की ओर से वर के घर भेजा जाता है, इस प्राचीन परिपाटी की वास्तविकता की उपेक्षा कर कृष्णवती ने यशोदा की इच्छानुसार यह सन्देश बरसाने भिजवाया है। यशोदा की भेजी हुई संदेशवाहिका के शब्दों तथा राधिका की माँ के उल्लासयुक्त विनोद में, राधा की श्रेष्ठता बड़े कौशल से सरस शैली में प्रतिपादित है—

जसुमति सों पठई ब्रज नारि चली वृषभान तिया पै आई।
तिहारी सुता भई ब्याहन जोग करी विनती और बात जनाई॥
धरै वर दोउ नंद के हैं करौ बलि होई सलोनी सगाई।
नहीं री नहीं बलि हौं न करौं मेरी फूल-सी राधे वे कारे कन्हाई॥

सुन्दर तथा गुणवती कन्या की माता की यह सजीव गर्वोक्ति उपयुक्त ही है।

कृष्ण के वर रूप, बारात की हलचल, नारियों के उल्लास तथा उनकी उन्मुक्त भावनाओं का यह चित्र देखिये—

अँखियाँ भईं मोरी चकोरी तहाँ सो तो गोरी परीं सब प्रेम के फन्दा।
बारात बनी चहुँ ओरन छत्र सुमोहन मित्र है आनन्द कन्दा॥
सबै गारी गावैं बृज नारि तहाँ कृष्णवती के मन होत अनन्दा।
अरी देख्यो है राधा जी को दूलह भटू, मानों पूरनमासी को पूरन चन्दा॥

ग्रंथ का अन्त नवविवाहित राधिका के रूप-वर्णन तथा विवाह-जनित उल्लास के वातावरण चित्रण से होता है। विदा के पूर्व वृषभान के गृह का आँगन बरसाने की स्त्रियों से भरा हुआ है, तथा राधा के गुण तथा रूप की प्रशस्ति से समस्त वातावरण मुखरित हो रहा है—

बैठी हैं भामिनि भान के आँगन दामिनि सों गुनरूप की खानी।
कीरति लाड़ लड़ावन है बेटी राधिका कौं सुष सिंधु सुहानी॥
बरसे बरसाने स्नेह सुधा निसि बासर जात कितै नहिं जानी।
परसि प्रिया जी के चरणन कूँ बलि कृष्णवति जब गाई कहानी॥

विवाह सम्पादन यद्यपि लौकिक है, परन्तु कृष्णवती राधिका के व्यक्तित्व की अलौकिक भावना के प्रति सतत जागरूक रही हैं। उनकी काव्य-प्रतिभा साधारण कोटि की है। विषय के प्रतिपादन में नारी-दृष्टिकोण, स्पष्ट लक्षित होता है। विवाह के उन्हीं अंशों को प्रधानता दी गई है जिनके प्रति नारी के स्वभाव में सहज उत्सुकता होती है। उनकी भाषा सरल ब्रजभाषा है जिनके माधुर्य का निर्वाह इन्होंने भलीभाँति किया है। तत्सम शब्दों के प्रयोग का अनुपात समान है। भाषा विषय के अनुरूप

मधुर तथा प्रवाहयुक्त है। सरल, अनलंकृत भाषा के माध्यम से भी जिस सजीवता की सृष्टि उन्होंने की है वह प्रशंसनीय है। नारी के व्यवहारों तथा उनकी अनुभूतियों का चित्रण दे सकने में वे पूर्ण समर्थ रही हैं। अपनी भावनाओं को संगीतबद्ध करने में उन्होंने सवैया छंद का प्रयोग किया है, मात्राओं की संख्या की न्यूनता अथवा वृद्धि के कारण कई स्थलों पर छंद-भंग दोष आ गया है। प्रवाह के लय को स्थिर करने के लिए दीर्घ को ह्रस्व तथा ह्रस्व को दीर्घ स्वरों में पढ़ने की आवश्यकता पड़ती है। अलंकारों का प्रयोग न तो भावों की अभिव्यक्ति में सादृश्यमूलक रूप में हुआ है और न भाषा के सौन्दर्य-निर्माण के प्रसाधन शब्दालंकारों के रूप में। अनलंकृत चित्रों के साधारण रूप द्वारा ध्वनित सजीवता का सृजन ही उनके काव्य की सफलता है।

माधवी—माधवी मिथिला की कवयित्री थीं, उनके जीवन-काल के विषय में कुछ सन्देह है। कुछ विद्वानों के अनुसार वे चैतन्य देव के समय में विद्यमान थीं। उनके एक पद में चैतन्य देव के दर्शन न कर सकने की व्यथा का वर्णन है—

ये देखिय गोरा मुख प्रेमे भासित।
माधवी वंचित भैल निज कर्म दोषे॥

इस उल्लेख से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि वे चैतन्य देव के समय में थीं तथा स्त्री होने के कारण चैतन्य देव के दर्शन से उन्हें वंचित होना पड़ा था, परन्तु इस मत के खंडनकर्त्ता अन्य इतिहासकारों के अनुसार, इस पंक्ति का यह अर्थ भ्रामक है। चैतन्य देव संन्यासी होने के कारण स्त्रियों को देखने तथा उनके निकट सम्पर्क में नहीं आते थे, परन्तु किसी स्त्री को उनके दर्शन से वंचित रहने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। उनके अनुसार इस पंक्ति में व्यक्त माधवी की वंचित पीड़ा का कारण चैतन्य के बाद जन्म लेना है। अर्थात् माधवी का जन्म चैतन्य देव के शरीर-त्याग के उपरान्त हुआ, अतः ये उनके दर्शन से वंचित रहीं।

समय के विषय में इस मतभेद के अतिरिक्त उनके नारी होने के विषय में मतभेद है। उनके काव्य में कुछ स्थलों पर उनके नाम के साथ दास का प्रयोग मिलता है, यह शंका सकारण है। दासी के बदले दास शब्द के प्रयोग का कोई सन्तोषजनक कारण नहीं दिखाई देता, इस प्रश्न का उत्तर उनको स्त्री मानने वाले इस प्रकार देते हैं कि माधवी बड़ी पंडिता तथा विदुषी थीं। अतः जनता उनका आदर एक पुरुष के बराबर ही करती थी। परन्तु इस उत्तर से शंका का समाधान नहीं होता।

काल सम्बन्धी मतभेद में उनके चैतन्य देव की मृत्यु के पश्चात् उनके जन्म का अनुमान अधिक ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। पूर्वकालीन महापुरुष के दर्शन की अभिलाषा उतनी तीव्र नहीं होती जितनी समकालीन की। चैतन्य देव के दर्शन न कर सकने की निराशा उनके समकालीनत्व के ही अधिक निकट आती है। इसके अतिरिक्त

स्त्री होने के कारण दर्शन से वंचित होने की बात असम्भव नहीं जान पड़ती।

रही उनके पुरुष होने की सम्भावना, उसमें भी सन्देह के कारण हैं। सर्वप्रथम, उनकी रचनाओं में माधवी तथा माधवी दासि दोनों का प्रयोग मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि लिपि इत्यादि की भ्रान्ति के कारण दासि का दास रूप बन गया है। स्त्री के नाम में पुरुष के नाम का आभास उतना असम्भव नहीं है क्योंकि पुरुषत्व का आभास अपमान नहीं समझा जाता, परन्तु पुरुष के अहं को नारी का आरोपण असाध्य है, अतः केवल माधवी नाम से जो रचनायें मिलती हैं, वे तो निर्विवाद स्त्री द्वारा रचित हैं।

माधवी के काव्य में माधुर्य भावना प्रधान है। वे मिथिला की रहने वाली थीं, मैथिल कोकिल विद्यापति तथा चैतन्य देव का प्रभाव उनके ऊपर पड़ना स्वाभाविक था, माधवी की कविता के उदाहरण रूप में यह कविता प्रस्तुत की जा सकती है—

राधा माधव विलसहि कुँज का माँझ,
तनु तनु सरस परस रस पीबइ।
कमलिनी मधुकर राज॥

× × ×

सचकित नागर कापइ थर थर,
शिथिल होयला सब अंग।
गदगद कंठ राध भेले अदरस,
कब होयब तुझ संग॥
सो धनि चंद मुख नैन किये हेरवै,
सुनबै अमियमय बोल।
इह माँझे हिरदै ताप किये मेटब,
सोइ करब किये कोल॥
आइसन कलहु विलपति माधव,
सहचरि दूरहि हँसी।
अप रूप प्रेम विषादित अन्तर,
कह ताहि माधवी दासी॥

—राधा तथा माधव कुँज में क्रीड़ा कर रहे हैं, मानों भ्रमर कमलिनी के स्निग्ध रूप के स्पर्श का रस-पान कर रहा है। अचानक कृष्ण सचकित होकर थर-थर काँपने लगते हैं, सब अंग शिथिल पड़ जाते हैं, गद्‌गद् स्वर में राधा के अन्तर्धान होने पर कहने लगते हैं? फिर कब उससे मिलन होगा? कब मैं उसके चन्द्रमुख का दर्शन तथा उसकी मधुर वाणी का श्रवण करूँगा? कब उसके आलिंगन-पाश का सुख प्राप्त होगा?

माधव इस प्रकार से विलाप कर रहे हैं तथा राधिका दूर खड़ी उनकी व्यथा का आनन्द लेता हँस रही है।

राधा-कृष्ण की दम्पति लीला के इस वर्णन में चैतन्य देव का प्रभाव स्पष्ट है। माधुर्य भावना में यद्यपि आलम्बन की अपार्थिवता के होते हुए भी लौकिकता का पुट है, परन्तु उनकी विह्वलता में काम की ज्वाला नहीं भावना की तीव्रता है। भावनाएँ यद्यपि साधना की कसौटी पर चढ़कर कुन्दन नहीं बन सकी हैं, उसमें अतीन्द्रिय भावना की संस्कृति तथा परिशोधन नहीं है, परन्तु उनमें वासना का मालिन्य भी नहीं है।

उनकी भाषा मैथिली है। तत्सम शब्दों के साथ संस्कृत शब्दों के विकसित मैथिली रूप का प्रयोग बहुलता से है। माधुर्य भावना के अनुरूप ही शब्दों के प्रयोग उसकी माधुरी को द्विगुणित कर देते हैं। गीत में संगीत का प्रवाह अजस्र नहीं है, विभिन्न पंक्तियों में मात्राओं की संख्या की विषमता के कारण लय में गति-दोष आ गया है। इन त्रुटियों की विद्यमानता में भी उनके काव्य में व्यक्त माधुर्य मैथिली साहित्य में नारी के सफल तथा महत्त्वपूर्ण योग के द्योतक हैं।

छठा अध्याय

राम काव्य की लेखिकाएँ

राम काव्य और नारी—भारत के नारी-लोक में राम काव्य के प्रतिनिधि ग्रंथ रामचरितमानस की लोकप्रियता के साथ, स्त्रियों द्वारा राम काव्य रचना के अभाव का सामंजस्य कठिन मालूम होता है। इस तथ्य का मूल कारण इस विशिष्ट काव्य-धारा के प्रति नारी की वैयक्तिक भावनाओं के तादात्म्य का अभाव ही जान पड़ता है। राम का असाधारण मर्यादापुरुषोत्तम रूप, जीवन के प्रति उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण, उनके नर रूप में नारायणत्व का आरोप, राम भक्ति के ऐसे अंग थे, जिनके प्रति श्रद्धा से नतमस्तक हुआ जा सकता था, परन्तु उनके साथ समत्व की भावना नितान्त असंभव थी। मानवी भावनाओं के माध्यम से कृष्ण काव्य की रचना तो सरल थी, परन्तु राम के गम्भीर व्यक्तित्व के प्रति साधनापरक अनुभूति की गहनता नारी की अभिव्यक्ति-क्षमता के परे थी। राम के प्रति भक्ति में नारी-हृदय के तत्त्वों का समावेश नहीं था। उनका साधारण व्यक्तित्व राम को, श्रेष्ठ पुरुष तथा आदर्श मानव से अधिक भगवान् के अवतार रूप में पहचानता था। राम का अति प्राकृत रूप, उनकी भावनाओं में अवतार पुरुष का था। उनके प्रति श्रद्धा से झुककर उनके द्वारा स्थापित आदर्शों को अपने जीवन में ग्रहण करने को वे तत्पर हो गईं। उनके महान् व्यक्तित्व के समक्ष अत्यन्त दीन भाव से उन्होंने पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया, परन्तु यह समर्पण महामानव के प्रति तुच्छ का था, विराट के प्रति अणु का था।

कृष्ण काव्य के आलम्बन के मधुर मानव व्यक्तित्व में उनका अति प्राकृत अंश गौण पड़ गया था। अलौकिक सत्ता के प्रति भावनाओं के आरोपण में मानव-हृदय अपनी स्वाभाविक गति से विकास की ओर उन्मुख होता था, परन्तु राम के प्रति आस्था का आरम्भ ही उनके नारायणत्व से होता था, इसलिए नारी-हृदय में पूर्ण स्थान पाकर भी राम उनके जीवन के समभागी न बनकर एक नैसर्गिक महिमामय व्यक्तित्व बन गये। कृष्ण नारी के माधुर्य तथा वात्सल्य के आलम्बन बने, परन्तु राम बालक होने के पूर्व भगवान् थे, युवा होने के पूर्व ब्रह्मचारी और एक पत्नीव्रत थे, वे नारी-जीवन के नैतिक सम्बल बन सकते थे, उनके आदर्शों की प्रेरणा उनके कर्त्तव्यों का स्मरण दिला सकती थी, पर उनके अलौकिक आलोक के समक्ष अपनी दुर्बलताएँ खोल-कर रख देने का साहस वह नहीं कर सकती थीं।

काव्य-रचना की प्रेरणा देने वाली भक्ति के लिए भगवान् विषयक बौद्धिक

पृष्ठभूमि की अपेक्षा हृदय तत्त्व की प्रधानता होती है। अनन्य भक्ति की जिस चरमानुभूति में राम काव्य की रचना सम्भव हो सकती थी नारी-हृदय उससे अभिभूत तो हो सकता था, पर उनकी साधारण प्रतिभा में रामचरित के गाम्भीर्य तथा राम काव्य के उच्च मानसिक स्तर को व्यक्त करने की क्षमता न थी। काव्य-रचना के लिए आलम्बन के प्रति जिस भावात्मक सामंजस्य की आवश्यकता होती है, नारी-हृदय की प्राकृतिक रागात्मकता तथा परिस्थितिजन्य संस्कारों में राम की गरिमा के प्रति वह सामंजस्य उत्पन्न करने की क्षमता नहीं थी।

राम के रूप के इस गाम्भीर्य के अतिरिक्त उनके अगाध जीवन-सागर की उत्ताल तरंगों को देखकर मध्यकालीन नारी-हृदय आश्चर्यचकित हो सकता था, निसर्ग की दैवी शक्ति के प्रति स्त्रियाँ कुतूहलपूर्ण आश्चर्य और श्रद्धा की भावनाएँ बना सकती थीं, पर राम के सर्वांगपूर्ण जीवन को अपने काव्य का विषय बनाना एक तो उनकी क्षमता के परे था और दूसरे अपनी परिसीमित भावनाओं में राम के जीवन की असीमता का सामंजस्य उनके लिए कठिन था। राम की कहानी भावनाओं पर कर्त्तव्य के विजय की कहानी थी, कहानी के प्रायः सभी पात्रों के जीवन का मार्ग-निर्देशन कर्त्तव्य की कुतुबनुमा द्वारा होता है। लक्ष्मण, भरत, सीता, दशरथ और अन्य सभी पात्र जीवन के संघर्ष की विजय कर्त्तव्य-पालन की कसौटी पर आँकते हैं। तत्कालीन नारी-समाज कर्त्तव्य की वेदी पर अपने अस्तित्व को मिटा चुका था, उनके कर्त्तव्यों में भावना की प्रेरणा नहीं थी। यज्ञ में हवन के लिए बलिदान होते हुए पशु तथा पिंजरे में बंद पक्षी की भाँति उनका जीवन पुरुषों के सुख तथा मनोरंजन के लिए ही शेष था। जीवन की यह कटुताएँ कर्त्तव्य के नाम पर उसे प्रिय थीं, उसे भावनाओं की चाह थी, उसका मानसिक पक्ष कुंठित था जिसे रागात्मक अपार्थिव आलम्बन ही मिटा सकता था। राम की कर्त्तव्यशीलता उसे आत्मगौरव दे सकती थी, परन्तु जीवन के वे उद्दीप्त क्षण नहीं दे सकती थी जिसमें वह अपने हृदय के रिक्त अंश की पूर्त्ति काव्य तथा कल्पना द्वारा कर सकें।

राम काव्यधारा के प्रतिनिधि ग्रंथ रामचरितमानस के पात्र भावनाओं के प्रतीक नहीं आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते थे। राम के चरित्र में मनुष्यत्व, दशरथ के चरित्र में पितृत्व, कौशल्या के चरित्र में मातृत्व तथा सीता के चरित्र में नारीत्व के आदर्शों की स्थापना थी। आदर्शों की परिपुष्टि में मानव-हृदय की पृष्ठभूमि के कारण ही तुलसीदास के आदर्श उपदेश बनकर नहीं रह गये थे।

रामायण के पात्रों के चरित्र में आदर्श की रक्षा के लिए संघर्ष का तादात्म्य जीवन के तन्तुओं के साथ इस प्रकार स्वाभाविक रूप से किया गया था कि आदर्श उनके जीवन में आरोपित नहीं प्रत्युत स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित ज्ञात होता था।

राम काव्य के गाम्भीर्य का रहस्य रागात्मक वृत्तियों तथा सामाजिक और नैतिक आदर्शों के इस समन्वय में निहित है। मध्यकालीन नारी की कुंठित प्रतिभा में इस गाम्भीर्य के निर्वाह की क्षमता नहीं थी, रागात्मक भावों की अभिव्यक्ति तो सरल थी, परन्तु आदर्शों के बंधन में बाँधकर उनकी रागात्मकता का निर्वाह करना कठिन था। कृष्ण काव्य की अपेक्षा राम काव्य रचना में स्त्रियों के योग की कमी का यह भी एक कारण था। सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न कुंठाओं के कारण उनके जीवन में सुख तथा संतोष का आधार अधिकांशतः कर्त्तव्य-पालन रह गया था। नारीत्व की परिभाषा में कर्त्तव्य की आवश्यक अनुपात से अधिक मात्रा ने उनके चरित्र के भावात्मक पक्ष को गौण बना दिया था। काव्य भावाभिव्यक्ति का माध्यम है, विशेषकर ऐसी स्थिति में जब जीवन कर्त्तव्य का ही पर्याय बन गया हो कल्पना तथा कला मानसिक अभाव की पूर्ति करती हैं। राम काव्य की आत्मा का स्तर साधारण नारी-हृदय की क्षमता से उच्च था, अतः काव्य के स्तर पर उनका एकीकरण नहीं हो सका।

रामायण के नारी पात्रों का मानसिक स्तर भी साधारण नारी से बहुत ऊँचा था। पति में अंधविश्वास, पति-सेवा तथा कर्त्तव्य के नाम पर दमन तथा अत्याचार-सहन यद्यपि उसका धर्म घोषित कर दिया गया था, और उस धर्म को स्वर्ग-प्राप्ति के लोभ से नारी ने प्रसन्नतापूर्वक अपनाया भी था, परन्तु दमन की प्रतिक्रिया कुंठा में अवश्यम्भावी है। सीता का असाधारण व्यक्तित्व, नारी के समर्पण के समक्ष पुरुष के अत्याचार, नारी के मानसिक बल के समक्ष पुरुष के शारीरिक बल की पराजय की घोषणा कर पृथ्वी में लय हो गया, परन्तु मध्यकालीन नारी की मुक्ति पृथ्वी-प्रवेश द्वारा भी सम्भव नहीं थी। ऐसी अवस्था में उनकी असमर्थता के स्थान पर सीता की सामर्थ्य ने उनके अलौकिक चरित्र का प्रभाव तो उसके ऊपर डाला, पर सीता के चरित्र में वे अपने जीवन की छाया, अपनी समस्याओं का समाधान, न प्राप्त कर सकीं।

मध्यकाल की प्रोषितपतिकाएँ तथा प्रवत्स्यपतिकाएँ, पति के प्रवास-काल में साथ रहने का स्वप्न भी नहीं देख सकती थीं। सीता के प्रति अन्याय कर्त्तव्य के नाम पर हुए थे, परन्तु मध्यकालीन पीड़ित नारीत्व के मूल में पुरुष की लोलुप जीवनदृष्टि थी। सीता की भावना की कुंठा का एक समाधान था—राम का प्रेम। पर उस युग की नारी जीवन की अनेक उपभोग सामग्रियों में से एक थी। इसी प्रकार कौशल्या तथा सुमित्रा के मातृत्व के उल्लास का बड़ा कारण उनके पुत्रों की कर्त्तव्यशीलता तथा मातृप्रेम था। उस युग की नारी वात्सल्य की अनुभूति तो कर सकती थी, राम तथा उनके भाइयों के बाल रूप में, उसकी मातृ भावनाएँ तो तुष्ट हो सकती थीं,

परन्तु राम के पुत्र रूप की कल्पना अपने पुत्र में न पाकर, मातृ अधिकार की भावना में सदैव ही उसे अभाव ही का वरदान मिलता था। तुलसी की कल्पना की पुत्र-भावना तथा स्वार्थ पर अंकुरित और विकसित मानवता के असंतुलित रूप के अनुसार नारी के मातृरूप में भी पुत्र की आधीनता की स्वीकृति में अन्तर था। इस प्रकार प्राचीन तथा मध्यकालीन नारी-जीवन के सामाजिक स्तर का असामंजस्य भी उस युग की नारी-भावना में राम के प्रति काव्योचित भाव सामंजस्य उत्पन्न नहीं कर सका।

राम के आदर्शपूर्ण जीवन का पूर्णांग ही अधिकतर कवियों का वर्ण्य-विषय रहा है। राम की लीलाओं के वर्णन का अभाव तो नहीं है, परन्तु उन पर लिखे हुए प्रबन्ध काव्यों की गरिमा के समक्ष ये स्फुट पद प्रायः गौण पड़ जाते हैं। राम के चरित्र की विशालता की अभिव्यक्ति के लिए प्रबन्धात्मक शैली ही अधिक उपयुक्त थी। उनके जीवन के आदर्शों का क्रम-निर्वाह साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टियों से प्रबन्ध काव्य की क्रमबद्ध तथा घटनाबद्ध शैली में ही अधिक उपयुक्त था। काव्य शास्त्र तथा साहित्य शास्त्र के साधारण ज्ञान से अनभिज्ञ मध्यकालीन नारी मात्राओं तथा वर्णों की संख्या की उपेक्षा कर संगीत के लय के अनुसार गुनगुनाकर मनमाने गीतों की रचना कर सकती थी, पर दोहे, चौपाइयाँ, सोरठा तथा छंद की रचना अपेक्षाकृत कठिन थी। तुलसीदास की चौपाई तथा दोहों की लय तथा संगीत उनके जीवन में समा गई थी, पर वे स्वयं उनकी रचना करने की अधिक क्षमता नहीं रखती थीं।

नारी द्वारा प्रबन्ध काव्य-रचना का अपवाद प्राचीन काल की नारी की अचेतनावस्था के साहित्य से लेकर वर्तमान युग की जाग्रति तक नहीं मिलता। काव्य की रचना स्त्री ने आत्माभिव्यक्ति के लिए ही अधिक की है, अतः कहानी इत्यादि कहने के लिए उसने काव्य-रचना नहीं की। प्रबन्ध काव्य के विषय का निर्वाह, क्रम का तारतम्य, चरित्र-चित्रण का निर्वाह तथा सबसे बढ़कर उसकी गंभीरता में मिले हुए राग का निर्वाह उसकी क्षमता के परे था, अतः राम की विस्तृत कहानी में काव्य का आरोपण करने की उसने चेष्टा ही नहीं की। राम की जीवन-गाथा की रचना के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का अनुभव दृष्टा तथा मनोवैज्ञानिक के दृष्टिकोण से आवश्यक था। राम के जीवन-तत्त्व में मिले हुए अति प्राकृत गुण, उनकी बाल कुशाग्रता, राजनीतिक प्रज्ञा, पूर्ण विकसित मानवता, पूर्ण पुरुषत्व इत्यादि का अंकन नारी की लेखनी शक्ति के परे था। राम का ही चरित्र नहीं अन्य पात्रों के चरित्र का पूर्ण निर्वाह करना भी उनकी क्षमता में नहीं था। प्रबन्ध काव्य की रचना में जिस निबन्धन-शक्ति की आवश्यकता होती है, वह उनमें नहीं थी। राम काव्य के अन्तर्गत आने वाले अनेक पात्रों के चरित्र में संघर्ष है, शारीरिक संघर्ष ही नहीं अन्तर्द्वन्द्वों का भी बाहुल्य है। मनो-

भावों के संघर्ष को मनोवैज्ञानिक तथा द्रष्टा की दृष्टि से देखने की सामर्थ्य उस युग की नारी में कहाँ थी ? जीवन के पग-पग पर संघर्ष, तद्जन्य अनुभूतियाँ, अनुभूतियों का कर्त्तव्य के साथ सामंजस्य, नारी की परिसीमायें कैसे कर सकती थीं।

चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त प्रबन्ध काव्य के लिए अनिवार्य दूसरे तत्त्वों के निर्वाह की भी उनमें सामर्थ्य नहीं थी। जीवन के बहुमुखी चित्र, युद्ध-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, षटऋतु, बारहमासा, छंद सम्बन्धी विशेष नियम इत्यादि ऐसी वस्तुयें थीं जो बहुधन्धी नारी के कुछ खाली क्षणों में उनका मनोरंजन नहीं कर सकती थीं। काव्य-साधना की न तो उसमें शक्ति थी और न चाह। उसका जीवन ही एक साधना-पथ था जिसकी नीरसता में काव्य के रस की आवश्यकता थी काव्यगत साधना की नहीं।

राम काव्य में लोक-कल्याण-भावना प्रधान थी, कृष्ण काव्यधारा की रागात्मक अनुभूतियों में कोई घृणा तथा भर्त्सना का पात्र नहीं था। तुलसी की नारी-भावना की संकीर्णता को युग प्रभाव कहकर न्यायोचित भले ही ठहरा दिया जाय, परन्तु नारी-भर्त्सना के स्वर उनकी विवशता में गूँजकर रह जाते थे। बन्दी के जीवन में, उसकी परिसीमाएँ अनेक कुंठाओं को जन्म देती हैं जिनकी प्रतिक्रिया भावनाओं की विषमता तथा ग्रंथियों में होती है। नारी-जीवन तथा स्वभाव की ग्रंथियों के अस्तित्व को पूर्णतया सारहीन नहीं ठहराया जा सकता यह सत्य है, पर उन ग्रंथियों का उपहास करने वाला उसकी भावना का पात्र नहीं हो सकता था। उनके प्रति संवेदना तथा सहानुभूति का तुलसी में पूर्णतया अभाव है। अपने दोषों की सार्वजनिक घोषणा से नारी के नेत्र विस्मय तथा विवशता से विस्फारित होकर रह सकते थे, परन्तु उनका प्रतिवाद करने का विचार भी उनके हृदय में नहीं उठ सकता था, प्रताड़ित नारीत्व तथा शृंखलित मानवता, इस उपहास के अट्टहासों से सहमकर तथा भीत होकर—

ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥

जैसी उक्तियों के द्वारा अपने जीवन का यथार्थ मूल्याँकन कर सकती थीं, फिर इन भावनाओं के साथ अपनत्व का स्थापित करना उनके लिए कैसे सम्भव था ? कवि द्वारा शाश्वत सत्य की यह घोषणा—

नारी स्वभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुण आठ सदा उर रहहीं॥

आकर्षण नहीं विकर्षण ही उत्पन्न कर सकती थी, परन्तु नारी ने अपने समस्त दोषों को सहर्ष स्वीकार किया। तुलसी की वाणी उनके लिए सरस्वती की वाणी थी, इस दैवी उक्ति में संदेह का अवसर कहाँ ? देववाणी का प्रतिवाद भी पाप है यह सोचकर निसर्ग की भावनाओं में लिपटी ये कटुताएँ उसने सहर्ष अपने अस्तित्व तथा व्यक्तित्व पर आरोपित करलीं।

इस प्रकार राम काव्य के अनेक अंगों की गंभीरता, दुरूहता तथा साधना-परकता के कारण नारी-हृदय को उससे काव्य-सृजन की प्रेरणा न मिल सकी। राम काव्यधारा की कवयित्रियों की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है। जिन स्त्रियों ने राम को आलम्बन बनाया भी है, वे उनके जीवन तथा चरित्र की महत्ता को निभा नहीं पाई हैं। राम की कथा साधारण राजा-रानी की कथा में उधर आई है, पर उन घटनाओं में सजीव बना सकने वाले प्राणों का पूर्ण अभाव है। प्रबन्धात्मकता का निर्वाह भी ठीक से नहीं हो पाया है, और कुछ लेखिकाओं ने तो मुक्तक पदों में ही राम की गाथा के गुण गान किये हैं।

कृष्ण काव्य का दार्शनिक पृष्ठभूमि भावमूलक थी, अतः मानव-मन की प्रवृत्तियों का उन्नयन उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि का आधार था। रामानुजी सम्प्रदाय के साधना-मार्ग में ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का अद्भुत सामंजस्य था। इस मत के अनुसार जीव को भगवान् नारायण के अनुग्रह से ही इस विषम संसार से मुक्ति मिलती है। मुक्ति के लिए कर्म आवश्यक है, कर्म का वेद विहित अनुष्ठान चित्त-वृत्ति की शुद्धि करता है, अतः कर्म मानवमात्र का कर्त्तव्य है, कर्म के साथ ज्ञान-मीमांसा भी आवश्यक है, ज्ञान-योग तथा कर्म-योग से जिस व्यक्ति का अंतःकरण शुद्ध हो जाता है वह भक्ति-योग से भगवान् को प्राप्त करता है। भक्ति मुक्ति का प्रधान कारण है तथा परा प्रपत्ति अर्थात् शरणागति सबसे मुख्य। शरणागति ही परम कल्याण का मार्ग है, परन्तु शरणागति के लिए कर्मों के अनुष्ठान के विषय में मतभेद है। कुछ आचार्य प्रपत्ति के लिए कर्म को आवश्यक नहीं मानते। मार्जार के शिशु का उदाहरण देकर वे सिद्ध करते हैं कि बिल्ली का बच्चा निःसहाय भाव से माँ की शरण में आता है तब बिल्ली उसे मुँह में रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा देती है। भक्त के प्रति भगवान् की कृपा भी इसी प्रकार होती है। उनकी अनुग्रह-शक्ति, भक्तों की दीन दशा को देखकर अपने आप उदित हो जाती है। परन्तु दूसरे आचार्य कपि के बच्चों के दृष्टान्त से भक्तों के कर्मानुष्ठान पर जोड़ देते हैं। जो कुछ भी हो, प्रपत्ति अर्थात् शरणागति प्रत्येक अवस्था में अभीप्सित है। प्रपत्ति से ही भगवान् की प्राप्ति हो सकती है। उन्हें पाने का अन्य कोई मार्ग नहीं। दीन भाव से भगवान् की शरण में जाने वाले भक्त के समस्त दुःख भगवदनुग्रह से छिन्न भिन्न हो जाते हैं। कर्म का संन्यास इष्ट नहीं है। कर्म के द्वारा ही मृत्यु को दूर कर भक्ति रूपापन्न ध्यान के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वल्लभ, निम्बार्क, मध्वाचार्य इत्यादि के दार्शनिक सिद्धान्तों तथा साधना-पथ में साधारण मानवीय भावनाओं का अपार्थिव के प्रति उन्नयन था, परन्तु रामानुजाचार्य की साधना में कर्म, ज्ञान तथा भक्ति का सामंजस्

था और कैंकर्य पद की प्राप्ति तथा उसी भावना की अनुभूति प्राप्त करना उनका ध्येय था। इस प्रकार इस विशिष्ट दार्शनिक धारा के आधार पर जिस काव्य की सृष्टि हुई उसमें भी दास्य भावना ही प्रधान थी। कृष्ण काव्य की अपेक्षाकृत रागात्मक भावनाएँ स्त्री-हृदय तथा जीवन के अधिक निकट थीं। ज्ञान, कर्म तथा भक्ति पर आधृत काव्य की अपेक्षा भावनाओं की शिलाधार पर निर्मित काव्य स्त्रियों की भावना के अधिक निकट था। अतः अधिकतर भक्त नारियाँ कृष्ण प्रेम के रस में प्लावित होगईं तथा राम काव्य की बुद्धि प्रधान दार्शनिक पृष्ठभूमि की गहनता तथा गम्भीरता के कारण वे उसे न अपना सकीं।

मधुर अली—रचनाकाल की दृष्टि से राम काव्यधारा की सर्वप्रथम कवयित्री मधुर अली निर्धारित की जा सकती हैं। इनका जन्म सं० १६१५ वि० में हुआ था तथा ये ओरछा-नरेश मधुकर शाह के आश्रय में रहती थीं। आश्चर्य का विषय यह है कि सामन्तीय दरबार के विलासपूर्ण तथा वैभवयुक्त वातावरण ने उन्हें शृंगार काव्य-रचना की प्रेरणा न देकर भक्ति की प्रेरणा कैसे दी। इनका उल्लेख श्री गौरीशंकर द्विवेदी के 'बुन्देल वैभव' के प्रथम भाग के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर नहीं प्राप्त होता। इनके रचे हुए दो ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। वे ग्रंथ ये हैं—

१. राम चरित्र।

२. गनेस देव लीला।

परन्तु इन दोनों ही ग्रंथों के अप्राप्त होने के कारण उनके काव्य के विषय में कुछ निर्धारित करना असम्भव है। विलासपूर्ण तथा उन्मुक्त वातावरण में निर्मित इन भक्ति काव्य के ग्रंथों के विषय, प्रेरणा तथा अभिव्यंजना के समाधान की चेष्टा का उत्तर एक पूर्ण प्रश्न चिह्न बनकर रह जाता है।

प्रेम सखी—इनका उल्लेख श्री गौरीशंकर द्विवेदी ने बुन्देलखण्ड के कवियों के इतिहास 'बुन्देल वैभव' के द्वितीय खंड में किया है। इनका जन्म अनुमान से सं० १८०० तथा रचनाकाल सं० १८४० के लगभग माना जाता है। इनके जीवन-चरित्र के विषय में आवश्यक उल्लेख अप्राप्त हैं। लेखक का कथन है कि अनेक हस्तलिखित संग्रह ग्रंथों में इनकी कविताएँ यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती हैं। इस उल्लेख के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में भी उनका उल्लेख मिलता है।

मैथिली की कवयित्री माधवी के समान ही प्रेम सखी को भी निश्चित रूप से स्त्री मान लेने में कठिनाई होती है। द्विवेदी जी की निश्चित धारणा है कि वे स्त्री थीं क्योंकि उन्होंने उनका उल्लेख बुन्देलखण्ड की कवयित्रियों के अन्तर्गत ही किया है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों के द्वारा इस विषय में कोई मान्यता स्वीकृत नहीं की जा सकती, परन्तु अन्य इतिहासकारों ने, विशेषकर श्री रामचन्द्र

शुक्ल ने, उन्हें निश्चित रूप से सखी सम्प्रदाय का भक्त स्वीकार किया है, और उनकी इस दृढ़ मान्यता का निषेध केवल भावुक तर्कों के द्वारा सम्भव नहीं ।

यह निर्विवाद सत्य है कि कृष्ण के राधावल्लभ सम्प्रदाय के आदर्शों के अनुसार रामोपासना में भी इस विशिष्ट पद्धति का समावेश हो गया था तथा सीता को सखी के रूप में उन्हीं के माध्यम से राम की अनुग्रह प्राप्ति के लिए सीता-राम की युगल मूर्ति की उपासना की जाने लगी थी। राम तथा उनके चारों बन्धुओं का लीला रूप तथा सौन्दर्य ही इसमें प्रधान था। कृष्ण की क्रीड़ा-भूमि यमुना पुलिन तथा व्रज के स्थान पर इसमें राम की क्रीड़ा स्थली अवध का सरयू-तीर है। राम-भक्ति शाखा में इस उपासना-पद्धति का अस्तित्व तथा प्रेम सखी नामक सखी सम्प्रदाय के भक्त के उल्लेख के होते हुए भी कई ऐसे कारण दिखाई देते हैं; जिनके आधार पर प्रेम सखी का स्त्री रूप में अस्तित्व सर्वथा अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास का अधिकांश रूप नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों तथा अंशतः मौखिक परम्पराओं पर आधृत है; नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में प्रेम सखी का उल्लेख विशेष रूप से स्त्री के रूप में तो नहीं है, परन्तु उन्हें निश्चित रूप से पुरुष मानने का भी उसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत द्विवेदी जी ओरछा-निवासी हैं और प्रेम सखी का निवास स्थान भी वही है, इसलिए इस विषय में भ्रान्ति का अवसर कम ही रह जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रेम सखी द्वारा रचित काव्य में सीताराम की युगल मूर्ति की उपासना के ही भाव नहीं मिलते; अनेक स्फुट भावनाएँ कोमल कान्त पदावली में उत्कृष्ट कल्पनाओं द्वारा व्यक्त मिलती हैं। राम के विराट रूप की गरिमा तथा महिमा का अंकन भी उतना ही मार्मिक है जितना उनके सौन्दर्य का सजीला व्यक्तीकरण। प्रकृति चित्रण की विशदता भी इस कथन के प्रमाणस्वरूप ली जा सकती है।

अनन्त निसर्ग के अमूर्त्त (Personification) के प्रति माधुर्य भाव का उन्नयन यद्यपि भारतीय चिन्तन धारा और फलतः भारतीय साहित्य का चिरन्तन विषय रहा है। चरमानुभूति के उद्दीप्त क्षणों में व्यक्त वे भावनाएँ हिन्दी साहित्य के अमर तत्त्व बन गई हैं। परन्तु जहाँ अनुभूतियाँ उतनी गहन नहीं हैं, वहाँ पुरुषों की माधुर्य सम्बन्धी रचनाओं में स्त्रैणता का स्पर्श आ जाता है। प्रेम सखी की रचनायें इस दोष से मुक्त हैं। उनकी रचनाओं में व्यक्त माधुर्य अत्यन्त स्वस्थ तथा प्रकृत रूप में व्यक्त है, और भावनाएँ कहीं भी स्त्रैण नहीं होने पाई हैं।

इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रेम सखी को स्पष्ट रूप से पुरुष स्वीकार कर लेना तर्कसंगत नहीं जान पड़ता, परन्तु अलबेली अलि के समान ही इनका व्यक्तित्व भी इस दृष्टि से संदिग्ध ही रह जाता है।

प्रेम सखी राम काव्य की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री हैं। इनके पदों को विषय के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) नखशिख के पद जिनमें राम के सौन्दर्य का वर्णन है और (२) स्फुट विषयों पर लिखे गये पद, सवैये तथा कवित्त। उनकी रचनाओं से प्रमाणित होता है कि वे कट्टर वैष्णव थीं। तथा उनके उपास्यदेव राम थे। राम के प्रति उनकी भावनाओं में आस्था तथा श्रद्धा तो है ही, निस्पृह माधुर्य की सरसता भी है। उनके काव्य के कुछ उद्धरण इस बात की पुष्टि करेंगे। एक ओर राम के चरणों की महान् शक्ति इन शब्दों में वर्णित है—

कल्प लता के सिद्धिदायक कल्पतरु
कामधेनु कामना के पूरन करन हैं।
तीन लोक चाहत कृपाकटाक्ष कमला की,
कमला सदाई जाको सेवत सरन हैं॥
चिन्तामणि चिन्ता के हरन हारे प्रेम सखि,
तीरथ जनक बर बानिक बरन हैं।
नख विधु पूषन समन सब दूषन ये,
रघुवंश भूषन के राजत चरन हैं॥

—राम के अलौकिक व्यक्तित्व का आभास उनके चरणों की महानता की व्याख्या द्वारा देने में कला तथा भाव दोनों ही दृष्टियों से वे पूर्ण सफल रही हैं। कल्पतरु तथा कामधेनु के समान ही जो प्रत्येक कामना की पूर्त्ति करते हैं, जिस लक्ष्मी की कृपा-कटाक्ष प्राप्त करने के लिए त्रिलोक की कामना रहती है, वही जिनके चरणों की सेवा करती है।

इस विश्वास तथा आस्था के पश्चात् राम-लक्ष्मण के सौन्दर्य तथा उनके प्रति कवयित्री की भावना-सजगता की मृदुल भावनाओं का उदाहरण लीजिये—

कौशल कुमार सुकुमार अति भारह ते,
आली घिर आई तिन्हें सोभा त्रिभुवन की।
फूल फुलबाई में चुनत दोउ भाई, प्रेम,
सखी लखि आई गहे लतिका द्रुमन की॥
चरन जुनाई दृग देखे बन आई जिन
जीती कोमलाई और ललाई पदुमन की।
चलत सुभाइ मेरो हियरा डराई आय,
गड़ि मति जायँ पाँव पाँखुरी सुमन की॥

—कामदेव से भी अधिक सुकुमार ये कौशल कुमार मानो त्रिभुवन की शोभा समेटकर अवतरित हुए हैं, उद्यान में फूल चुनते हुए मैंने उन्हें वृक्षों की

शाखायें पकड़े हुए देखा है। ये नेत्र उन चरणों का लावण्य देखते ही रह गये जो कोमलता तथा अरुणिमा में पद्म को भी लज्जित करते थे। उन दोनों भाइयों की गति के साथ ही मेरा मन आशंकाकुल तथा भयातुर हो गया, कहीं उनके इन कोमल पाँवों में फूलों की पंखुड़ियाँ चुभ न जायँ।

सुकुमार कल्पना तथा सबल अभिव्यंजना का यह चित्रण तत्कालीन नारी-प्रतिभा के लिए आश्चर्य-सा जान पड़ता है। चित्र की सजीवता, भावना की पुण्य अभिव्यक्ति तथा कला की कोमलता की त्रिवेणी का यह संगम अनुपम है।

राम के रूप तथा महिमा-वर्णन के अतिरिक्त स्फुट विषयों पर रचित पदों में भी काव्योचित समस्त गुण विद्यमान हैं। पावस की तरल हरीतिमा के चित्रों की एक-एक रेखा का निरीक्षण कीजिए, वर्णों के आयोजन तथा अनेक उपकरणों के सूक्ष्म निरीक्षण इस चित्र में सजीव हैं—

छोटे छोटे कैसे तृण अंकुरित भूमि भये,
जहाँ तहाँ फैली इन्द्र वधू वसुधान में।
लहक-लहक सीरी डोलत बयार और,
बोलत मयूर माते सघन लतान में॥
घुरवा पुकारें पिक, दादुर पुकारें बक,
बाँधि कै कतारें उड़ें कारे बदरान में।
अंस भुज डारे खरे सरजू किनारे प्रेम,
सखी वारि डारे देखि पावस वितान में॥

—धरणी पर छोटे-छोटे तृण अंकुरित हो गये हैं। वसुधा पर यत्र-तत्र वीर बहूटियाँ फिर रही हैं, सौरभमयी शीतल बयार मन्द-मन्द बह रही है तथा सघन लताओं के झुरमुट में मदमाते मयूर बोल रहे हैं, कोकिल, दादुर, झिल्ली के स्वर गुंजरित हो रहे हैं तथा बादलों के बीच बक पंक्तियाँ विहार कर रही हैं। ऐसे पावस के वितान की छाया में, सरयू तट पर खड़े परस्पर कंधों पर हाथ रखे राम-लक्ष्मण की शोभा पर मैं बलिहारी हूँ।

पावस द्वारा उल्लसित प्रकृति के इस वातावरण निर्माण में प्रेम सखी की चित्रांकन की क्षमता का पूर्ण आभास मिल जाता है। नारी द्वारा निर्मित प्राकृतिक वातावरण के श्रेष्ठ चित्रों में इसकी गणना की जा सकती है।

उनके काव्य में श्रद्धा तथा अनुराग का सुन्दर समन्वय है। अपार्थिव राम के प्रति उनकी भावनाओं में लौकिक तथा अलौकिक का सम्मिश्रण है, परन्तु लौकिक भावना के चित्रण में भी स्नेह का पुण्य आकर्षण है, असयत स्थूल भावना का स्पर्श-मात्र भी नहीं है। राम के प्रति माधुर्य में अनुराग की स्निग्धता है काम की मादकता

नहीं, राम के रूप तथा कार्य-कलापों के प्रति एक विशेष अनुरागयुक्त आस्था है, जो मुग्ध तन्मयता बनकर काव्य में व्यक्त हुई है।

अभिव्यंजना के सादृश्यमूलक अनेक अलंकारों के प्रयोग का कौशल भी प्रशंसनीय है।··· चरणों के लावण्य पर पद्मों के मृदुल सौन्दर्य का लज्जित होना, पुष्पों की पंखुड़ियों का उनके लिए शूल बनना, इत्यादि भावुक कल्पनायें उनकी प्रतिभा का आभास देती हैं। राम के प्रति भावना के व्यक्तीकरण में ही उनकी कला की सफलता है। एक ओर काव्य का अन्तरंग उनकी भावुक कल्पनाओं तथा सजीले भावचित्रों में स्निग्ध माधुर्य का प्रतीक बन गया है, तो दूसरी ओर शब्द-चयन तथा सानुप्रासिक प्रयोगों द्वारा, वे काव्य के बाह्य रूप को भी आकर्षक एवं सुन्दर बनाने के लिए सचेष्ट रही हैं। उनकी भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के शुद्ध प्रयोगों से यह प्रमाणित होता है कि संस्कृत का उन्हें यथेष्ट ज्ञान था। ब्रजभाषा के अन्तर्गत प्रविष्ट अनेक प्रादेशिक बोलियों के शब्दों का पूर्ण अभाव तो है ही, संस्कृत शब्दों के तद्भव रूप भी उसमें नहीं मिलते। विषय के माधुर्य के अनुरूप ही भाषा भी मधुर, प्रवाहमयी तथा परिष्कृत है। संस्कृत शब्दावलियों की दुरूहता का निवारण कर, कोमल शब्दों में अपनी मधुर भावनाओं को सूत्रबद्ध कर प्रेम सखी ने जिस काव्य की रचना की है वह भाव-सौष्ठव तथा कला दोनों ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

छंद-दोष भी उनकी रचनाओं में नहीं है, उनके द्वारा रचित केवल कवित्त छंद ही प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु इतिहासकार के उल्लेख के अनुसार उन्होंने सवैये, दोहे आदि भी लिखे थे, मनहर कवित्त के उदाहरण पूर्णतः दोष-रहित हैं। उसमें एक लय तथा प्रवाह है, जो छंद के कलापूर्ण आयोजन तथा सुन्दर शब्द-चयन के द्वारा ही सम्भव हो सका है।

भावुक कल्पनाओं तथा अनुरक्त भावनाओं की सजीव, चित्रोपम शैली में कलात्मक अभिव्यंजना, प्रेम सखी के काव्य के वे गुण हैं जो नारी द्वारा सर्जित राम काव्य की नीरव निर्जनता में एक सरस मुस्कान बिखेर देते हैं।

प्रताप कुँवरि बाई—प्रताप कुँवरि का जन्म देवरिया रावलोत वंश में हुआ था। उनके पिता गोयन्ददास जी रावलोत जोधपुर के जाखण परगना के निवासी थे। प्रताप कुँवरि का विवाह मारवाड़ के महाराजा मानसिंह जी के साथ हुआ था। सामन्तीय प्रथा के अनुसार तथा पुरुष की अनियन्त्रित तथा असंयत कामेच्छा के कारण बहु विवाह एक साधारण प्रथा बन गई थी, प्रताप कुँवरि के पति भी महान् रसिक थे, एक वृहद् कोष के स्वामी होने के कारण उनमें मानव-हृदय तथा शरीर के क्रय कर लेने की क्षमता थी, शक्ति के बल पर समस्त संसार का सौन्दर्य उनके

चरणों में लोट सकता था। उस युग में रानियों की संख्या प्रतिष्ठा की कसौटी थी, और मानसिंह उस कसौटी पर सर्वश्रेष्ठ उतरे थे। उन्होंने तेरह बार अपने प्रणय की वैधानिक गाथा आरम्भ की, अवैध की संख्या तो अज्ञात है ही। इन तेरह रानियों में से पाँच भाटी कुल की थीं, भाटी स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य तथा स्वास्थ्य के लिए प्रसिद्ध थीं, इसी आकर्षण ने साधारण भाटी वंश की पाँच कन्याओं के मस्तक पर एक ही सुहाग-रेखा खींच दी। प्रताप कुँवरि मानसिंह जी की तीसरी भाटी रानी थीं।

बाल्यकाल से ही प्रताप कुँवरि एक होनहार बालिका थी। कन्या के रूप, सौन्दर्य और गुणों के कारण वात्सल्यमय पिता उनका विवाह किसी बड़े वंश में करने का उद्योग कर रहे थे, इन्हीं दिनों परम् भक्त पूर्णदास जी जाखण में वास करने के लिए आये। उनके परामर्श से गोविन्ददास जी ने उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध कर दिया। प्रताप कुँवरि जी भी सत्संग तथा भक्ति काव्य के अध्ययन के कारण भक्ति भाव से ओत-प्रोत रहने लगीं। उन्होंने महन्त पूर्णदास जी से दीक्षा लेकर भक्ति का पाठ सीखा, और इस सम्बन्ध का जन्मभर निर्वाह किया।

मानसिंह जी के विवाह के पश्चात् उनके जीवन में सुख तथा सन्तोष रहा, परन्तु मानसिंह जी की अकाल मृत्यु सं० १६०० में हो गई, उनके बालपन के संस्कार वैधव्य की निराशा में फिर से जागृत हो गये, और वे पूर्ण रूप से भगवद्-भजन तथा दान-पुण्य इत्यादि सुकर्मों में प्रवृत्त हो गईं, मानसिंह जैसे रसिक राजा की विधवा पत्नी ने सहस्रों रुपये परमार्थ में व्यय कर दिये। अनेक मन्दिरों की स्थापना कराई, पूर्णदास जी के अतिरिक्त अपने गुसाईं दामोदरदास जी के प्रति भी इनके हृदय में बड़ा स्नेह था, जोधपुर में उनके नाम से बना हुआ रामद्वारा उनके पुनीत स्नेह की कहानी कहता रहेगा।

पूर्णदास जी के सत्संग तथा दामोदरदास जी की सत्प्रेरणा से उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की जिनका उल्लेख आरम्भ में किया जा चुका है। इनके द्वारा रचे हुए ग्रंथों की संख्या १५ है जिनमें से अधिक राम चरित्र को लेकर ही लिखे गये हैं। ये ग्रंथ हैं—

रामचन्द्र महिमा, रामगुण सागर, रघुवर स्नेह लीला, राम सुजस पचीसी, राम प्रेम सुखसागर पत्रिका, रघुनाथ जी के कवित्त, भजन पद हरजस, प्रताप विनय, श्री रामचन्द विनय, हरिजस गायन।

पूर्णदास जी रामानुजी सम्प्रदाय के वैष्णव थे। अतः प्रताप कुँवरि पर भी राम के रूप का प्रभाव पड़ना ही स्वाभाविक था, परन्तु राम के रूप के गाम्भीर्य, उनके निष्ठावान् चरित्र तथा उनके जीवन के आदर्शों का निर्वाह उनके काव्य में नहीं हो पाया है।

उनके सुखी बाल्यकाल तथा विवाहित जीवन का आभास उनकी रचनाओं में मिलता है। अपने पितृकुल का वर्णन करते हुए माता-पिता के वात्सल्य के चित्रों में पुत्रों की अपेक्षा उनके प्रति अधिक ममता मिलती है—

मात पिता नित मोहिं लड़ावहिं। हम कूँ देख परम सुख पावहिं।।
या पुत्री प्रति प्राण पियारी। इनके वर अब करो विचारी।।

यौवनावस्था में मानसिंह जैसा धनी-मानी पति पाकर वे अपना जीवन सार्थक मानती हैं, पति के प्रति भावना को कर्त्तव्य तथा धर्म के सूत्र में बाँधकर उन्हें हृदय में स्थापित करती हैं—

पति समान नहिं दूजा देवा। तातें पति की कीजै सेवा।।
पति परमातम एक समाना। गावें सब ही वेद पुराना।।
धर्म अनेक कहे जग माहीं। तिय के पतिव्रत सम कछु नाहीं।।
ताते में पति सम समझाई। पति सुमूर्ति हिरदे पधराई।।

पति के निधन ने उनके जीवन के उल्लास की नींव हिला दी, परन्तु राज्य के उत्तराधिकारी श्री तख्तसिंह की सहृदयता तथा सुव्यवहार से उन्होंने अपने दुःख की बात भुला दी—

पति वियोग दुःख भयो अपारा। हुआ सकल सूना संसारा।।
कछु न सुहाय नैन बहे नीरा। पति बिन कौन बँधावे धीरा।।
यह दुःख करत भये दिण केते। जानत जगत झूठ सुख जेते।।
देख देख सुत आज्ञाकारी। कछु इक दुःख की बात बिसारी।।

रामचरित्र की महानता का वर्णन उनके काव्य का विषय तो है, परन्तु राम के महामानव रूप में जीवन के तत्वों के आधार पर कर्त्तव्य तथा भावना का संघर्ष नहीं है। राम का व्यक्तित्व अति प्राकृत है। उनके लोक में अष्टसिद्धियों तथा नवनिधियों का वास है, शिव, कुबेर, ब्रह्मा उनकी सेवा में रत रहते हैं, प्रकृति के विशाल उपकरण उनके अनुचर हैं तथा उनकी भक्ति के प्रतीक हैं। निसर्ग के वैभव का एक प्रभावशाली चित्र अंकित करने में वह पूर्ण सफल रही हैं, परन्तु उस चित्र में चित्रकार की कल्पना नहीं, कला की सूक्ष्मता तथा सरसता नहीं केवल कथाकार की विवरणात्मकता है।

मणि जटित खंभ सुन्दर कपाट। देहली रची विद्रुम सुधार।।
भीतिन पर माणिक लगे लाल। चिल्लाय मनोकन वेलि जाल।।
चहुँ दिशा विराजति विविध बाग। ता माँहि कल्पतरु रहे लाग।।

इन विवरणात्मक उल्लेखों में कहीं-कहीं कल्पना का पुट भी है—

जहँ पंथ बुहारत पवन चाल। जल भरत इन्द्र ले मेघ माल।।

दीवा ससि सूरज सुभग दोय। जमराज जहाँ कुटवाल जोय॥

राम के रूप में मानव-हृदय की कमनीयता से अधिक उनके ब्रह्मरूप का प्रतिपादन है, ब्रह्म की उसी निसर्ग भावना में हिन्दू धर्म के महान् निष्ठ व्यक्ति के चरित्र का भी आरोपण है, पूर्ण पुरुष ब्रह्म तथा महापुरुष राम के रूप का यह उल्लेख इस उक्ति की पुष्टि करेगा—

ऊँचो सिंहासन अति अनूप। ता बीच बिराजत ब्रह्म रूप॥
घट घट प्रति व्यापक एक गोत। पट तंतु जयामिलि ओतप्रोत॥
इक आदि पुरुष अणघड़ अलेख। नहिं लहत पार सारदा शेष॥
आधार सरब रह निराधार। नहिं आदि अंत कहिं आरपार॥
पर तीन अवस्था गुणातीत। धर सगुण रूप निज भक्ति प्रीत॥
गौ विप्र साधु पालक कृपालु। देवाधिदेव दाता दयाल॥

उनकी भक्ति में न तो कृष्ण-भक्तों का चरम अनुराग है और न राम-भक्तों की अनन्यता। भावनाओं में प्राणों का स्पर्श भी नहीं है। उनके काव्य का रूप, गम्भीरता का नाट्य करने वाले नौसिखिये अभिनेता का-सा ज्ञात होता है। भक्ति तथा विश्वास का बाह्य रूप जितना प्रधान है आभ्यंतर उसका शतांश भी नहीं। ऐसा ज्ञात होता है कि सत्संग तथा साधु-साहचर्य से भक्ति की दार्शनिक पृष्ठभूमि की रूपरेखा का उन्हें पर्याप्त ज्ञान हो गया था। रमाकान्त, करुणानिकेत राम को उन्होंने कायानगरी से एक पत्र लिखा है। ब्रह्म अपने कौतुक के लिए जड़ जगत् तथा जीव जगत् की सृष्टि करता है। जीवात्मायें उसी ब्रह्म का अंश हैं, जिन्होंने पंचतत्त्व के भौतिक शरीर में प्रवेश कर नया रूप धारण कर लिया है। इस सिद्धान्त को उन्होंने भी व्यक्त किया है, परन्तु इस अभिव्यंजना के मूल में अनुभूति की विह्वलता, अणु के विराट में लय की आतुरता नहीं अपितु सिद्धान्त का प्रतिपादनमात्र है। ब्रह्म से वियुक्त जीवात्मा का अनुभूतिमूलक सिद्धान्त उनके सीधे-सादे शब्दों में एक साधारण उक्तिमात्र बनकर रह गया है—

कायापुर म तौ हुक्म पाय। मैं बास कियो प्रभु यहाँ आय॥

मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति, दण्डवत्, प्रणाम, पूजा, अर्चना इत्यादि में ही मिलती है। मन्दिर-निर्माण, मन्दिर की शोभा, पूजा की अनेक विधियों, सावन का झूला, एकादशीव्रत, कथा-कीर्तन, अन्नकूट इत्यादि उपासना के बाह्य रूप ही उनके काव्य के विषय हैं जिनमें काव्य-तत्त्व ढूँढ़ने का प्रयास भी उपहासप्रद है। उनकी दृष्टि तो—

सीरो लाडू पुरी पकोरी। घेबर केसर पाक कचौरी॥

पेड़ा दहीबड़े अरु पूवा। नुखती सेव जलेबी सवा॥

—पर ही अटककर रह गई है।

राम तथा राम-भक्ति के अतिरिक्त संसार की नश्वरता, लौकिक भावनाओं की असारता, विकारी भावनाओं के विषम प्रभाव इत्यादि भी उनके काव्य के विषय हैं। इन सबके तिरोहण तथा राम-भक्ति के अवरोहण की तुलना उन्होंने सफलतापूर्वक व्यक्त की है। उदाहरण के लिए—

आस तो काहू की नहीं मिटी जग में भये रावण से बड़ जोधा।
सावंत सूर सुयोधन से बल से नल से रत बादि विरोधा॥
केते भये नहिं जाय बखानत, जूझ मुये सह ही करि क्रोधा।
आस मिटे परताप कहे हरि नाम जपेरु विचारत बोधा॥

राम-भक्ति के अतिरिक्त ज्ञान की विवेचना भी उन्होंने कई ग्रंथों में की है, जिनमें से मुख्य ज्ञानसागर तथा ज्ञान प्रकाश हैं। ज्ञानात्मक विवेचनायें अधिकांशतः पदशैली में हैं। संत कवियों की मुक्तक परम्परा का उन्होंने पालन किया है। अनेक संत कवियों ने मानव-जीवन में आध्यात्मिकता के आरोपण के लिए होली के सरस रूपक का अवलम्ब लिया है। ज्ञान सम्बन्धी पदों की संख्या राम-भक्ति की रचनाओं से कम है, इसलिए प्रताप कुँवरि को संत कवयित्रियों के अन्तर्गत नहीं रखा है, परन्तु अभिव्यक्ति तथा काव्य तत्त्व दोनों दृष्टि से उनके ज्ञान सम्बन्धी पद अधिक सफल हैं।

योग तथा ज्ञान के सिद्धान्तों से वे पूर्ण परिचित थीं। नाड़ियों की साधना, सुरत योग, इन्द्रिय नियन्त्रण के पश्चात् अलौकिक संगीत तथा ज्योति-दर्शन इन सबका उल्लेख उनकी रचनाओं में है। योग तथा प्रेम की होली उनकी मौलिक उद्भावना नहीं है, पर उन्होंने इस रूपक का निर्वाह काफ़ी अच्छी तरह किया है—

होरी खेलन की सत भारी।
नर तन पाय अरे भजि हरि को मास एक दिन चारी।
अरे अब चेत अनारी॥
ज्ञान गुलाल अबीर प्रेम करि, प्रीत तणी पिचकारी।
लास उलास राम रंग भर भर सुरत सरी री नारी॥
खेल इन संग रचा री ·····

× × ×

होरिया रंग खेलन आओ।
इला पिंगला सुखमणि नारी ता संग खेल खिलाओ।
सुरत पिचकारी चलाओ॥

काचो रंग जगत को छाँड़ो साँचो रंग लगाओ।
बारह मूल कबों मन जाओ काया नगर बसाओ॥

राम काव्य रचयित्री के रूप में प्रताप कुँवरि का स्थान साधारण कवियों से नीचे ही आयेगा। इनकी रचनाओं की संख्या यद्यपि १५ है, परन्तु इन रचनाओं का साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं है। साधारण भाव, साधारण वर्णन-शैली तथा साधारण प्रतिभा ही उनके काव्य में दृष्टिगत होती है। राम काव्य के परम्परागत छंद, दोहा और चौपाइयों को तो उन्होंने ग्रहण ही किया है, साथ-साथ राम काव्य की प्रचलित भाषा अवधी को भी उन्होंने अपनाया है। उर्दू तथा फ़ारसी के शब्दों का पुट भी इनकी भाषा में मिलता है। संस्कृत के तत्समों को अपेक्षा तद्भवों की संख्या भी अधिक है। भावपक्ष तो उनके काव्य का निर्बल है ही कलापक्ष में भी सौन्दर्य की चेष्टा नहीं है। राम की गरिमा, उनके चरित्र की गम्भीरता तथा उनके जीवन की गम्भीर कथा प्रताप कुँवरि जी की लेखनीबद्ध होकर एक साधारण कहानीमात्र रह गई है। राम के चरित्रांकन की अपेक्षा ज्ञानयोग सम्बन्धी पदों में भाव अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त हैं।

ऐसा ज्ञात होता है कि राम-भक्ति की दार्शनिक पृष्ठभूमि में साधना तथा भावना का जो सामंजस्य था उसे वे पूर्णरूप से आत्मसात् नहीं कर पाई थीं, और राम की साधारण ऐतिहासिक कथा में आध्यात्मिक तत्त्व के आरोपण के लिए उन्हें भावना से रहित ज्ञानमूलक साधना का ही आश्रय लेना पड़ा।

तुलछराय—प्रताप कुँवरि की सपत्नी, राजा मानसिंह की रक्षिता रानी तुलछराय ने तीजा भटियाणी प्रताप कुँवरि के सत्संग से काव्य-रचना का अभ्यास किया था। इनकी रचनाओं में राम काव्य के प्रबन्धात्मक तत्त्व के स्पर्श का प्रयास भी नहीं है, राम के गुणों के गीत उन्होंने पद शैली में ही गाये हैं। विषय, भाव, शैली सभी दृष्टि से उनके पदों में कृष्ण काव्य की विशेषताएँ मिलती हैं, राम का रसिक व्यक्तित्व, सखियों के साथ होली, पीताम्बर-पट तथा नूपुर से झंकृत चरण, कृष्ण के लीला रूप के अधिक निकट हैं, परन्तु राम-नाम के प्रयोग और वातावरण की विभिन्नता के प्रति सतत जागरूकता के कारण राम कृष्ण रूप नहीं बन गये हैं। चार बंधुओं की जोड़ी, धनुष-धारण इत्यादि के वर्णन राम के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र आभास देते हैं, परन्तु रामभक्तों की अनन्यता का इनके काव्य में प्रयास भी नहीं है।

प्रताप कुँवरि ने अनन्य भावना से रंजित होने का प्रयोग किया है, परन्तु पूर्णतया असफल रही हैं। तुलछराय ने उस ओर ध्यान भी नहीं दिया, उनके राम क्रीट, मुकुट तथा धनुर्धारी हैं, सखियों के साथ होली तथा फाग खेलकर उन्हें प्रमुदित करने वाले हैं। इस लीलामय रूप का वे केवल विनीत भाव से दर्शन नहीं करतीं,

स्वयं इनकी लीलाओं का आनन्द उठाने को उत्कंठित हैं—

सीताराम जी से खेलूँ मैं होरी। भर लूँ गुलाल की झोरी ॥
सजकर आई जनक किशोरी। चहुँ बंधुन की जोरी ॥
मीठे बोल सियावर बोलत। सब सखियन की तोरी ॥
हँसे हर सूँ कर ज़ोरी ॥

राम के इसी रूप पर तन-मन-धन अर्पित करने में उन्हें अपने जीवन की सार्थकता दिखाई देती है। उनके गीतों में राम का लीला रूप प्रताप कुँवरि जी के राम से मिलता-जुलता है। उदाहरण के लिए—

सियावर श्याम लगे मोय प्यारे हैं।
मोट मुकुट मकराकृत कुंडल भाल तिलक सुखकारो है।
मुख की शोभा कहा कहूँ उनकी, कोटि चंद उज्यारो है ॥
गल बिच कंठी है रतनारी, बनमाला उर धारी है।
केसरियो जामो जरकस को, दुपटो लाल लप्पारी है ॥
पीताम्बर पट कटि पर सोहे, पायन झंझर न्यारी है।
तुलछराय कहे मो हिरदय बिच, आय बसो धनुधारी है ॥

प्रेमसखी की भाँति तुलछराय को रचनाओं में भी राम के प्रति माधुर्य भावनाओं का उन्नयन मिलता है। परन्तु उनके काव्य की इस विशेषता का कारण केवल व्यक्तिगत रुचि ही प्रतीत होती है, उसके पीछे सखी सम्प्रदाय के संस्कार चाहे रहे हों, परन्तु मूल प्रेरणा उनकी स्त्रीसुलभ माधुर्यप्रिय प्रवृत्ति ही जान पड़ती है।

तुलछराय के काव्य में भाव-सौष्ठव तथा कला का अभाव तो अवश्य है, पर ये रचनायें साधारण तुकबन्दियों से ऊँची हैं, राम के परम्परागत वेशभूषा का वर्णन तथा धनुर्धारी राम तथा उनके भ्राताओं का रूप पिष्ट-पेष्टित होते हुए भी सजीव है तथा उसमें एक साधारण नारी की अपरिमार्जित परन्तु स्वाभाविक अनुभूतियों के दर्शन होते हैं।

उनकी भाषा राजस्थानी तथा सरल संस्कृतमिश्रित ब्रजभाषा है। अलंकार, छंदों के आयोजन से रहित इनके पदों में भावपक्ष पूर्णतः शून्य नहीं है, राम के लीलामय रूप के प्रति अपने हृदय के विश्वास तथा अनुराग को व्यक्त करने में वह सफल रही हैं। राम काव्यधारा में प्रताप कुँवरि के ग्रंथों की संख्या तथा परिमार्जित काव्य के समक्ष तुलछराय के दो-चार साधारण पदों का अधिक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

बीहड़ मार्ग पर चलने वाले पथिक के असफल प्रयास की भाँति राम काव्य की गहनता में इन कवयित्रियों की भावनाओं की मुस्कान पूर्णतया मन्द दिखाई देती

है। इस धारा के कवियों की महानता के समक्ष इन कवयित्रियों का प्रयास पासंग भर भी नहीं ठहरता, पर तुला की इस विषम स्थिति का उत्तरदायित्व राम काव्य की उन अनेक विशिष्टताओं पर है जिनसे नारी का भावगत सामंजस्य कठिन तथा असम्भव था।

सातवाँ अध्याय

श्रृंगार काव्य की लेखिकाएँ

हिन्दी साहित्य के जिस युग को रीतिकाल अथवा श्रृंगार काव्य काल का नाम दिया गया है, उस युग में मुग़ल वैभव चरम उत्कर्ष पर पहुँचकर पतन की ओर उन्मुख होकर क्रमशः विनाश के अन्तिम सोपान पर पहुँच गया था। मुग़लकालीन वैभव में विलास की पराकाष्ठा स्वाभाविक थी। जहाँगीर तथा शाहजहाँ के वैभवपूर्ण तथा ऐश्वर्यशाली शासनकाल में कला का उत्कर्ष भी चरम विन्दु पर पहुँच गया था, परन्तु उसके पश्चात् ही भारतीय इतिहास में मुगल वैभव तथा शासन के पैर उखड़ने लगे। अनेक राजनीतिक पराजयों, जनता के विद्रोहों तथा धार्मिक संकीर्णताओं से उत्पन्न विषमताओं तथा जहाँगीर की विलासप्रियता और शाहजहाँ की विभवप्रियता के कारण मुग़ल साम्राज्य भी ह्रासोन्मुख हो चला था।

मुग़ल राजनीति के उत्थान तथा पतन के साथ ही भारत की सामाजिक व्यवस्था की उन्नति तथा अवनति का इतिहास बना था। शाहजहाँ का राज्यकाल वैभव तथा ऐश्वर्य का युग था। अनेक विदेशी यात्रियों ने मुग़ल दरबार के वैभव की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। बादशाह स्वयं वैभव और विलास की मूर्ति था। रत्नों, जवाहिरातों, स्वर्णखचित वस्त्रों तथा मूल्यवान इत्रों से उसकी देह सुवासित रहती थी। मुग़ल अन्तःपुर के वैभव के समक्ष इन्द्रपुरी का वैभव फीका पड़ जाता था। बेग़में नख से शिख तक रत्न-आभूषणों तथा जवाहिरातों से लदी रहती थीं। बादशाह के अतिरिक्त राजकर्मचारियों, अमीरों तथा सरदारों का जीवन बहुत ऐश्वर्यपूर्ण था। छोटे-छोटे नरेश भी विलास में किसी भाँति कम नहीं थे। विलास के विविध उपकरण उनके महलों में भी पर्याप्त मात्रा में जुटे रहते थे। वैभव की पराकाष्ठा की परिणति मुग़ल राज्य के अवनति काल में वास्तविकता के स्थान पर प्रदर्शनमात्र रह गई। मुग़लकालीन वैभव में विलास की पराकाष्ठा स्वाभाविक थी, क्योंकि वैभव और विलास का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। वैभव के युग की नारी प्रायः उपभोग की सामग्री बनकर ही रह जाती है। जीवन के जिस स्वस्थ वातावरण में नारी का स्वतन्त्र अस्तित्व मान्य रहता है, वह हिन्दू धर्म के एकपक्षीय विधानों के द्वारा तो नष्ट हो ही रहा था, रीति युग के राजनीतिक तथा आर्थिक पराभव ने उसको और भी पुष्ट कर दिया।

रीतिकाव्य की भूमिका में आलोचक डा० नगेन्द्रजी ने रीतिकाल के जीवन-दर्शन का

विवेचन तथा विश्लेषण जिन शब्दों में किया है, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। "रीतिकाल में एक बँधा हुआ रुग्ण जीवन शेष था, जिसमें अब सामन्तवाद की ही अहंता छाया शेष हो चुकी थी, काम और अर्थ पर आश्रित केवल स्थूल भोग बुद्धि ही बच रही थी। इसलिए रीति कवियों का दृष्टिकोण बद्ध और संकुचित है। इस संकुचित युग की नारी उपभोग की सामग्रीमात्र बनकर रह गई है।"

अनेक विदेशी यात्रियों द्वारा दिये गये वर्णनों के आधार पर उस युग की नारी की कल्पना बहुत सरल हो जाती है। रत्न जवाहिरात तथा भूमि की भाँति ही नारी भी पुरुष के उपभोग की सामग्रीमात्र थी। बर्नियर द्वारा दिये गये उल्लेख द्वारा इस कथन की पूर्ण पुष्टि हो जायगी— "राजमहलों में भिन्न-भिन्न वर्णों तथा जातियों की सहस्रों स्त्रियाँ रहती थीं जिनके कर्म तथा कर्त्तव्य विविध प्रकार के होते थे। इनमें अनेक बादशाहों की सेवा तथा बहुत-सी शाहजादियों की शिक्षा आदि के लिए नियुक्त रहती थीं। शिक्षा प्रायः आशिकाना गजलों और फ़ारस की प्रेम-कहानियों आदि की होती थी। इनमें से बूढ़ी स्त्रियों से जासूसी का काम लिया जाता था। ये कुटनियाँ स्थान-स्थान से सुन्दरी स्त्रियों को धोखे, फ़रेब और लालच से महल में ले आती थीं। इसके अतिरिक्त शृंगारिकता का नग्न नृत्य भी होता था। वासना और लालसा सैनिक शिबिरों में वेश्याओं की सेना के रूप में व्यक्त होती थी। नारी संगिनी, सहचरी और अर्द्धांगिनी नहीं केवल प्रमदा और कामिनी थी। जनता की निर्बाध इन्द्रिय-लिप्सा ही इसका मूल कारण थी। सामाजिक जीवन में स्त्री के पत्नी रूप का महत्त्व पूर्णतया लुप्त हो गया था, रक्षिताओं और वेश्याओं के इंगित पर नाचने वाले शासक अपने गौरव तथा मर्यादा को मिट्टी में मिला रहे थे। उद्दण्डता राजपुत्रों तथा सामन्तीय परिवारों के युवकों के चरित्र का एक प्रधान अंग बन गई थी, इस प्रकार नैतिकता का घोर पतन हो रहा था।"

नैतिक आदर्शों की इस क्षीणता के कारण नारी के प्रति दृष्टिकोण में अस्वस्थता के लक्षण स्वाभाविक थे। भारतीय इतिहास के इस अधःपतन के युग में, हिन्दुओं का जीवन पराभव के कारण बहुत जर्जर होगया था। रीतिकाल में, भक्तिकाल का आध्यात्मिक सम्बल भी शेष नहीं रह गया था, अतः जीवन में रस की सृष्टि करने का एकमात्र साधन नारी ही रह गई थी। नारी की प्रेरणा यद्यपि पुरुष के जीवन में अनादिकाल से रही है, परन्तु जीवन में स्वस्थ बाह्य अभिव्यक्ति तथा आंतरिक अभिव्यक्ति के विभिन्न साधनों की प्राप्ति के कारण यह प्रेरणा केवल लोलुपतामात्र नहीं थी। रीतिकाल में नारी के प्रति दृष्टिकोण का पूर्ण आभास देने के लिए बर्नियर द्वारा उद्धृत उल्लेख पर्याप्त है। उस युग में नैतिक आदर्शों की शृंखला शिथिल और ढीली पड़ गई थी, जिसके कारण काव्य के क्षेत्र में कृष्ण भक्ति में

पल्लवित माधुर्य भावना लौकिक शृंगार के स्थूलतम रूप में परिणित हो गई।

इस युग में नैतिक आदर्श ऊँचे न थे, अतः वासनापूर्ण वातावरण का विकास स्वाभाविक था। इस स्वच्छन्द वातावरण में काम की प्रवृत्ति ही प्रधान थी, अतः उस युग के काव्य में उच्च सामाजिक कल्याणकारी अभिव्यक्तियों का अभाव है। उस युग की निर्बाध वासना में एकनिष्ठ प्रेम का अभाव और स्थूल चेष्टाओं से युक्त रसिकता ही प्रधान है। रीतिकाल के कवियों में प्रेम कम था रसिकता अधिक। इसके अतिरिक्त उनका रसिक दृष्टिकोण भी अन्तरंग नहीं बहिरंग था। मानसिक तथा आत्मिक प्रेम की सूक्ष्मता तक उनकी पहुँच नहीं थी। उनकी रसिकता केवल बाह्य शारीरिक सौन्दर्य से टकराकर ही लौट आती थी। प्रेम और रसिकता की इस भावना के प्राचुर्य काल में नारी के प्रति भोग्य पदार्थ के अतिरिक्त अन्य दृष्टिकोण की मान्यता हो भी कैसे सकती थी?

रीतिकालीन काव्य जनता का नहीं राजाओं तथा सामन्तों का था, रीतिकालीन कविता राजाओं की सभा तथा नवाबों के दरबारों में पल्लवित तथा विकसित हुई थी, अतः सामन्तों के दृष्टिकोण से ही राजकवियों ने स्त्री को देखा था, जिसके अनुसार स्त्री केवल जीवन का उपकरणमात्र थी, समाज की स्वतन्त्र इकाई के रूप में उसके अस्तित्व की मान्यता नहीं थी। रीतियुगीन शृंगार में एक चेतन व्यक्ति का दूसरे चेतन व्यक्ति के प्रति सक्रिय आकर्षण वास्तव में कम है। व्यक्ति का एक सुन्दर उपभोग्य वस्तु के प्रति निष्क्रिय आकर्षण अधिक है। नारी के समस्त कार्य-कलाप केवल उसके उपभोग्य रूप की श्रीवृद्धि करने के लिए ही होते हैं। नायिका-भेद के अनेक रूपों में नारी के भोग्य रूप का विस्तारीकरण है। नारी के प्रति रीतिकालीन दृष्टिकोण का स्पष्ट आभास इन दो पंक्तियों से मिल जाता है—

कौन गनै पुर, बन नगर, कामिनी एकै रीति।
देखत हरै विवेक को, चित्त हरै करि प्रीति॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नारी का अस्तित्व पुरुष के सुख भोग साधन से अधिक और कुछ न था।

इस कामिनी रूप के अतिरिक्त नारी के अन्य रूपों पर तो उस युग के कवियों की दृष्टि ही नहीं गई है। उनके हृदय की समस्त भावनाएँ, उनके जीवन का सम्पूर्ण ध्येय, केवल शृंगारिक भावनाओं की उलझनों तथा समाधानों में ही सीमित थीं। नारी के पत्नी, सहचरी, मातृ, भगिनी इत्यादि रूपों पर उनकी दृष्टि भी नहीं गई है। इसके अतिरिक्त उसके शृंगारिक रूप में भी चेतन का आकर्षण और उसका विकास नहीं है, उसके चरित्र के अनेक महत्त्वपूर्ण अंगों की पूर्ण उपेक्षा है, उसमें चेतन मानव के अनुभूतिमूलक शृंगार का आरोपण नहीं, जड़ वस्तु की यंत्रवत् क्रियायें हैं। रीतियुगीन

काव्य के आलोचक डा० नगेन्द्र के शब्दों में, "उसकी सात्विकता स्वकीया की कुल-कानि से, उसका आत्माभिमान खंडिता की मान दशा से और उसकी बौद्धिक शक्तियाँ विदग्धा की चातुरा से अधिक नहीं हो सकती थीं।" इन दो पंक्तियों में रीतिकालीन नारी का रूप पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

शृंगार काव्य काल की नारी की स्थिति की इस संक्षिप्त पृष्ठभूमि के पश्चात् उस काल में रचित काव्य की मुख्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालना अनिवार्य प्रतीत होता है। उस युग के काव्य के अंतरंग में दो प्रधान प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं—(१) आचार्यत्व और (२) कवित्व आचार्यत्व अंश के अंतर्गत उन सिद्धान्तों का समावेश हो सकता है जिनका आधार शास्त्रीय है तथा जिसकी पृष्ठभूमि में वेद-वेदांगों से आरम्भ होकर अनेक उत्तर-कालीन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का प्रभाव है। रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, नायिका-भेद इत्यादि के सिद्धान्तों के आधार पर रीतिकालीन कवियों ने अनेक लक्षण ग्रंथों की रचना की। ध्वनि, रस तथा अलंकार के विभिन्न मतों की विवेचना तथा वर्णन उस युग के रीति ग्रंथों में मिलता है।

रीतिकाव्य के अन्तरंग का दूसरा पक्ष है उसकी शृंगारिकता। शृंगारिक भावना का इतिहास मानवीय इतिहास के बराबर ही प्राचीन है। काम जीवन का सत्य है; जीवन की अभिव्यक्ति साहित्य में हुई है, अतः यह चिरंतन सत्य सर्वकालीन तथा सर्वयुगीन होकर इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है। हिन्दी साहित्य के प्रत्येक युग में, शृंगार की प्रेरणा है, लौकिक क्षेत्र में यह जीवन का प्रेय तथा श्रेय बनकर अभिव्यक्त हुआ है। जब जीवन के नैराश्य में, आध्यात्मिकता के प्रकाश से जनता ने अपने मन को आश्वासन देना चाहा है, तब भी शृंगार-भावना अपनी चरम सीमा पर अलौकिक सत्ता के प्रति उन्नयनित की गई है। हिन्दी के प्रारम्भकाल में शृंगार युद्ध की प्रेरणा तथा जीवन के ध्येय के रूप में अभिव्यक्त हुआ; तथा भक्ति युग में साधना के एक मूल रूप में व्यक्त हुआ। यह कहना अधिक अनुपयुक्त न होगा कि राधा-कृष्ण के प्रति जिस माधुर्य भावना का बीजारोपण कृष्ण भक्तों ने किया था वही वातावरण तथा समय के प्रभाव से स्थूल शृंगारिक काव्य के रूप में विकसित हुआ। परन्तु जीवन के प्रति रस प्रधान दृष्टिकोण के कारण जिस रसिकता का अंकन उस युग के काव्य में हुआ, वह नारी से सम्बद्ध होते हुए भी उससे बहुत दूर था।

रीतिकाव्य के आचार्यत्व पक्ष में नारी किसी प्रकार का सहयोग देने में तो असमर्थ थी ही, उसका भावपक्ष भी उसे अभिव्यक्ति का साधन प्रदान करने में असमर्थ था। सामाजिक विषमताओं, राजनीतिक उलझनों तथा नारी-जीवन की परिसीमाओं ने स्त्री के विकास के समस्त द्वार अवरुद्ध कर दिये थे। समाज की इकाई के रूप में उसकी न मान्यता थी और न उसे उस कर्त्तव्य के सम्हाल सकने की क्षमता प्रदान

करने वाली शिक्षा मिली थी। उसके मातृत्व अथवा पत्नी रूप की महत्ता भी एक पराधीन परिचारिका के रूप में ही रह गई थी, ऐसी अवस्था में, रसनिरूपण, अलंकार तथा ध्वनि इत्यादि का वर्णन और विवेचन उसकी क्षमता के लिए असम्भव था।

रीतिकाल की असंयत शृंगार-भावना नारी स्वभाव तथा रुचि के विपरीत थी, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; परन्तु नारी को माध्यम बना जिन उच्छृंखल प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति की गई, उस अभिव्यंजना में योग देना कुलशीला नारी की क्षमता के लिए चाहे सम्भव भी रहा हो परन्तु उसके स्वभाव के विरुद्ध था। नायिका-भेद, स्थूल शारीरिक वर्णन तथा प्रेम लीलाओं के अश्लील प्रसंग, इन सभी तत्वों में नारी प्रधान थी। नारी ही को केन्द्र-बिन्दु बनाकर की जाने वाली इस काव्य-साधना में इतना असंयम और इतनी लोलुपता है कि भारतीय नारी की लज्जा, शील, मर्यादा आदि सब गुण इस रसिकता की लहर में बह गये हैं। परकीया नायिकाओं की काव्य में बाढ़ आ गई, पुरुष के 'अनेक मुखी' प्रेम ने साहित्य में परकीयाओं को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दे दिया था इसमें कोई संदेह नहीं, पर वास्तविक जीवन में इन भावनाओं की स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति इतनी आसान न थी। पुरुष के जीवन में सामाजिक बंधनों का अभाव था, उसकी लोलुपता की शारीरिक अभिव्यक्ति की परिणति प्राकृतिक प्रतिक्रिया में नहीं होती, परन्तु नारी पूर्णतः भोग्य पदार्थ होते हुए भी इस क्षेत्र में पराधीन थी। अपनी कामनाओं की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का स्वप्न भी उसके लिए दुराशामात्र था। पुरुष के मनोरंजन की सामग्री बनकर ही उसके जीवन के चरम उद्देश्य की पूर्ति हो जाती थी, अतः अन्य उपभोग्य सामग्रियों की भाँति ही वह कवियों की कल्पना तथा काव्य-रचना की पात्री बनी, जीवन में नारी के प्रति उच्छृंखल तथा गम्भीर दृष्टिकोण रीतिकाल के स्थूल शृंगार के रूप में व्यक्त हुआ, जिसमें नारी के नग्न सौन्दर्य तथा प्रेम-लीलाओं की अश्लीलता की अभिव्यक्ति प्रधान थी, जिसकी नग्नता में योग तत्कालीन नारी के लिए अपने रूप के अप्रतिहत नग्न प्रदर्शन से कम लज्जाजनक न था, शृंगार काव्य में नारी की देन की कमी का यह एक मुख्य कारण है।

पुरुष के लिए अपनी उन्मुक्त भावनाओं का व्यक्तीकरण दुष्कर नहीं होता क्योंकि युग-युगों से चली आती हुई उच्छृंखलता उसके स्वभाव का अंग बन गई है, परन्तु नारीसुलभ लज्जा तथा शालीनता उसे अपनी भावनाओं की मुक्ति की कहानी को स्वच्छन्दतापूर्वक कहने का अवसर नहीं देती। यही कारण है कि साहित्य के किसी युग के पृष्ठ पर नारी द्वारा रचित परकीया प्रेम का वर्णन उपलब्ध नहीं है। नारी की भावनाएँ साहित्य के आदियुग से आधुनिक काल तक केवल अज्ञात के प्रति, अपार्थिव के प्रति या पति के प्रति ही व्यक्त हुई हैं, सामाजिक बंधनों की विषमता भी इसका एक बहुत बड़ा कारण रही है। किसी युग की उच्छृंखल प्रवृत्तियों का उत्तर-

दायित्व एक ही पक्ष पर नहीं रखा जा सकता, उस युग की नारी में रस का अभाव था या इस जीवन के प्रति उसका आकर्षण नहीं था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। रस की प्रत्येक स्थिति पर तथा प्रेम सम्बन्धी क्रियाकलापों में स्त्री पूर्ण सक्रिय है, परन्तु उसकी इस सक्रियता की सार्थकता उसकी उपभोगिता की मात्रा पर आँकी जाती थी, उस युग की शृंगारिक भावना की उच्छृंखल प्रवृत्ति में स्त्रियों का उत्तरदायित्व उनके पूर्ण समर्पण पर ही था, उसने अपने आपको मनोरंजन और क्रीड़ा की सामग्री बन जाने दिय', यही उसका दोष था।

ऐसे उच्छृंखल वातावरण में जिस काव्य की रचना हुई, उसमें साधारण कुलीन स्त्रियों का योग तो असम्भव था, परन्तु राजदरबारों में रहकर इस उच्छृंखल प्रवृत्ति का पोषण करने वाली वेश्याओं के लिए यह साधारण बात थी, नायिकाभेद, अभिसार, मिलन इत्यादि के नग्न चित्रण उनके लिए स्वाभाविक थे क्योंकि इस प्रकार की वस्तुएँ उनके जीवन का अंग बन चुकी थीं, सामाजिक विधानजनित कुंठाएँ उनके जीवन में थीं नहीं, पुरुष की क्रीड़ा सामग्री बनकर जीवन बिताने का स्वप्न ही उन्होंने बाल्यावस्था से देखा था। उस युग का गार्हस्थिक शृंगार यद्यपि अधिक मात्रा में घरों की दीवारों के इर्द-गिर्द सीमित रहता था, पर इस लुका-छिपी की अभिव्यक्ति काव्य में करने की क्षमता उस युग की परिसीमित साधारण नारी-भावनाओं में नहीं थी। इसके विपरीत राजाओं की सभा में रहने वाली वारांगनाओं का सम्पर्क कवियों से होता था, राजकवियों के संसर्ग तथा सम्पर्क में आकर उन्हें काव्य-रचना के सिद्धान्तों से थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त करने का अवसर मिलता था तथा उनके सहयोग से उनके जीवन में प्रेरणा भी मिलती थी। केशवदास की शिष्या प्रवीणराय का उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि के लिए पर्याप्त होगा।

इस प्रकार रीतियुगीन काव्य की शास्त्रीय पृष्ठभूमि, रीति विवेचन, स्थूल-शृंगारिकता तथा नग्न अभिव्यंजना के कारण तत्कालीन नारी उस युग के काव्य में यथेष्ट सहयोग न दे सकी। जिन स्त्रियों के जीवन में शृंगारिक कुंठाएँ नहीं थीं, जिनका जीवन इस भावना की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति में व्यतीत हुआ था, उन्होंने ही शृंगार काव्य में योग दिया। परन्तु यह एक स्मरणीय तथ्य है कि इन स्त्रियों द्वारा रचित शृंगार काव्य सौष्ठव तथा कला की दृष्टि से उस युग के पुरुषों की रचनाओं से टक्कर लेने की क्षमता रखता है। अनेक स्त्रियों की रचनायें यद्यपि साधारण स्तर से भी नीचे हैं, परन्तु कुछ ज्योतिर्मय तारिकाओं का प्रकाश शृंगार काव्य गगन के श्रेष्ठ आलोक पिंडों के समकक्ष है।

प्रवीणराय पातुर—वारांगना कुल में जन्म लेकर अपने पातिव्रत पर गौरवान्वित होने वाली इस नारी के अनुपम व्यक्तित्व की प्रतिभा के विषय में एक असाधारण-

सा अनुमान होता है। प्रवीणराय कवि केशव की काव्य-प्रेरणा थी। कविप्रिया में केशवदास जी ने उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसाओं के पुल बाँध दिये हैं। शारदा, लक्ष्मी, सत्यभामा इत्यादि प्रसिद्ध नारियों से साम्य स्थापित करके उन्होंने उसके महत्त्व-वर्णन में सुन्दर काव्य की रचना की है। उनके ही वर्णन के आधार पर उनके विषय में परिचयात्मक अनुमान किया जाता है।

प्रवीणराय वेश्या थीं तथा ओरछा के राजा इन्द्रजीतसिंह जी की रक्षिता थीं। इन्द्रजीत अपने समय के अत्यन्त रसिक व्यक्तियों में से थे। उनकी संरक्षकता में अनेक वेश्यायें रहती थीं। केशवदास जी का निम्नलिखित पद उनके परिचय के लिए पर्याप्त होगा—

नाचति गावति पढ़ति सब, सबै बजावत बीन।
तिनमें करत कवित्त इक, राय प्रवीन प्रवीन।।

उनके सौन्दर्य तथा विद्वत्ता की उन्होंने बहुत प्रशंसा की है। शारदा और उनमें साम्य स्थापन करते हुए वे कहते हैं—

राय प्रवीन कि शारदा, रुचि-रुचि राजत अंग।
वीणा पुस्तक धारिनी, राजहंस सुत संग।।

यह प्रवीणराय हैं अथवा शारदा है। शारदा के अंग श्वेत कांति से युक्त हैं, इसके अंग भी शृंगार की कांति से रंजित हैं; शारदा वीणा तथा पुस्तक-धारिणी है, यह भी वीणा तथा पुस्तक धारण किये रहती है; शारदा के साथ राजहंस रहता तथा यह भी हंस जात सूर्यवंशी राजा के साथ रहती है।

प्रवीणराय की विद्वत्ता पर विश्वास करने के अनेक आधार हैं। यह पंडिता थीं, उनमें काव्य रचने की क्षमता भी थी तथा संगीत-विद्या में भी यह बहुत प्रवीण थीं। महाराजा इन्द्रसिंह के संगीत-मंडल की ये प्रधान थीं। उनके संगीत, नृत्य तथा काव्य क्षेत्र में प्रवीणता तथा दक्षता के कारण उनकी प्रसिद्धि की सीमा अनुदिन बढ़ रही थी। उनके विषय में अनेक मनोरंजक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि अपने एक हिन्दू सभासद से बादशाह अकबर ने इनकी प्रशंसा सुनकर उन्हें इन्द्रजीत के पास से बुला भेजा। इसके पूर्व इन्द्रजीत इस विषय में कुछ निश्चय करते, प्रवीण-राय ने अपने पातिव्रत की रक्षा के निमित्त उनके पास अपने आग्रह को इन शब्दों में बद्ध करके भेजा—

आई हों बूझन मंत्र तुम्हें निज स्वासन सों सिगरी मति गोई।
देह तजों कि तजों कुल कानि हिये न लजों लजिहैं सब कोई।।
स्वारथ और परमारथ को पथ चित्त बिचारि कहौ तुम सोई।
जामे रहै प्रभु की प्रभुता अरु मोर पतिव्रत भंग न होई।।

पराधीन इन्द्रजीत ने भावना के आवेश में अकबर की आज्ञा का उल्लंघन तो कर दिया, पर बादशाह इस धृष्टता को कैसे सहन कर सकता था। अपनी एक तुच्छ कामना का मूल्य भी उसकी निरंकुश दृष्टि में बहुत था। उसने क्रोधवश इन्द्रजीत को भारी अर्थदंड देकर प्रवीणराय को बलपूर्वक बुला भेजा।

बादशाह की इच्छा के सामने वारांगना प्रवीणराय के अस्तित्व का महत्त्व ही क्या था, परन्तु अपनी वाक्-चातुरी तथा काव्य-कला के बल से उसने आत्मरक्षा की। कलाप्रदर्शन के लिए उसने बादशाह को अनेक गीत सुनाए जिनमें उसने अकबर की महानता तथा ओज का वर्णन कर उसकी क्रुद्ध भावनाओं को द्रवित कर दिया, उनमें से एक यह था—

अंग अनंग नहीं कछु संभु सु, केहरि लंक गयन्दहि घेरे।
भौंह कमान नहीं मृग-लोचन, खंजन क्यों न चगे तिल नेरे॥
है कचसाहु नहीं उदै इंदु सु, कीर के बिम्बन चोंचन मेरे।
कोउ न काहू सों रोस करे सु, डरै उर साह अकब्बर तेरे॥

अकबर उनकी संगीत तथा काव्य-शक्ति पर बहुत प्रसन्न हुआ। जनश्रुति है कि उन्होंने कुछ दोहों की अधूरी पंक्तियाँ कहकर प्रवीणराय से उनकी पूर्ति करने को कहा। प्रवीणराय ने तत्क्षण उनकी पूर्ति कर दी। जिस समय प्रवीण अकबर के दरबार में गई थी उसके यौवन का ज्वार ढल रहा था। उसकी अवस्था को लक्ष्य करके ये पंक्तियाँ कहीं थीं। निम्नलिखित दोहों की प्रथम पंक्तियाँ अकबर तथा दूसरी पंक्तियाँ प्रवीणराय के द्वारा रचित बताई जाती हैं—

युवन चलत तिय देह ते, चटक चलत किहि हेत।
मन्मथ बारि मसाल को, सौंति सिहारो लेत॥
ऊँचे ह्वै सुर बस किये, सम ह्वै नर बस कीन।
अब पताल बस करनि को, ढरकि पयानों कीन॥

अकबर ने प्रवीणराय को धन तथा सम्मान का लोभ देकर उससे अपने दरबार में रहने का आदेश तथा अनुरोध किया, किन्तु वाक्-विदग्धा प्रवीण ने इन शब्दों में उससे विदा माँगी—

विनती राय प्रवीण की, सुनिये साह सुजान।
जूठी पतरी भखत है, बारी बायस स्वान॥

—और हृदय के पारखी अकबर ने उन्हें तत्काल ही इन्द्रजीत के पास भेज दिया। केशवदास तथा बीरबल के अनुरोध से अकबर ने इन्द्रजीत पर लगाया हुआ अर्थ-दंड भी क्षमा कर दिया।

प्रवीणराय द्वारा रचित कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं प्राप्त होता। उनकी जो स्फुट

रचनायें प्राप्त हैं उन्हीं के आधार पर उनकी काव्य-प्रतिभा तथा काव्य-विषय का अनुमान लगाने का प्रयास किया गया है। प्रवीणराय की रचनायें उत्कृष्ट शृंगार की अभिव्यंजनाएँ हैं। उन्होंने संयोग शृंगार के चित्र ही खींचे हैं, वियोग की वेदना तथा पीड़ा कदाचित् जीवन की अनुभूत भावनाएँ न होने के कारण उनकी लेखनी का आश्रय नहीं पा सकी हैं। प्रवीणराय ने शेख की भाँति दूती के माध्यम से शृंगार की विविध अवस्थाओं के चित्र नहीं प्रस्तुत किये प्रत्युत स्वानुभूतियों को ही संगीतबद्ध करके व्यक्त किया है।

इनकी रचनाओं में शृंगार रस के श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं का-सा सौष्ठव है। उनकी कल्पनाओं की ऊँची उड़ान महान् कवियों की कल्पना से टकरा गई हैं। काव्य की भावनाओं तथा अभिव्यंजना के तादात्म्य का सिद्धान्त उनकी रचनाओं पर पूर्ण तथा सार्थक है, कला तथा भावना का रागात्मक गुंफन उनके काव्य की सफलता है। प्रिय की आतुरता का आनन्द उठाती हुई इस नायिका की सुन्दर अभिव्यक्ति के साथ नायक के हृदय की भावनाओं का यह सजीव चित्र इस तथ्य की पुष्टि करेगा—

नीकी घनी गुननारि निहारि नेवारितउ अंखिया ललचाती।
जान अजानत जोरति दीठ बसीठ के ठौरन औरन हूती॥
आतुरता पिय के जिय की लखि प्यारी प्रवीन बई रसमाती।
ज्यों-ज्यों कछु न बसाति गोपाल की त्यों-त्यों फिरै मन में मुस्काती॥

—नेवारि लता के समान कोमल तथा सुन्दर गुणों से युक्त बाला को दूर से देखकर नायक के नेत्र लुब्ध हो रहे हैं, जाने और अनजाने मिल जाने वाली दृष्टि ही संदेशवाहिका बन रही है। आँखों की आकांक्षा में आतुरता के चिह्न देख रसमाती बाला मुस्करा देती है। ज्यों-ज्यों गोपाल विवश होते हैं, वह उनकी विवशता का आनन्द अपनी मुस्कान बनाकर बिखेरती जाती है।

भारतीय आस्था तथा विश्वास में शुभ शकुनों तथा अपशकुनों का विशिष्ट स्थान है, नारी-भावनाएँ इन विश्वासों से उद्वेलित हो जाती हैं। प्रवीण के इस पद में वाम नेत्र के फड़कने पर नारी का उल्लास तथा आशाभरा हृदय व्यक्त है—

सीतल सरीर ढार मंजन के घनसार,
अमल अंगौछे आछे मन में सुधारि हौं।
देहौं न अलक एक लागन पलक पर,
मिलि अभिराम आछी तपन उतारि हौं॥
कहत प्रवीणराय आपनीन ठौर पाय,
सुन वाम नैन या वचन प्रतिपारि हौं।

जब ही मिलेंगे मोहि इंद्रजीत प्रान प्यारे,
दाहिनो नयन मूंदि तोहीं सों निहारि हौं ॥

यद्यपि दाहिना नयन मूँदकर केवल बायें नेत्र से निहारने की कल्पना का यथार्थ रूप उपहासप्रद लगता है, परन्तु प्रियतम से मिलन का संकेत करने वाले उपकरण से जो स्नेह तथा आकर्षण स्वाभाविक है उसकी व्यंजना अस्वाभाविक नहीं है। प्रत्युत व्यंजना में भावना से अधिक विदग्धता है।

शृंगारकालीन काव्य की प्रवृत्ति में तत्कालीन जीवन-दर्शन में नारी के प्रति कामिनी रूप की प्रधानता के कारण, स्थूल शृंगार-भावना ही प्रधान थी। पुरुषों का नारी के प्रति उपभोग्य सामग्री का दृष्टिकोण नायिका-भेदों तथा नखशिख के स्थूल वर्णनों के रूप में व्यक्त होना स्वाभाविक था, परन्तु शृंगारकालीन कवयित्रियों ने भी उसी का अनुकरण किया है, शेख की शृंगार रचनाओं में तो नारी-भावना का आभास भी नहीं मिलता, परन्तु प्रवीणराय अपनी अनुभूतियों की अभि व्यंजना का लोभ संवरण नहीं कर सकी हैं। वारांगना कुल में उत्पन्न होने के कारण, अपने प्रेम सम्बन्धी स्थूल क्रियाओं के चित्रांकन में मर्यादा की सीमा रक्षा की उन्होंने उपेक्षा की। प्रवीण ने अपनी प्रेमाभिव्यक्तियों का चित्रण निर्भीकता से किया है। उदाहरणार्थ—

बैठि परयंक पै निसंक ह्वै के अंक भरौं,
करोंगी अधर पान मैन मत्त मिलियौं।

यही उस युग के नारी-जीवन की सम्पूर्ण सार्थकता थी। इतना ही नहीं, नारीसुलभ लज्जा-विहीन उनकी भावना और भी आगे बढ़ी हुई है—

सैन कियो उर लाय के पानि दुहूँ कुच सम्पुट कीने।

इस प्रकार की उक्तियों में, नारीत्व के क्रय से विमुख होकर भी, उनका एकनिष्ठ प्रेम कुलीन भावनाओं का अतिक्रमण कर जाता है। प्रवीणराय हिन्दी साहित्य की प्रथम लेखिका हैं जिन्होंने लौकिक शृंगार की अभिव्यंजना के लिए अपार्थिव आलम्बन की शरण न लेकर, अपने यथार्थ प्रेम पात्र के प्रति अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति की है।

उनकी आत्मानुभूतियों के चित्रण में उनके जीवन की छाया आवश्यक है, भारतीय सामाजिक व्यवस्था में नारी का स्थान कठपुतली का रहा है। उसके जीवन की सार्थकता उसका नारीत्व ही बना दिया गया है। पति को आत्मसमर्पण कर उसे जीविका प्राप्त होती है, अथवा वारांगना बन अपने रूप और यौवन का खुला क्रय करके तीसरा मार्ग उसके लिए है ही नहीं। प्रवीणराय की उक्तियों के आधार पर उनके उपभोग्य रूप को उस युग के नारी-जीवन का प्रतिनिधि मानने की बात पर एक आशंका उठाई जा सकती है, वह यह है कि प्रवीणराय वेश्या थी। साधारण नारी-जीवन की सार्थकता का अनुमान उनकी उक्तियों के आधार पर लगाना अन्याय-

मूलक होगा, परन्तु मेरे मत से उस युग की साधारण नारी तथा वारांगना के जीवन में एक अन्तर हो सकता है। साधारण नारी-जीवन में सामाजिक व्यवधानों तथा अन्य परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न शृंगारिक कुंठाएँ थीं, वारांगना के जीवन में उस कुंठा का अभाव था। भारतीय नारी के आदर्शों, पातिव्रत तथा एकनिष्ठ प्रेम का दम्भ करने वाले प्राचीनता के प्रेमियों को तथा सावित्री, सीता तथा दमयन्ती के आदर्शों पर गर्व करने वाली और भारतीय संस्कृति के नारीत्व के आदर्शों की पूर्णता पर विश्वास करने वाली नारियों को यह कटु सत्य चाहे विष की घूंट के समान ग्रहण करना पड़े, परन्तु यह सत्य और निर्विवाद है कि रीतियुगीन शृङ्गारप्रियता एकपक्षीय नहीं हो सकती थी। गृहों के आसपास विचरण करने वाला नायक, अमावस्या की रात्रि में अभिसार के लिए निकली हुई नायिकायें, संकेतस्थल, दूतियाँ, केवल परम्परागत संस्कृत काव्य पर आधृत थे, अथवा केवल कल्पना-जगत के प्राणी थे, ऐसा कहकर सत्य को आवरण में छिपाने की चेष्टा उपहासप्रद है। रीतिकाल में जिस गार्हस्थिक वातावरण पर आधृत रसिकता की सृष्टि हुई उसमें भी प्रवीणराय की ये उक्तियाँ शत-प्रतिशत लागू होती हैं, यह कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है।

नारीत्व की उपभोगिता पुरुषों के हाथ में वर्ण्य-विषय बन गई है। साधारण नारी, क्षमता के अभाव में तथा शृङ्गारिक कुंठाओं की उपस्थिति के कारण, व्यक्त नहीं कर पाई है, और स्वच्छंद प्रवृत्ति की स्त्रियों ने जहाँ स्वानुभूतियों के चित्रण की चेष्टा की है, उसमें उनके जीवन तथा तत्कालीन समाज की स्पष्ट छाप है। अतः प्रवीणराय की उक्तियों को नारी समाज के उपभोग्य रूप का प्रतीक मानना अन्याय न होगा।

मधुर कल्पनाएँ तथा चित्रांकन उनके काव्य के सुन्दर उपकरण हैं। मिलन की रात्रि के व्यतीत हो जाने की आशंका, उसके बड़ी होने की कामना की मधुर तथा कलापूर्ण अभिव्यंजना का परिचय इन पंक्तियों से हो सकता है—

कूर कुक्कुट कोटि कोठरी किवारि राखौं,
चुनि दै चिरैयन को मूंदि राखों जलियौ।
सारंग में सारंग सुनाइ के प्रवीन बीना,
सारंग के सारंग की जीति करौं थलियौ॥
बैठि पर्यंक पै निसंक ह्वै के अंक भरौं,
करौंगी अधर पान मैन मत्त मिलियौ।
मोंहि मिलें इन्द्रजीत धीरज नरिन्दराय,
एहो चन्द आज नेकु मंद गति चलियौ।

मिलन की उल्लासमयी बेला समाप्त न हो जाय, इस भय से प्रभातकालीन आगमन के समस्त चिह्नों को वे प्रकृति के नियमों में मानवी शक्ति द्वारा विपर्यय लाकर

परिवर्तन उत्पन्न कर देना चाहती है। क्रूर कुक्कुट को कोठरी में बन्द कर उसके स्वर को भी अवरुद्ध कर दूँगी, पक्षियों को जाली में बन्द कर उनके कलरव को भी बन्द कर दूँगी। वीणा द्वारा चन्द्र के मृगों को विमुग्ध करके तथा दीपशिखा को वस्त्र की आड़ से स्थिर करके मैं रात्रि को भी स्थिर कर दूँगी।

मानवी चेष्टाओं की पहुँच जहाँ तक है वे कुछ करने में उठा न रखेंगी, पर चन्द्र की गति को रोकने के लिए वे याचना करती हैं—हे चन्द्र ! आज तुम्हारी छाया में मुझे इन्द्रजीत मिले हैं, तुम तनिक मन्द गति से चलना।

इन पंक्तियों में उनकी प्रत्यक्ष उक्ति है तथा नारी की कामिनी भावनाओं का व्यक्तीकरण है।

शृंगार की मिलन-भावना के वर्णन के अतिरिक्त उन्होंने नारी की अभिव्यक्ति का वर्णन पुरुष के दृष्टिकोण से भी किया है। नारी के रूप-वर्णन में उनकी दृष्टि में भी भूख और तृष्णा है, इस मादक नारी की आकर्षणभरी गति में इसी प्रकार की भावना व्यक्त है—

छूटी लटें अलबेली-सी चाल भरे मुख पान खरी कटि छीनी।
चोरि नगारा उघारे उरोजन मोहन हेरि रही जु प्रवीनी ।।

उनकी शैली चित्रमय है, मानिनी नायिका तथा विनीत नायक का यह सुन्दर चित्र उनकी कला का प्रतीक है—

मान के बैठी है प्यारी प्रवीण सो देखे बने नहीं जात बनायो।
आतुर ह्वै अति कौतुक सों उत लाल चलै अति मोद बढायो ।।
जोरि दोऊ कर ठाढ़े भये करि कातर नैन सो सैन बतायो।
देखत बैंदी सखी की लगी मित हेरयो नहीं इत यों बहरायो ।।

वाक्-विदग्धता का भी उनमें अभाव नहीं है। केशवदास की रामचन्द्रिका में उनके द्वारा रचित नारी उनकी वाक्-विदग्धता तथा काव्य-कौशल का उदाहरण है। पृथ्वी को दशरथ की पत्नी मानकर उन्होंने अनेक पृथ्वीपतियों के साथ उसके अवैध सम्बन्ध की कल्पना करके बड़ी रोचक गाली की रचना की है। उसकी कुछ पंक्तियाँ उसमें व्यक्त हास्य, शृंगार तथा विदग्ध का परिचय देंगी।

छंद की लय में लिखी हुई यह रचना वर रूप राम को सम्बोधित करके आरम्भ होती है—

अब गारि तुम कहँ देहिं हम, कहि कहा दूलह राय जू।
कछु बाप विप्र परदार सुनियत, करो कहत कुवाय जू ।।
को गनै कितने पुरुष कीन्हें, कहत सब संसार जू।
सुनि कुँवर चित दै बरनि ताको, कहिये सब व्यौहार जू ।।

बहु रूप सों नवयौवना बहु रत्नमय बपु मानिए।
पुनि वंश रत्नाकर बन्यौ अति चित्त चंचल जानिए ॥

× × ×

वह हरी हठि हिरनाक्ष दैयत देखि सुन्दर देह सौं।
वरवीर यज्ञ बरात वर ही लई छीनि सनेह सों ॥
रह गई विह्वल अंग पृथु फिरि सजै सकल सिंगार जू।
पुनि कछुक दिन वश भई ताके लियो सरबस सार जू ॥
वह गयो प्रभु परलोक कीन्हों हरणकश्यप नाथ जू।
तेहि भाँति भाँतिन भोगियो भ्रमि पल न छाँड्यो साथ जू ॥

इसी प्रकार अनेक विजेताओं के साथ पृथ्वी के प्रेम का सुन्दर वर्णन करने के पश्चात् दशरथ के पास आने की कहानी इन व्यंग्यपूर्ण शब्दों में करती हैं—

इक बीस बेरन दई विप्रन रुधिर जल अन्हवाई के।
वह रावरे पितु करी पत्नी तजी विप्रन थूकि के।
अरु कहत हैं सब रावणादिक रहे तो कहँ ढूँढि के ॥
यहि लाज मरियत ताहि तुम सों भयो नातो नाथ जू।
अब और मुख निरखै न ज्यों त्यों राखियो रघुनाथ जू ॥

इस रचना का वर्णन-कौशल, कल्पना तथा भावुकता के साथ व्यंग्य तथा हास का स्पर्श, पृथ्वी का मानवीकरण तथा अनेक पौराणिक आख्यायिकाओं के आधार पर उसके प्रेम तथा क्रिया-कलापों की कल्पना प्रवीणराय की प्रतिभा तथा अभिव्यंजना की शक्ति की परिचायक है।

उनकी प्रखर वाक्शक्ति की सीमा केवल इसी रचना पर समाप्त नहीं हो जाती, अनेक शृंगारिक रचनाओं में भी उनके मुखर व्यक्तित्व के स्वर सुनाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ—

दोहा लाल कह्यो सुन्यो, चित दे नारि नवीन।
ताको आधो विंदु युत, उत्तर दियो प्रवीन ॥

प्रवीणराय की भाषा संस्कृत-मिश्रित साहित्यिक ब्रजभाषा है। संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों के शुद्ध प्रयोग उनके भाषा सम्बन्धी ज्ञान के परिचायक हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान था। उनके कतिपय पदों में व्यक्त भावनाएँ भी संस्कृत के तद्विषयक वर्णनों से प्रभावित मिलती हैं।

केशवदास संस्कृत के महान् आचार्य तो थे ही, कदाचित् उनके संसर्ग तथा शिष्यत्व के द्वारा इन्हें भी संस्कृत का अध्ययन करने का अवसर मिला हो। यद्यपि उनके रसिक व्यक्तित्व के साथ अध्ययनप्रियता का सामंजस्य करते हुए कुछ संतोष नहीं होता,

परन्तु उनकी रचनाओं में संस्कृत-प्रभाव, संस्कृत, पदावलियों का शुद्ध प्रयोग, तत्सम शब्दों के प्रयोग आदि ऐसी वस्तुएँ हैं जिससे उनका संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार प्रमाणित होता है। उदाहरणार्थ—

कमल कोक श्रीफल मंजीर कलधौत कलश हर।
उच्च मिलन अति कठिन दमक बहुत स्वल्प नीलधर॥
सरवर सरवन हेम मेरु कैलास प्रकाशन।
निशि वासर तरुवरहिं काँस कुन्दन दृढ़ आसन॥
इमि कहि प्रवीण जल थल अपक अविध भजित तिय गौरी संग।
कलि खलित उरज उलटे सलिल इंदु शीश इमि उरज ढंग॥

आश्चर्य यह है कि इनकी भाषा पर बुंदेलखण्डी का प्रभाव प्रायः बिलकुल नहीं है। इनकी भाषा में उर्दू-स्पर्श भी नहीं है, भाषा के इस संस्कृतमय परिष्कृत रूप का पूर्ण श्रेय कदाचित् केशवदास जी को ही है जिनके पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व की छत्र-छाया में प्रवीणराय अपनी भावनाओं को काव्य रूप देने में समर्थ हो सकीं। इनकी भाषा यद्यपि संस्कृतमयी और सरस है, पर उसमें अलंकृत शब्दचयन अधिक नहीं है। सानुप्रासिक शैली का प्रवाहमयी गति उसमें नहीं है, परन्तु शाब्दिक चमत्कारों का पूर्ण अभाव भी नहीं है।

वृत्यानुप्रास तथा छेकानुप्रास के प्रयोगों में अधिकतर कोमल वर्णों की ही आवृत्ति है। अनुप्रास के उदाहरण रूप में उनकी ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

कूर कुक्कुट कोटि कोठरी किवारि राखौं,
चुनि दै चिरैयन को मूँदि राखौं जलियौ।

× × ×

बैठि पयंक पै निसंक ह्वै के अंक भरों।

यमक के प्रयोग अधिक नहीं हैं परन्तु जो हैं वे शब्दों की विकृति के बिना ही प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ—

सारंग में सारंग सुनाइ के प्रवीन बीना,
सारंग के सारंग की जोति करौं थलियौ।

इन शब्द-चयनों से अधिक सफलता मिली है उन्हें भावों पर आधृत सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना में उदाहरण के लिए—

चिबुक कूप, मद डोल तिल, वंधन अलक की डारि।
दृग मिस्ती हित ललकि तिन जल छबि भरत झकोरि॥

अपने युग में प्रचलित मुख्य छंदों में उन्होंने काव्य-रचना की है। दोहा, छंद, कवित्त, सवैया, सोरठा इत्यादि छंदों का प्रयोग उन्होंने किया है। छंद-द्रोष शायद कहीं

अपवाद रूप में आ गया हो, नहीं तो उनके छंदों के लय का प्रवाह सौष्ठवपूर्ण तथा दोषरहित है।

भावना की मौलिकता तथा कलात्मक अभिव्यंजना की दृष्टि से प्रवीणराय का स्थान श्रृंगार के उत्कृष्ट कवियों के साथ रखा जा सकता है, उनके काव्य में उनका मुखर तथा रसिक व्यक्तित्व बोलता-सा प्रतीत होता है। मुखर अनुभूतियाँ, सूक्ष्म निरीक्षण, कलात्मक भावाभिव्यंजना, उनमें झलकते हुए उनके जीवन के अनुभव तथा उनका पाण्डित्य उनका रचनाओं को श्रृंगार-काव्य जगत् में अमर बनाये रखेंगे।

रूपवती बेग़म—इस भावुक तथा रसिक नारी की समस्त रचनायें यद्यपि प्राप्त नहीं होतीं, उसके द्वारा रचित काव्य के नाम पर दो-चार साधारण भावयुक्त उक्तियाँ ही मिलती हैं, उन साधारण पंक्तियों की प्रेरणा का मनोरंजक इतिहास यहाँ अप्रासंगिक नहीं है।

रूपवती उज्जैन के निकट सारंगपुर गाँव की वेश्या की पुत्री थी। उसकी तीक्ष्ण बुद्धि, काव्य-प्रतिभा तथा संगीत-प्रेम के विषय में अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। उसके काव्य-कौशल तथा संगीत-निपुणता के कारण मालवा के नवाब बाजबहादुर उस पर मुग्ध हो गये और उनकी कृपा की एक कोर रूपवती के जीवन का वरदान बन गई, तथा वह उनके यशगान के रूप में उनके महल में आ गई। हिन्दी के मुसलमान कवियों में दिये हुए उद्धरण के अनुसार, अकबर ने बाजबहादुर पर आक्रमण करके उन्हें पराजित कर दिया, और बाजबहादुर के सिपाहियों ने उनके शत्रुओं के हाथ में पड़ जाने के डर से उन्हें अन्य बेग़मों के साथ क़त्ल कर दिया। अकबर के सेनापति के बहुत सेवा-सुश्रूषा करवाने पर वे स्वस्थ हो गईं। तब उसने उन पर अपनी अभिलाषा प्रकट की। अन्त में रूपवती ने आत्महत्या करली और निम्नलिखित दोहा खाँ साहब के लिए लिखकर छोड़ गईं—

रूपवती दुखिया भई, बिना बहादुर बाज।
सो अब जियरा तजत है, यहाँ नहीं कुछ काज॥

मुंशी देवीप्रसाद जी के नागरी प्रचारिणी पत्रिका के तीसरे भाग में प्रकाशित रूपवती तथा बाज़बहादुर की कविता नामक लेख से इनके जीवन पर बहुत प्रकाश पड़ता है। फ़ारसी उर्दू ग्रंथों के उल्लेखों के आधार पर उन्होंने रूपवती के विषय में निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार रूपवती सारंगपुर की एक चतुर सुजान पातुर थी। अब्दुल कादिर बदायुनी के शब्दों में वह आम और ख़ास में पद्मिनी मशहूर थी। उसकी गानशक्ति का वर्णन करते हुए तवारीख़े मालवे में मुंशी करमअली ने लिखा है कि तानसेन जब दीपक-राग की ज्वाला से व्याकुल हो रहा था

तो रूपवती ने मल्हार-राग गाकर बादलों को निमन्त्रण देकर प्रकृति पर कला की विजय-घोषणा की। बाज़बहादुर दुर्गावती से लड़ाई हारकर आने के पश्चात् लज्जा के कारण सारंगपुर से बाहर नहीं गया। बाज़बहादुर के रसिक व्यक्तित्व में काव्य तथा संगीत के प्रति एक विशेष आकर्षण था। रूपवती ने अपनी अपार रूप-राशि तथा संगीत और काव्य-गुण से बाज़बहादुर को मुग्ध तो कर ही लिया, स्वयं भी उस पर मुग्ध हो गई। बाज़बहादुर इस हास-विलास में अपने जीवन के अन्य उत्तरदायित्वों को बिलकुल ही भूल गया जिसके परिणामस्वरूप उसे अकबर से युद्ध में पराजय मिली, और उसे रण छोड़कर भागना पड़ा तथा जन्मभर कष्ट उठाना पड़ा।

रूपवती अकबर के सेनानायक अहमदख़ाँ के हाथ में पड़ गई। उसे सिपाहियों के वारों से काफी चोट आ गई थी। इक़बालनामा जहाँगीरी में लिखा है कि रूपवती ने अहमदख़ाँ से एक महात्मा पुरुष शेख़ अहमद के पास भेजे जाने का आग्रह किया। यह वचन देकर कि जब घाव भर जायँगे मैं आपकी सेवा में आ जाऊँगी वह शेख़ अहमद के पास आ गई। शरीर के घाव अच्छे हो जाने पर अहमद ने उसे बुलाने का निश्चय किया। रूपवती ने अपनी रक्षा का और कोई उपाय न देखकर ख़ाँ से शृंगार करने के बहाने केसर, कपूर, कस्तूरी, इत्र तथा फुलेल मँगाये और हथेली भर कपूर खाकर आत्महत्या करली।

अकबरनामे में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है कि अहमद ख़ाँ ने रूपवती को लेने के लिए आदमी भेजे। जब यह भनक रूपवती के कान में पड़ी तो उसने ज़हर खा लिया। रूपवती की कब्र सारंगपुर में है। तवारीख़े मालवा में लिखा है कि रूपवती का कुण्ड और उसकी क़ब्र एक तालाब में है। परन्तु मआसिरुल उमरा के अनुसार बाज़बहादुर और रूपवती दोनों उज्जैन के तालाब के बीचोबीच एक पुश्ते पर एक कमरे में आराम कर रहे हैं। कुछ अन्य लोगों का मत है कि माँडू में रेवाकुण्ड पर रूपवती की क़ब्र है और उसके सामने बाज़बहादुर के महल हैं।

मुंतख़िबुल नुबाब के अनुसार रूपवती वेश्या होते हुए भी पतिव्रता थी, किसी के हाथ से अपने वस्त्रों का स्पर्श हो जाने के कारण वह ज़हर खाकर मर गई। इस असाधारण रूपसी के जीवन का उल्लेख तो अनेक ग्रंथों में मिलता ही है, उसकी काव्य-रचना के विषय में अनेक उल्लेख विभिन्न ग्रंथों में मिलते हैं। बाज़बहादुर और रूपवती की कविता के विषय में जो उल्लेख प्राप्त हैं उनमें दो प्रकार के कथन मिलते हैं—एक तो वे जिनके अनुसार बाज़बहादुर रूपवती के नाम से काव्य-रचना करता था, और दूसरा जो रूपवती को भी काव्य-रचना से परिचित प्रमाणित करते हैं। इस प्रकार के मुख्य उल्लेख ये हैं—

१. अकबरनामे के उल्लेख के अनुसार बाज़बहादुर हिन्दी शेर रूपवती के लिए

कहकर अपना दिल हल्का करता था।

२. 'तबकाते अकबरी' के अनुसार बाज़बहादुर हिन्दी शेर करता था जिसमें रूपवती का नाम रखा करता था।

३. 'मुंतखिबुल नुबाब' में लिखा है कि रूपवती हिन्दी शेर नाज़ुक मज़मूनों को खूब कहती थी।

४. 'मग्रासिरेर' के अनुसार बाज़बहादुर अपने हिन्दी शेरों में रूपवती का नाम दाखिल करता था।

५. 'सैरुलमुताखिरीन' में उल्लेख मिलता है कि रूपवती गाने में बेनज़ीर थी, हिन्दी ज़बान में अकसर मज़मून बाँधती थी और उनमें अपना नाम इस खूबसूरती से लाती थी कि दिल लोट-पोट हो जाता था।

६. 'हिन्दुओं की मशहूर औरतें' के नाम से एक उर्दू पुस्तक लाहौर से छपी थी। उसमें लिखा है कि रूपवती के बनाये गीत मालवे की सीधी-सादी ज़बान में हैं, उनसे दिल का दर्द टपकता है।

इस प्रकार के द्वैमतीय उल्लेख रूपवती की काव्य-रचना के विषय में संशय उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हैं, परन्तु उनकी रचनाओं के क्रियापदों में स्त्रीलिंग का प्रयोग तथा काव्य में स्वानुभूतियों का वर्णन बाज़बहादुर के प्रति प्रणय-भावना की अभिव्यक्ति उस संशय का निवारण कर देने के लिए पर्याप्त है। उनके द्वारा रचित दो दोहे तथा एक पद मिलते हैं, जिसमें व्यक्तिगत जीवन के उल्लेखों की उपस्थिति में उनकी काव्य-रचना के विषय में कुछ भी शंका नहीं रह जाती।

अहमदखाँ के प्रणय-प्रस्ताव पर आत्महत्या के प्रसंग में एक दोहे का उल्लेख हो चुका है। बाज़बहादुर के वियोग-काल में लिखा हुआ एक दोहा मिलता है—

बिना पिया पापी जिया, चाहत है सुख साज।
रूपवती दुखिया भई, बिना बहादुर बाज॥

धार राज्य के मीर मुंशी अब्दुर्रहमान जी के द्वारा प्राप्त एक पद का उल्लेख भी मुंशी देवीप्रसाद जी ने किया है, यह इस प्रकार है—

और धन जोड़ता है री मेरे तो धन प्यारे की प्रीत पूँजी।
कहू त्रिया की न लागे दृष्टि, अपने कर राखूँगी कूँजी॥
दिन-दिन बढ़े सवायो डेवढ़ो, घटे न एको गूँजी।
बाज बहादुर के स्नेह ऊपर निछावर करूँगी धन और जी॥

इन्हीं पंक्तियों का गद्य रूप 'हिन्दुओं की मशहूर औरतें' पुस्तक में मिलता है—

—जो दौलतमंद हैं उनको घमंड करने दो, यहाँ तो निष्कपट प्रेम से आनन्द है। इस खज़ाने पर मज़बूत ताला लगा हुआ है जिसकी मैं रखवाली हूँ और जो पराई

आँखों से बचा हुआ और बेखटके है, उसकी कुञ्जी मेरे पास है। यह पूँजी दिन-दिन कुछ-न-कुछ बढ़ती ही है। इसको घटने से क्या काम है ? मैंने अपने मन में यह ठान लिया है कि लाभ हो या हानि जन्मभर बाज़बहादुर का साथ दूँगी।

यद्यपि अनुवाद काफ़ी विकृत है, परन्तु दो विभिन्न स्थानों पर एक ही प्रकार के उल्लेख का प्राप्त होना उस वस्तु के अस्तित्व का प्रमाण है।

रूपवती की कविता के इन कतिपय अंशों को देखकर उनके काव्य के विषय में निश्चित धारणा बनाना तो कठिन है, परन्तु एक अनुमान-रेखा अवश्य बनाई जा सकती है। जीवन सम्बन्धी घटनाओं पर भावनाओं की प्रतिक्रिया का व्यक्तीकरण उन्होंने काव्य में किया है, परन्तु उन रचनाओं का कलापक्ष पूर्णतया नगण्य है। घटनाओं का वर्णन, बाज़बहादुर के प्रति स्नेह का संकेत तथा उसके गम्भीर प्रभाव का अभिव्यंजना सीधी-सादी उक्तियाँमात्र हैं। भावों की सरलता ही उनकी सुन्दरता है, इसके अतिरिक्त सौष्ठव, कला इत्यादि के विषय में, जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कुछ इतिहासकारों ने की है, सर्वथा निराश होना पड़ता है। पदों के विकृत लय-भंग, छंद तथा शब्दों की तोड़-मरोड़, उनके काव्य के कला-पक्ष की पूर्ण हीनता के प्रमाण हैं, पर इन समस्त विकृतियों में छिपा हुआ उनके स्नेह-सिक्त नारी-हृदय की भावनाओं की मुस्कान हृदय को आकर्षित कर लेती है। बाज़बहादुर को सर्वस्व अर्पण कर देने वाली इस वारांगना के शब्दों का सत्य तथा उल्लास अभिव्यंजना प्रसाधनों की न्यूनता के कारण छिप अवश्य जाता है, पर नारी की अपने प्रेमी पर एकाधिपत्य भावना तथा प्रेमी के प्रति उसकी हित कामनाएँ उनकी सर्वदोषयुक्त अभिव्यंजना शैली होते हुए भी साकार हो जाती हैं।

"संसार के समस्त जन धन एकत्रित करते हैं, पर मेरा वैभव तो प्रिय के द्वारा प्राप्त प्रेम की पूँजी पर ही निर्भर है। अपनी उस पूँजी को मैं सुरक्षित करके रखूँगी तथा उसकी कुञ्जी भी अपने ही पास रखूँगी जिससे किसी अन्य स्त्री की दृष्टि उस पर न पड़ जाय। इस प्रेम की पूँजी में अनुदिन वृद्धि होती जाती है, उसमें से एक गुंजा भी कम नहीं होता। बाज़बहादुर के स्नेह के लिए मैं प्राण तथा धन सर्वस्व न्यौछावर कर दूँगी।"

उर्दू प्रधान वातावरण में रहते हुए भी, उनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का प्रयोग है। दृष्टि, त्रिया, पापी, स्नेह इत्यादि शब्दों का अस्तित्व मुसलमानी वैभव में पनपती हुई भाषा के प्रभाव से युक्त वातावरण में आश्चर्य का कारण है, परन्तु ऐसा अनुमान होता है कि बाज़बहादुर के संसर्ग में आने के पूर्व उनका पालन-पोषण हिन्दू वातावरण में हुआ था जिससे उन्हें हिन्दी तथा संस्कृत से कुछ परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला था।

यह सत्य है कि मध्यकालीन जीवन की कुंठाओं में नारी द्वारा सर्जित साधारण रचनायें भी बहुत महत्त्व रखती थीं, परन्तु उनके काव्य के विषय में प्राप्त अनेक अतिशयोक्ति-पूर्ण उल्लेख उनके काव्य की साधारणता का उपहास-सा करते हुए प्रतीत होते हैं।

तीन तरंग—मध्यकाल की सामन्तीय व्यवस्था में रक्षिताओं तथा वेश्याओं की संख्या गौरव तथा शक्ति की प्रतीक थी। सामन्तों की सभाओं में वेश्याओं का रहना उस युग में साधारण प्रचलन था। तीन तरंग ओरछा नरेश महाराज मधुकर शाह के आश्रित ओरछा दरबार की आश्रित वेश्या थी। इसका उल्लेख बुन्देल वैभव की कवयित्रियों के मध्य मिलता है। इनका जन्म सम्वत् १६१२ तथा रचनाकाल संवत् १६४० माना जाता है। इनका लिखा हुआ कोकशास्त्र ग्रंथ कहा जाता है।

शेख रंगरेजन—मुसलमानी वैभव के उन्मुक्त विलास के अवैध चिह्न आज भी लखनऊ की फूलवालियों तथा पानवालियों के स्वच्छन्द व्यवहार में जीवित हैं। रीतियुग की मादकता और मस्ती में इन्हीं मुक्त क्रिया-कलापों की भरमार थी। गार्हस्थिक प्रेम-लीलाओं के साथ, वारांगनाओं तथा अन्य स्वच्छन्द वृत्ति वाली स्त्रियों का भी बोलबाला था। शेख के व्यक्तिगत जीवन के विषय में तो अधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसका कोई निश्चित् ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता, परन्तु यह निश्चित है कि उसके व्यक्तित्व में साधारण नारी की परिसीमाओं की कुंठा नहीं थी। आलम से परिचय होने से पूर्व ही उन्हें काव्य-रचना का ज्ञान था, और उनकी प्रतिभा मुखर थी। उनके जीवन का प्रारम्भिक परिचय ही उनके व्यक्तित्व का परिचायक बनने के लिए यथेष्ट है।

शेख का उल्लेख प्रायः समस्त खोज ग्रंथों तथा इतिहासों में मिलता है। आलम से परिचय होने से पूर्व उनके जीवन के विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनका जन्म एक मुसलमान घराने में हुआ हुआ था, ये जाति की रंगरेज थीं तथा कपड़े रंगकर ही जीविका निर्वाह करती थीं। इसी वृत्ति ने उनके जीवन तथा भावनाओं को विकास का महान साधन दिया। नैतिक उच्छृंखलता के उस युग में शेख तथा आलम की पुनीत प्रेम-ग्रंथि प्रेम की अनेकमुखी रसिकता पर एकनिष्ठ प्रेम के विजय की घोषणा करती है। दो एक दूसरे के लिए बने प्राणी समाज, धर्म और सम्पूर्ण संसार के विरोधों की शृंखला तोड़कर, अनेक बन्धनों का अतिक्रमण कर मिल गये। दोनों की भावनाओं को जो पारस्परिक भावगत सामंजस्य प्राप्त हुआ उन्होंने उनकी प्रेम-गाथा को अमर बना दिया।

श्री शिवसिंह जी ने आलम तथा शेख दोनों ही का उल्लेख शिवसिंह सरोज में किया है। उनके मतानुसार आलम सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका रचनाकाल साधारणतः

सम्वत् १७४० से १७७० तक माना जाता है। आलम केलि की हस्तलिखित प्रति की तिथि १७५३ है, अतः यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि आलम का समय अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध का आरम्भ रहा होगा। आलम औरंगजेब के पुत्र मुअज्ज़म के दरबार में रहते थे। आलम के निश्चित् समय के आधार पर ही शेख के समय का भी अनुमान किया जा सकता है, परन्तु उनकी जन्म-तिथि तथा मृत्यु-तिथि का ठीक-ठीक निश्चय अभी नहीं हो सका है।

शेख तथा आलम के प्रणय के आरम्भ की कथा यद्यपि प्रसिद्ध है, पर उसका उल्लेख इस प्रसंग में आवश्यक प्रतीत होता है। परिचय से पूर्व आलम ने शेख के यहाँ अपनी पगड़ी रंगने को भेजी, उसकी छोर में एक कागज़ पर दोहे की अधूरी पंक्ति लिखी थी—

कनक छरी-सी कामिनी, काहे को कटि छीन।

मुखर तथा कुशाग्र बुद्धि शेख ने दूसरी पंक्ति लिखकर दोहे को पूर्ण कर दिया—

कटि को कंचन काटि विधि, कुचन मध्य धरि दीन॥

शेख द्वारा पूर्ति किये गये इस दोहे के विषय मे काफी मतभेद है। मुंशी देवीप्रसाद जी के अनुसार जिस पद की पूर्ति शेख ने की थी, वह दोहा नहीं एक कवित्त था, जिसके तीन पद आलम ने पूरे कर लिये थे और चौथा शेष था। पद इस प्रकार है—

प्रेम के रंग पगे जगमगे जामिनी के,
जीवन की जोति जोग जोर उमगत हैं।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झुकि-झुकि झंपि उघरत हैं॥
आलम सा नवल निकाई इन नैननि की,
पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं।

शेख ने अन्तिम इन पंक्तियों को लिखकर कवित्त को पूरा किया—

चाहत हैं उड़िबे का देखत मयंक मुख,
जानत हैं रैनि ताते ताहि में रहत हैं॥

पद चाहे कुछ भी रहा हो पर यह निश्चित् है कि इस प्रकार की घटना उनके जीवन में हुई थी। आलम इस अनोखी काव्य-प्रतिभा पर अनायास ही मुग्ध हो गये। उनके कवि-हृदय की भावुकता ने समस्त धार्मिक तथा सामाजिक बंधनों का अतिक्रमण कर शेख को अपना पूरक बनाने के लिए आतुर हो उठी। आलम उस पर इतने मुग्ध हो गये कि जब तक अपनी भावनाओं को वैवाहिक शृंखलाओं द्वारा स्थिर और सुदृढ़ नहीं बना लिया उन्हें संतोष नहीं हुआ।

शेख के विषय में प्रचलित अनेक कहानियों से प्रमाणित होता है कि उनका

जीवन विवाह के पश्चात् भी काफी स्वतंत्र था। उनके पुत्र का नाम जहान था। ऐसा ज्ञात होता है कि मध्यवर्गीय कुलीन स्त्रियों के जीवन के बन्धन उनके जीवन में नहीं थे। शाहज़ादे मुअज्ज़म के साथ जिस प्रकार के विनोद का उल्लेख मिलता है, उससे ऐसा भास होता है कि वे राजदरबार इत्यादि स्थानों पर स्वच्छन्दतापूर्वक आती-जाती थीं। एक दिन मुअज्ज़म ने शेख से पूछा, "क्या आलम की पत्नी आप ही हैं ?" शेख ने प्रस्तुत उत्तर दिया, "हाँ, जहाँपनाह ! जहान की माँ मैं ही हूँ।" इस हास-प्रतिहास से शेख के मुखर व्यक्तित्व का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही उनके जीवन की स्वाधीनता की रेखा भी स्पष्ट दिखाई देती है।

'आलमकेलि' की रचनाओं की एकरूपता के आधार पर अनेक आलोचक शेख के नाम से लिखी कविताओं को भी आलम द्वारा रचित ही मानते हैं, परन्तु शेख के जीवन के निर्माण में कवित्व की प्रधान प्रेरणा को देखते हुए उनके विषय में इस प्रकार की शंका अन्यायपूर्ण है। शेख की कवित्व शक्ति पर मुग्ध होकर ही आलम ने धर्म की सीमा का उल्लंघन कर उनसे विवाह किया था, अतः उनकी प्रतिभा के विषय में तो किसी प्रकार का सन्देह किया ही नहीं जा सकता। शेख की इस प्रतिभा को देखते हुए उसके नाम से लिखे हुए कवित्तों और सवैयों को आलम द्वारा प्रणीत मानना अन्याय होगा। रही एकरूपता की बात, वह शेख तथा आलम के संसर्गजन्य प्रभाव को ध्यान में रखने से पूर्णतया नगण्य पड़ जाती है। अतः आलम केलि में संगृहीत शेख के नाम से लिखे हुए कवित्तों को आलम द्वारा प्रणीत मानने का कोई कारण शेष नहीं रह जाता।

आलम तथा शेख की कविताओं का संग्रह आलमकेलि के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में सुरक्षित है। आलमकेलि शृंगार रस का उत्कृष्ट ग्रंथ है। सम्पूर्ण ग्रंथ ब्रजभाषा में है। यह इस दम्पति की संयुक्त रचना है जिसमें रीतिकालीन शृंगारिक काव्य की परम्परा के अनुसार प्रेम-लीलाओं तथा नायिका-भेदों का वर्णन है। पदावली के आरम्भ में कुछ बाल-लीला के पद हैं जिनमें एक पद शेख का लिखा हुआ है। इस पद में गंगाबाई के वात्सल्य का सौष्ठव तो नहीं है, परन्तु कृष्ण के बालजीवन का स्वाभाविक तथा सुन्दर चित्रण है, बालक कृष्ण की चंचलता यशोदा की मातृवत्सलता सुन्दर शब्दों में चित्रित है—

बीस विधि आऊँ दिन बारीये न पाऊँ और,
याही काज वाही घर बाँसनि की बारी है ॥
नेकु फिर अइहैं कइहैं दै री दै जसोदा मोंहि,
मों पै हठि मांगे बंसी और कहूँ डारी है ॥

सेख कहै तुम सिखवौ न कछु राम याहि,
भारी गरिहाइनु की सीखे लेत गारी है।
संग लाइ मइया नेकु न्यारो न कन्हैया कीजे,
बलन बलैया लैके मैया बलिहारी है॥

बाल-लीला का यह चित्र सुन्दर तथा सजीव बन पड़ा है।

इस संग्रह का दूसरा शीर्षक है—वयःसन्धि। इस प्रसंग के केवल दो कवित्त हैं जिनमें से एक में न तो शेख का नाम है और न आलम का। दूसरा कवित्त आलम द्वारा रचित है।

नवोढ़ा वर्णन के अनेक कवित्तों के साथ शेख द्वारा रचित एक कवित्त भी है। शेख की शृंगार-भावना में एक बात ध्यान देने की है कि उनके काव्य में नारी-हृदय की शृंगारिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना नहीं है। अपने युग के कवियों की भाँति ही उन्होंने नारी पर उपभोग प्रधान दृष्टि ही डाली है। नारी-हृदय का प्रेम, उसकी कामना कुछ भी व्यक्त नहीं है, रसिक पुरुषों के स्वरों में स्वर मिलाकर उन्होंने भी नायिकाओं का वर्णन उसी प्रकार किया है जिस प्रकार पुरुषों ने। यह अवश्य सत्य है कि इन वर्णनों में नारी की प्रत्यक्षानुभूति के अभाव में भी काफ़ी सजीवता तथा यथार्थता है।

नायक की दूती की यह मुखर वाणी सलज्ज नारीत्व से बहुत दूर दृष्टिगत होती है, उनके काव्य में परम्परागत काव्य-रचना का अनुकरणमात्र है, पर उस अनुकरण में इतनी यथार्थता का अस्तित्व वास्तव में आश्चर्य का विषय है। अनूढा बालिका का भय, उसकी शंका सब कुछ शेख की कल्पना में सजीव है—

कीनी चाहौ चाहिली नवोढ़ा एकं बार तुम,
एक बार जाय तिहि छल डरु दीजिये।
सेख कहौ आवन सुहेली सेज आवे लाल,
सीखत सिखैगी मेरी सीख सुन लीजिये॥
आवन को नाम सुन सावन कियो है नैना,
आवन कहै सु कैसे आइ जाइ छीजिये।
बरबस बस करिवे को मेरो बस नहीं,
ऐसी बैस कहौ कान्ह कैसे बस कीजिए?

नारी के प्रति इस दृष्टिकोण के चित्र आज की नारी की भृकुटी वंकिमा बन इस जीवन-दर्शन के प्रति एक अवनयकारी भावना से भर जाता है। पुरुष द्वारा की हुई इस प्रकार की अभिव्यंजनाओं में उनके हृदय, उनकी प्रवृत्तियों तथा उनके मानस का इतिहास व्यक्त है, परन्तु नारी ने अपनी इस उपभोगिता को ही जीवन की सार्थकता मान लिया था।

रीतिकाल के साधारण स्वरों में मिले हुए नारी के स्वर उस तथ्य का पूर्णतया प्रतिपादन करते हैं। प्रथम समागम के भय से आकुल बालिका के विषय में नायक को आश्वासन देती हुई दूती के ये स्वर किसी नारी द्वारा लिखे गये हैं, यह भावना बड़ी विचित्र लगती है।

दूती नायक से कहती है, तुम उस नवोढा को एक बार में ही अपना लेना चाहते हो, अभी तो उसके लिए तुम्हें प्रयास करना पड़ेगा। मेरी सीख मानकर इस बात से धैर्य धारण करो कि वह सीखते-सीखते सीखेगी। अभी तो वह नवोढ़ा आने के नाम से ही नेत्रों को सावन बना लेती है। उसको विवश करके लाने की क्षमता मुझ में नहीं, तुम्हीं बताओ कान्ह इस वयस में उसे किस प्रकार वश में लाया जा सकता है ?

प्रौढ़ा अभिसार—वर्णन के प्रसंग में शेख द्वारा रचित कोई पद नहीं है। अभिसार के चित्र सुन्दर तथा सजीव हैं। कल्पना की उड़ान भी ऊँची है। शेख, जैसा कि अनेक बार कहा जा चुका है, साधारण कुलशीला नारियों से भिन्न थी, उनके शृंगार की अभिव्यंजना में पुरुष के दृष्टिकोण के व्यक्तीकरण का एक और भी कारण अनुमान किया जा सकता है कि पति की काव्य-प्रतिभा तथा काव्यादर्शों का अनुसरण करके ही उन्होंने भी इस प्रकार की रचनायें की हों। परन्तु आलम से प्रथम परिचय के पूर्व ही उनके द्वारा रचित पंक्तियाँ उसी दृष्टिकोण से सिक्त हैं तथा उसमें यथेष्ट स्पष्टवादिता है। शेख द्वारा बनाये गये अभिसार के चित्र रीतिकालीन अन्य कवियों के अभिसार चित्रों के समान ही परकीया सम्बन्धी भावों पर आधृत हैं।

घूँघट ते सेख मुख जोति न घटैगी छिनु,
भीनी पट न्यारियै झलक पहिचानि है।
तू तो जाने छानी, पौन छानी या रहेगी बीर,
छानी छबि नैनन की काको लोहू छानि है ?

इन प्रसंगों की कविताओं में भावपक्ष से अधिक कलापक्ष प्रधान है। अभिसारिका के साथ जाने वाली दूती उससे कहती है, तू घूँघट से अपने मुख की ज्योति को छिपाना चाहती है, पर तुम्हारे झीने पट को भेदकर भी उसके नेत्र तुम्हें पहिचान लेंगे। तू समझती है कि तेरे इस अवगुण्ठन ने तेरे मुख को आवेष्टित कर दिया है, पर यह सौन्दर्य रोके नहीं रुक सकता; झीने पट में से छन-छनकर निकलती हुई सौन्दर्य की ज्योति किसका रक्तपान करेगी ?

मानिनी प्रसंग के अनेक कवित्त शेख द्वारा रचित हैं। इन पदों के भाव तथा कलापक्ष दोनों ही अत्यन्त सबल हैं। मानिनी का मान तोड़ने के लिए उन्होंने नायक के आँसुओं की बाढ़, विरह की ज्वाला, उनकी अस्तव्यस्त अर्द्ध चेतनता का वर्णन किया है, कहीं उनके श्याम के आँसुओं से सर-सरिताएँ भर जाती हैं—

शेख कहै प्यारी तू जौ जबहीं ते बन गई,
तब तब ही तें कान्ह अँसुअन सर करे हैं।
याते जानियत है जू बेऊ नदी नारे नीर,
कान्ह वर विफल वियोग रोय भरे हैं॥

और कहीं उनकी विरह-ज्वाला से विरह भी जल जाता है—

जोगी कैसे फेरनि वियोगी आवै बार बार,
जोगी ह्वै है तौ लगि वियोगी बिललात है।
जा छिन ते निरखि किसोरी हरि लियो हेरि,
ता छिन ते खरोई घरोई पियरातु है॥
शेख प्यारे अति ही बिहाल होई हाय हाय,
पल पल अंग की मरोर मुस्कातु है।
आनि चाल होति तिहि तन प्यारी चलि चाहि,
विरही जरनि ते विरह जरचो जातु है॥

योगियों का-सा विक्षिप्त होकर तेरा वियोगी विह्वल हो रहा है। जिस क्षण से हरि ने किशोरी को देख लिया है, उसी क्षण से मानो उसके जीवन की गति ही जड़ हो गई है। विरह की पीड़ा से उसका एक-एक अंग मुरझा रहा है, उसके शरीर की गति ही कुछ और हो रही है। हे प्यारी! चलकर उसकी चाह पूरी करो नहीं तो तुम्हारे प्रेम तथा मान का कारण यह विरह भी उस विरही के साथ ही चला जा रहा है।

विरही की मृत्यु के साथ विरह और मान की समाप्ति की उद्भावना जिन शब्दों से हुई है वह उनकी प्रौढ़ अभिव्यंजना-शक्ति के परिचायक हैं।

नायक की दूती—इस प्रसंग के अधिक पदों में नायिका का स्वयं दूती रूप व्यक्त है। इसके अतिरिक्त कवि का रूप-वर्णन भी इन प्रसंगों में है जो कला तथा भाव दोनों दृष्टियों से सुन्दर तथा सफल है। अभिनव अलंकृता नायिका के नैसर्गिक सौन्दर्य का यह भावुक तथा कल्पनायुक्त चित्रण उस युग के श्रेष्ठतम साहित्यकारों की रचनाओं से टक्कर लेने की क्षमता रखता है—

सीस फूल सीस घटचो, भाल टीका लाल जरचो,
कछु सुक्र मंगल में भेद न विचारिहौं।
बेसरि की चूनो जोति खुटिला की दूनी दुति,
बीरनि की नगिन तरैयाँ ताकि वारिहौं॥
सेख कहे श्याम विधु पून्यो को सो देखि मुख,
बुद्धि बिसरैगी वेगि सुधि ना सँभारिहौं।

नभ के नखत दुरैंगे नहीं न्यारे न्यारे,
दीपक दुराय नव दीपति निहारिहौं।

—सुवर्ण शीशफूल के साथ मस्तक पर लगा हुआ अरुणिम सुहाग-बिन्दु तथा शुक्र और मंगल में भेद नहीं ज्ञात होता। एक ओर बेसर तथा खुटिला की अगणित ज्योति तथा दूसरी ओर कान के आभूषण रत्नजटित वीर की ज्योति, जिसके समक्ष तारों का आलोक भी फीका पड़ जाता है, नक्षत्रों तथा तारिकाओं के साथ राका-शशि के समान आलोकित मुखमंडल को देखकर सुधि-बुधि भूल जायगी। नभ के नक्षत्र अमावस्या के अंधकार में ही पूर्ण ज्योतित होते हैं। दीपक की ज्योति को बुझाकर उसके अंगों के आलोकदर्शन की कल्पना में, नायक की वाक्-चातुरी, वैदग्ध्य के साथ ही शेख की कल्पना-शक्ति तथा वाक्-विदग्धता का परिचय मिलता है।

इस प्रसंग के कई कवित्त शेख द्वारा रचित हैं जिनमें वर्णित अलंकारों की छटा तथा भावों की विदग्धता को देखकर शेख की प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। नायक के प्रस्ताव पर दूती की यह आशा और खीझ शेख के रोचक शब्दों में सुनिये—

रस में विरस जानि कैसे बसि कीजे आनि,
हा हा करि मोसों अब बोलिहौ तो लरौंगी।
जोरिन के आधे नाउँ आधी रैन दौरि जाउँ,
राधा जू के संग वै न आधो डग भरौंगी॥
सेख होत न्यारे ऐसी पीर लाये प्यारे तुम,
अबही हौं विरह बखाने पीर हरौंगी।
आज हू न ऐहैं काम कालि चलि जैहैं सोह,
परौं लग्गि हौं ही वाके पायँ जाय परौंगी॥

हे श्याम! राधा तो इतनी विरस हो रही है कि उसे वश में करना बहुत कठिन है। यदि तुमने अब इस विषय में कुछ कहा तो मैं लड़ पड़ूंगी। उसके इस मान की कठिन अवस्था में तो यही लगता है कि वह आज नहीं आयेगी, कल उसके सामने जाने का साहस करूँगी और परसों उसके पैरों पर पड़ जाऊँगी, पर आज तो उसका सामना करने का साहस मुझ में नहीं है।

दूती द्वारा नायक को दी हुई अनेक लांछणापूर्ण फटकारें बहुत ही रोचक हैं, नायक की विह्वलता का आनन्द उठाते हुए उसे और भी चिढ़ाने के लिए दूती के ये स्वर कितने विनोदपूर्ण और सरस हैं—

नेह नांहि नैनन सनेह नहीं मन मांहि,
देह नहीं विकल वियोग जरि आई है।

झूठ यों ही कहत परबस मरचो जान हौं सु,
परबस नहीं बरबस बरिआई है।

विरह-वर्णन—शेख के विरह में काम की दाहक ज्वाला है, प्रेम की वह आँच नहीं जिससे वासनायें तपकर निखर जाती हैं। विरह की आग में कामुकता की प्यास है, वासना की तृष्णा है। इस ज्वाला का केवल एक समाधान है, प्रियतम से मिलन। मिलन का मानसिक पक्ष पूर्णतया गौण तथा शारीरिक पक्ष बिलकुल कुंठारहित है। स्त्री और पुरुष दोनों ही पक्षों में विरह का आधारभूत कारण काम की पिपासा ही है। इन्द्रियां कामनाओं की परिपूर्ति का माध्यम नहीं, साध्य बन गई हैं। शेख के प्रेम-वर्णन में सभी प्रसंगों में इसका आभास मिलता है, परन्तु विरह-वर्णन में काम की भूख पूर्ण स्पष्टता से व्यक्त हो गई है। अतिशयोक्तियाँ यद्यपि उपहास नहीं बन गई हैं, पर उनमें करुणा के द्रावक प्रभाव से अधिक विदग्धता का चमत्कार है। विरह से जलती हुई यह नायिका—

परम मानिनी तेरी लाल मैं विकल देखी,
बपु न सँभारे कछु उठि न सकति है।
कीन्हीं कहा मोसों कहौ स्याम हौं बलाह लेऊँ,
जात धकधकी उर अनल धुकति है॥
डारे सीरो नीर होत धीम ज्यों प्रबल ज्वाल,
महर महर सिर पाई भभकति है।
एक ही अधार वाकै हिये है रहत प्रान,
वा टक लगाये मगु कान्ह को तकति है॥

इसी प्रकार—

जैसे तुम बिधे वैसे ग्वारिनि बिधी है कान्ह,
हौं न कहौं बात राखि ठकुर सोहाते की।
बैनन को मतो वाके मन हू में नाहिनै पै,
कछुक मिताई देखौ नैननि के नाते की॥
मन मिल्यो जा सो सपनेहुँ मिल जैये बलि,
हिये में जो ह्वै है तो अब एती कहा हाते की।
शेख मनि प्रथम लगनि हिलगाने तन,
तैसी आवै ताँवरि भँवर मदमाते की॥

प्रथम प्रेम की मादकता से आने वाली यह ताँवरी अपने ढंग की अनूठी है।

शेख के अधिकतर पद दूतीवाक्य हैं। उन्होंने नायक तथा नायिका की दूतियों का चित्रण किया है। रीतिकाल के साधारण जीवन में उन्मुक्त प्रेम की यह

उच्छृंखलतायें बहुत गहरी जड़ों में प्रविष्ट गई थीं। शेख के जीवन के विषय में भी इस प्रकार का कोई निर्णय देना यद्यपि न्यायसंगत न होगा, पर काव्य में जीवन की अभिव्यक्तियाँ यदि कुछ भी स्थान रखती हैं तो इस प्रकार के अनुमान सर्वथा अस्वाभाविक नहीं हैं। उनके अधिकांश पद संदेशवाहिका की उक्तियाँ हैं। उनके जीवन के विषय में जो अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं, उससे यह पूर्णतया प्रमाणित हो जाता है कि शेख के जीवन में साधारण नारी की परिसीमायें नहीं थीं, परिसीमाओं के अभाव में समाज के नैतिक पक्ष की स्वच्छंदता का प्रभाव तथा उसमें उनका योग असम्भव नहीं है।

कुछ थोड़े से पद सखी के प्रति सखी की उक्तियों के रूप में लिए गये हैं, जिसमें नायिका आपबीती अपनी सखी को सुनाकर अपने हृदय का भार हलका करती है, तथा अपने उल्लास में उसे भी अपनी समभागिनी बनाती है। इन उक्तियों में शृंगार की मुक्त अभिव्यंजना है। आत्मानुभूतियों के उल्लास को अपने सुहृद पर व्यक्त करने में एक विशेष आनन्द तथा सन्तोष मिलता है। यौवन की मादकता में यह आवश्यकता अनिवार्य-सी हो जाती है। शेख की इस प्रकार की उक्तियों में मादक भावनाएँ कम, मस्त क्रिया-कलाप अधिक है। एक क्रिया के विस्तृत वर्णन में चित्र की स्पष्टता तथा सजीवता अंकित है—

नेह सो निहाये नाहु नेकु आगे कीन्हें बाहु,
छाँइयौ छुवति नार नाहियो करति है।
प्रीतम के पानि पेलि आपनी भुजै सकेलि,
परकि सकुच हियौ गाढ़ौ के धरति है॥
सेख कहै आधे बैन, बोलि करि नीचे नैन,
हा हा करि मोहन के मनहि हरति है।
केलि के अरम्भ खिन खेल के बढ़ाऐबे को,
प्रौढ़ा जो प्रवीन-सो नवोढा ह्वै ठरति है॥

खंडिता वर्णन—मध्य युग में स्त्री की विवशता का उपहास-सा करता हुआ यह नायिका-भेद अपना प्रमुख स्थान रखता है। शृंगारिक स्वच्छंदता के उस युग में नारी की भावनाओं का मूल्य इन उक्तियों से आँका जा सकता है। रसात्मक दृष्टिकोण के आलोचक चाहे नारी की रस के क्षेत्र में सक्रियता यह कहकर सिद्ध कर लें कि पुरुष हर समय नारी के पैर में सिर रखता हुआ दिखाई देता है, परन्तु स्थिति की वास्तविकता शृंगार के मानसिक पक्ष पर शारीरिक पक्ष की विजय से ही सिद्ध हो जाती है। प्रेम के क्षेत्र में नारी की विवशता इस प्रकार की अनेक उक्तियों में स्पष्ट ध्वनित होती है—

बोली ताहि सो सौंहें जोरे कौन भौंहें ऐसे
पायँ परौ वाके जाके पांयन पर वारे हौ।
प्यारी कहौ ताही सौं जु रावरे सो प्यारे कहे,
आजकाल रावरे परोसिन के प्यारे हो॥

हीन भावनाजन्य तथा दुर्बलता के प्रतीक इन व्यंग्यों के अतिरिक्त शठ नायक के चित्र भी बहुत सजीव और स्वाभाविक हैं, खंडिता की चुटीली और सरस उक्तियों की रोचकता देखिये—

ढीली ढीली डगें भरौ ढीली पाग ढरि रही,
ढरे से परत ऐसे कौन पर ढहे हो?
गाढ़े जु हिया के पिय ऐसी कौन गाढ़ी तिय,
गाढ़ी गाढ़ी भुजन सौं गाढ़े गाढ़े गहे हो।
लाल लाल लोचन उनींदी लागि लागि जात,
साँची कहौ सेख प्यारे मैं तो लाल लहे हो।
रस बरसात सरसात अरसात गात,
आये प्रात कहौ बात रात कहाँ रहे हो?

शृंगार की इन रचनाओं के नायक और नायिका यद्यपि पूर्णतया लौकिक हैं, परन्तु शेख ने हरि, राधा, गोपी इत्यादि शब्दों के आरोपण से राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के चित्रण की ओट में साधारण प्रेम के चित्रण की स्वयुगीन परम्परा का निर्वाह किया है। इन चित्रणों में प्रेम का शारीरिक पक्ष ही प्रधान है। स्त्रीसुलभ लज्जाजन्य शारीरिक कुंठाओं का इनमें पूर्णतया अभाव है। हिन्दी साहित्य के इसी युग की दो-चार कवयित्रियाँ भारतीय नारी के शृंगारिक स्वकीयत्व में अपवाद रूप हैं। मीरा का प्रेम जहाँ अपार्थिव के प्रति भी स्वकीया भावना से ही ओतप्रोत रहा, शेख ने प्राकृतिक लज्जा तथा स्त्रियों के प्रति सामाजिक कुंठा का अतिक्रमण कर समाज की उन्मुक्त शृंगारप्रियता में एक पुरुष के समान ही योग दिया। परन्तु कृष्ण की जीवन की घटनाओं तथा उनके चरित्र सम्बन्धी पदों में स्थूल अनुभावों तथा अश्लील भावनाओं की अपेक्षा स्वस्थ मानसिक अनुभूतियाँ चित्रित हैं। भ्रमर गीत तथा गोपी-विरह इत्यादि प्रसंगों में व्यक्त शृंगार में प्रेम प्रसूत अनेक सूक्ष्म अनुभूतियाँ व्यक्त हैं, इन पदों का लौकिक पक्ष साध्य नहीं, कामनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है।

भ्रमर गीत—इस प्रसंग के चार कवित्त शेख द्वारा रचित हैं जिनमें गोपियों की आशा में उद्धव के आगमन से व्याघात, उनकी प्रेमसिंचित भावनाएँ तथा उनके बाला जीवन के साथ असामंजस्य पर सुन्दर व्यंग्य हैं। भ्रमर गीत के इन पदों में

व्यक्त सौष्ठव तथा सौन्दर्य और श्रृंगार तथा अपार्थिव श्रृंगार ध्यान देने योग्य ह। गोपियों की भावना की ज्वाला में वह अग्नि है जो वासनाओं को तपाकर स्वर्ण बना देता है, जिनकी भावनाओं की प्रखरता में कामनायें स्वतः ही गौण पड़ जाती हैं।

शेख की गोपियाँ साधारण नारियाँ हैं जिन्होंने कृष्ण को अपने जीवन का सर्वस्व मान लिया है। उद्धव के योग का सामंजस्य अपने जीवन के साथ कर सकने में वे असमर्थ हैं, अतः वे शेख के कलापूर्ण शब्दों में अपने सरल औत्सुक्य को प्रश्न बनाकर उद्धव के समक्ष रखती हैं—

चाहती सिंगार जिन्हें सिंगी सो सगाई कहा
औधि की है आस तो आधारी कैसे गहिये ?
विरह अगाध तहाँ सुन्न की समाधि कौन,
जोग काहि भावे जो बियोग दाह दहिये।
सेख कहै मैन मुद्रा मोहन जू लाये बन,
मुद्रा लाओ कानन सुनेई सूल सहिये॥

पूर्व जीवन में आई हुई अनेक दैनिक आपदाओं का आभास देकर, कृष्ण को प्रेम न सही तो रक्षा करने के ब्याज से ही बुलाना चाहती हैं। विरही के लिए एक-एक पल युग-समान होता है। युग और याम का अन्तर नहीं ज्ञात होता—

जुग है कि जाम ताको मरमु न जाने कोई,
विरही को घरी और प्रेमी को जु पलु है।
सेख प्यारे कहियो संदेशा ऊधो हरि आगे,
ब्रज बारिवे को घरी घरी घृत जल है॥
हांसी नहीं नैसकु उकासी नहीं जोग तनु,
विरह वियोग झार और दावानलु हैं।
सिर सौं न खेले पग पेले न परै लौं जाय,
गिरि हू ते भारो इहाँ विरह सबल है॥

उद्धव के लौटने के प्रसंग के अन्तर्गत जो कवित्त हैं उनमें शेख की कला का माधुर्य, वैदग्ध और कल्पना व्यक्त है। उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण भी अनुपम है। उद्धव मथुरा लौटकर जिन शब्दों में गोपियों की अवस्था का वर्णन करते हैं उनमें नारी-जीवन की विवशताजन्य करुणा साकार हो जाती हैं। गोपियों के जीवन की उदासी प्रकृति के मादक उपकरणों पर भी व्याप्त हो गई हैं। शेख के शब्दों में—

माती मद कोकिल उदासी मधुमास बोले,
स्वाँती रस तपति अबोली रहे चातकी।

सेख कहै भौंरा भौंरी कँवलनि गुँजारे पुंज,
छाती तरकनि सुनि युवती की जाति की ॥
रास रस आढ़ै सुधि सरद सतावै ना तो,
विरह वसन्त व्रज घरी घरी घात की।
चितवन चैन की वै चाँदनी अचेत भई,
जीती है जुन्हाई जिन कातिक की रात की ॥

जिन गोपिकाओं ने कार्तिक की जुन्हाई में तुम्हें जीत लिया था वे चैत की चाँदनी द्वारा उत्पन्न शूल को सहन करने में असमर्थ हैं। मदमाती कोयल के स्वर में उदासीनता है। गोपियों के ताप के सामने चातकी अपनी तपन को भूलकर मौन हो गई है।

उद्धव के इस संदेश के अतिरिक्त जिन पदों में गोपियों का विरह व्यक्त है उनमें भी भावनाओं की प्रधानता, प्रकृति के उपकरणों द्वारा उद्दीप्त होकर व्यक्त है, गोपी विरह-प्रसंग के पदों में से एक पद इस कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त होगा।

गोपाल जब से मधुवन चले गये हैं, गोकुल का मधुवन उनके लिए विषम दानव के समान भयावह बन गया है। कालिन्दी तट के कदम्ब वृक्ष जो उनके जीवन की अनेक मधुर स्मृतियों के केन्द्र हैं उन पर से अनेक पक्षियों का कलरव उनकी टीस को द्विगुणित कर देता है और यह काली कोयल मानो अपने हूकभरे स्वर से उनका कलेजा निकालना चाहती है। अपनी सारी मधुरिमा का विस्मरण कर वह उनके साथ काग की-सी कटुता कर रही है—

जबतें गोपाल मधुवन को सिधारे भाई,
मधुवन भयो मधु दानव विषम सौं।
सेख कहे सारिका शिखंडी मंडरीक सुक,
मिलि के कलेस कीन्ही कालिन्दी कदम सौं।
देह करे करठा करेजो लीन्हों चाहत हैं,
काग भई कोयल कगायो करे हम सौं ॥

शृंगार के पार्थिव रूप का स्थूलता की प्रतिक्रिया अपार्थिव शृंगार-वर्णन की अत्यन्त सूक्ष्मता में तो नहीं हुई है, परन्तु अपार्थिव शृंगार के व्यक्तीकरण में भावनाओं की अभिव्यक्ति तथा प्राकृतिक उद्दीपनों का चित्रण प्रधान है।

कृष्ण उनके काव्य के नायक हैं। उनका व्यक्तीकरण दो रूपों में हुआ है। एक तो वह कृष्ण जो साधारण पुरुष के प्रतीक हैं, जिनके जीवन की दुर्बलतायें उस युग के साधारण मानव की दुर्बलतायें हैं, जिनमें अपार्थिवता का लेशमात्र आभास भी

नहीं है और दूसरे वे कृष्ण जिनमें कृष्णावतार के ब्रजनायक का रूप आरोपित है। इनकी लीलाओं तथा रूप में एक नैसर्गिक छाया है, जिसके प्रति गोपिकाएँ अपना सर्वस्व विस्मृत कर विमुग्ध हैं। साधारण मानव कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में स्थूल क्रियायें प्रधान हैं, परन्तु अवतार रूप ब्रजनायक कृष्ण के प्रति भावनाओं में एक स्निग्धता तथा सुरम्यता है जो लौकिक शृंगार नायक कृष्ण से मूलतः भिन्न है।

पार्थिव और अपार्थिव शृंगार-रचनाओं के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी उनकी रचनायें मिलती हैं। आलम केलि मुक्तक पदों का संग्रह है, अतः उसमें किसी विषय का क्रमिक निर्वाह नहीं है। शेख का जन्म यद्यपि मुसलमान घराने में हुआ था, उसके प्रेम के आवेश में आकर आलम ने धर्म-परिवर्तन कर उनसे विवाह किया था। कदाचित् इसका कारण हिन्दू धर्म की संकीर्णता रहा हो, विधर्मी शेख का हिन्दू होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था, अतः आलम ने ही मुसलमान धर्म की दीक्षा ले अपने स्वपनों का संसार बसाया। यद्यपि आलम ने धर्म-परिवर्तन कर लिया था, पर शेख की रचनाओं पर हिन्दू मत का पूर्ण प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। नारी-सुलभगुण-ग्राहक प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने अपने पति के मत का पूर्ण अनुसरण किया। ऐसा अनुमान करने के लिए पूर्ण आधार मिलते हैं। गंगा वर्णन, पवन वर्णन, निर्वेद तथा शान्त रस सम्बन्धी पद, देवी को कवित्त, रामलीला आदि ऐसे प्रसंग हैं जिन पर उन्होंने बहुत कुशल तथा सफल रचनायें की हैं और जिन पर आलम का प्रभाव दिखाई देता है।

लौकिकता में लिप्त अनेक कवियों की भावना की प्रतिक्रिया भक्ति में होने के उदाहरण मिलते हैं। बिहारीलाल ने जीवन के अन्तिम दिनों में उत्कृष्ट भक्ति काव्य की रचना की थी। शेख की भक्ति-भावना शृंगार की प्रतिक्रिया थी अथवा नहीं यह कहना कठिन है, परन्तु शृंगारिक रचनाओं की मुक्तभोगियों की स्वानुभूतियों और भक्ति सम्बन्धी रचनाओं की स्निग्ध भावनाओं में जो मौलिक अन्तर है उसकी प्रेरणा में कुछ-न-कुछ भेद अवश्य रहा होगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

भक्ति की रचनाओं की विवेचना करने के पूर्व, इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि यद्यपि शेख ने शृंगार की स्थूलताओं के वर्णन में किसी प्रकार की हिचक नहीं दिखाई है, पर उनका नारीत्व उसके स्थूलतम अशों के वर्णन में असमर्थ रहा है। आलम केलि के अनेक अश्लील अंशों में उनके योग का पूर्ण अभाव है। आलम केलि के जिन शीर्षक की रचनाओं में उनके नाम की रचनायें नहीं मिलती हैं वे ये हैं—चन्द्र कलंक, युगल मूर्ति, कुच, छवि-नवयौवन, विपरीत वर्णन, जसोदा विरह तथा प्रवत्स्य-पतिका।

कृष्ण के लीला प्रधान रूप तथा गोपियों की माधुर्य भावना का उल्लेख पहले

हो चुका है। माधुर्य भक्ति के अनेक अतिरिक्त तथा आलम्बन कृष्ण के अतिरिक्त भक्ति के अनेक पात्रों तथा भागों पर भी अपनी आस्था व्यक्त की है। एक ओर गंगा में लगाए हुए एक गोते के द्वारा वे शिव की प्रसन्नता का स्वप्न देखती हैं—

अंग बोरि गंग में निहंग ह्वै के बेग चलु,
आगे आउ मैल धोइ बैल गैल लाइ लै।

तो दूसरी ओर अनेक देवियों की वन्दना के ये स्वर छेड़ती हैं—

भौन के दरस पुण्य भौन मेरे नेरे आयो,
छत्र छाँह परसनि छत्रनि सों छयो हौं।
मंगला के मंगल ते मंगल अनेक भये,
हिंगलाज राखी लाज याहि काज नयो हौं॥
शेष मति सेख ही सुसेष की-सी दीरी तुम,
रावरे सिखाये.........आनि लयो हौं।
दुर्गा देवी तेरेहू दया ते दुर्ग नाँघि आयो,
पारवती तुम्हें सुमिरत पार भयो हौं॥

इस अलंकारमयी वन्दना में यद्यपि अनुभूतियों की गहनता नहीं है, पर कला का आकर्षण अवश्य है।

योग और ज्ञान पर भक्ति की विजय-स्थापन की चेष्टा में भी वे निरपेक्ष नहीं रहीं। योग की तुलना में भक्ति की श्रेष्ठता की स्थापना करते हुए वे कहती हैं—

मिटि गो मौन पौन साधन की सुधि गई,
भूली जोग भुगति बिसार्‌यो तपवन को।
सेख प्यारे मन को उजारो भयो प्रेम नेम,
तिमिर अज्ञान गुन नास्यो बालपन को॥
चरन कमल ही की लोचन में लोच धरी,
रोचन ह्वै राच्यो सोच मिटो धाम घरु को।
गोक लेस नैक हू कलेस को न लेस रह्यो,
सुमिर श्री गोकलेस गो कलेस मन को॥

गोकुलेस के स्मरण से क्लेश के निवारण पर आस्था ही उनके विश्वास का मुख्य अंश है।

राम के जीवन सम्बन्धी प्रसंगों में करुणा की व्यंजना बहुत ही सुन्दर और सफल हुई है। राम के वन-गमन के अवसर पर कौशल्या के मातृ हृदय की अनुभूतियों की कल्पना शेख की काव्य-प्रतिभा का सजीव उदाहरण है। अपने सुकुमार पुत्रों के जीवन में वन-प्रवास की कटुताओं की कल्पना, कौशल्या की अधीरता शेख का

अनुभूतियों में पूर्ण सजीवता से व्यक्त है। राजवैभव तथा विशाल ऐश्वर्यमय वातावरण में रहने वाले राम पशुओं के मध्य बैठेंगे, पक्षी ही उनके पड़ोसी होंगे, सूखे वृक्षों की शाखाएँ ही उनका गृह बनेंगी। मेरे सुकुमार किशोर इन सब दुःखों को कैसे सहेंगे ? शेख के शब्दों में मातृ-हृदय की इस विह्वलता के चित्र का उद्धरण यहाँ अप्रासंगिक न होगा—

पसुन में बैठनि परोसी भये पच्छिनि के,
झारन के डार बरबार करि रहिहैं।
सेख भूमि डासिहैं कि बिस बेलि बसिहैं कि
कुस हैं कि काँस है कौसल्या काहि कहिहैं ?
बन गिरि वैरनि थोरे दुःख कैसे करि,
कोंवरे कुमार सुकुमार मेरे सहिहैं।
मैले तन घर ए कसैले छाल रूखनि के,
बन फल फोरि छोलि छील खाय रहिहैं॥

भक्ति विषयक इन रचनाओं के अतिरिक्त कुछ रचनाओं में फ़ारसी की ऊहात्मक शैली का भी स्पष्ट प्रभाव है। एक ओर तो भारतीय पद्धति के आधार पर लिखा हुआ नायिका-भेद, संकेत स्थल, दूती-वाक्य इत्यादि हैं जिसमें रीतिकालीन रसात्मक दृष्टिकोण की स्पष्ट छाप है, और दूसरी ओर लैला-मजनूँ की कहानी का हल्का-सा पुट भी कुछ पदों में व्यक्त है। विरह की ज्वाला से जलकर क्षीण और दुर्बलकाय मजनूँ की क्षीणता का अनुमान वस्त्रों में लुप्त हुए इस वर्णन से लगाइये—

थोरी बार है जु कछु थोरे सो में ताकि भाई,
आरो सी बिलाइ कहीं खिन ही में खोइगो।
धीरज अधार ते रह्यो है खंग धार जैसी,
आँसुन की धार सो न धूरि है जु धोइगो॥
अहि सुनि आई ओ न चाहि ताहि पाई फेरि,
देखि सेख मजनूँ बिना ही नींद सोइगो।
नीकै के निहारि वाके बसननि झारि डारि,
तार तार ताकि कहूँ बार सो जु होइगो।

शेख मध्ययुगीन नारी के उन अपवादों में से हैं जो जीवन की समस्त विषमताओं को पददलित कर, सब बाधाओं को छिन्न-भिन्न कर, स्वतन्त्र आत्माभिव्यंजना में समर्थ हो सकी थीं। मीरा का नैसर्गिक व्यक्तित्व आत्मसंस्कारों तथा वातावरण के प्रभाव से कृष्ण की अमर साधिका के रूप में अमर हो गया। शेख का साधारण व्यक्तित्व रीतियुगीन रसिकता में रंजित हो आलम जैसा लौकिक आलम्बन पाकर

लौकिक शृंगार की स्थूलता से ही प्रस्फुटित हुआ, और पति के ही प्रभाव से उन्हें अपनी इस प्रतिभा के विकास का अवसर प्राप्त हुआ।

शेख ने अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए अनेक मूर्त्त उपकरणों का प्रयोग किया है। निराकार अनुभूति को व्यक्त करने के लिए उन्होंने जिन मूर्त्त चेष्टाओं तथा पात्रों के रूप के सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। यद्यपि देव तथा बिहारी द्वारा अंकित भाव चित्रों के समक्ष शेख के चित्र निर्जीव-से प्रतीत होते हैं, परन्तु चित्रमयता का उनमें अभाव नहीं है।

उनींदे और मदमाते नयनों के रूपचित्रण में उनकी अनूठी कल्पना और वाग्विदग्धता का परिचय मिलता है—

रात के उनींदे अलसाते मदमाते राते
अति कजरारे दृग तेरे यों सोहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरे लेत काढ़े जिउ,
केते भये घायल और केते तलफात हैं॥
ज्यों ज्यों लै सलिल चरण रेख धोवे बार बार,
त्यों त्यों बल बुंदन के बार झुकि जात हैं।
केबर के भाले कंधों नाहर नहन वाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी ते अघात हैं॥

अभिव्यंजना की इस सजीवता के अतिरिक्त कलात्मक चित्रांकन भी इनके बहुत सुन्दर हैं। अभिनव अलंकृता नायिका में प्रकृति के उपकरणों के आरोपण विषयक पद पहले उद्धृत किये जा चुके हैं। विह्वल नायिका की बेसुध भावनाओं का चित्रण इस अलंकृत प्रांजलता में चित्र बनकर नेत्रों में आ जाता है। यद्यपि इस चित्रण में भावना से विदग्धता का अनुपात अधिक है, पर यह वैदग्ध चित्र को सरस बनाने में सहायक हैं—

कहूँ मोती माँग कहूँ बाजू बन्द झबा झरे,
कहूँ हार के हमेल ठाँड टीक है।
ऐसे कै बिसारी स्याम ऐसी बयस ऐसी बाम,
पिहकि पपीहा की-सी बार बार पी कहै॥
सेख प्यारे आजु कालि आल चाल देखौ आइ,
छिन छिन जैसी तन छीजन की छीक है।
सेज मैन सारी-सी है सारी हूँ बिसारी-सी है,
विरह बिलाति जाति तारे की-सी लीक है॥

शेख की समस्त रचनायें ब्रजभाषा में हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि आलम के

सम्पर्क तथा संसर्ग से उन्हें ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप से भी पूर्ण परिचय होगया था। ब्रजभाषा उनके समय में पूर्ण समृद्ध हो चुकी थी। संस्कृत, फ़ारसी तथा देशज शब्दों के ग्रहण से उसका कोष अन्यन्त व्यापक हो गया था। यही कारण है कि रीतिकालीन कवियों के पास शब्दों का अभाव नहीं था। यद्यपि शेख संस्कृत की पंडिता नहीं थीं, रीति ग्रंथों से उनके काव्य का सम्बन्ध नहीं था, परन्तु उनकी भाषा में संस्कृत शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अधिकतर संस्कृत शब्दों को उन्होंने तद्भव रूप देकर ग्रहण किया है पर तत्सम शब्दों का भी अभाव नहीं है।

मुसलमानी संस्कार तथा वातावरण से प्रभावित शेख के काव्य की इस विशेषता का श्रेय आलम के सम्पर्क को ही दिया जा सकता है। उनकी रचनाओं में अरबी तथा फ़ारसी के प्रयोग भी प्रचुरता से हुआ है।

इसका सबसे प्रधान कारण तो था स्वयं उनका मुसलमान होना। इसके अतिरिक्त मुसलमानों से नित्य-प्रति के सम्पर्क, मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव, अनेक मुसलमान कवियों द्वारा ब्रजभाषा में काव्य-रचना इत्यादि ऐसे कारण थे, जिससे उस युग की भाषा अरबी-फ़ारसी के शब्दों के प्रभाव से बच नहीं पाई थी।

शब्दों की विकृति शेख की कविता में बहुत कम है। यमक, अनुप्रास के प्रचुर प्रयोगों के होते हुए भी शब्दों के तोड़-मरोड़ अधिक नहीं हैं, यद्यपि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके नये रूप के कारण अर्थ निकालना कठिन हो जाता है, पर ऐसे प्रयोग अपवाद रूप में ही हैं। परन्तु ब्रजभाषा के अन्य कवि रसखान, घनानन्द, मतिराम इत्यादि की तुलना में इनकी भाषा का माधुर्य और प्रवाह नहीं ठहरता। ब्रजभाषा के सरल, स्वाभाविक प्रवाह का इसमें अनेक स्थानों पर अभाव मिलता है। प्रसादगुण तथा माधुर्य का अभाव तो नहीं है, पर इनकी अभिव्यक्ति करने वाले श्रेष्ठ कवियों के साथ उनकी गणना नहीं की जा सकती।

शेख ने अपनी भाषा को अलंकृत तथा सुसज्जित बनाने का सफल प्रयास किया है। उनके पदों में प्रवाह और लय है जो पदावृत्ति तथा वर्णवृत्ति के विभिन्न प्रयोगों पर आश्रित है। पदावृत्ति द्वारा उत्पन्न गति का एक उदाहरण लीजिए—

नैना देखे स्याम के ते बैना कैसे सुन भाई,
बैना सुनै तिनै कैसे नैना देखे जात हैं।

इसी प्रकार छेकानुप्रास तथा वृत्यानुप्रास के प्रयोगों में मधुर वर्ण घुलते-से प्रतीत होते हैं। अनुप्रास की योजना में कोमल और कटु दोनों ही प्रकार की वर्ण-मैत्री का आयोजन किया है। सानुप्रास पद-योजना में एक व्यंजन विशेष से आरम्भ होने वाले शब्दों की आवृत्ति तो है ही, व्यंजन तथा स्वर दोनों की आवृत्ति द्वारा भी उन्होंने भाषा की श्रीवृद्धि की है। उदाहरण के लिए—

नेह सो निहारे नाहु नेकु आगे कीन्हें बाहु
छाहियो छुवत नारि नाहियों करति है।
प्रीतम के पानि पेलि आपनी भुजै सकेलि,
धरक सकुचि हियो गाढ़ो कै धरति है॥

× × ×

ढीली ढीली डगें भरौ ढीली पाग ढरि रही,
ढरे से परत ऐसे कौन पर ढहे हो।
रस बरसात सरसात अरसात गात,
आये प्रात, कहो बात रात कहाँ रहे हो ?

पदों की सज्जा में योग देने के लिए उन्होंने यमक का प्रयोग भी किया है, परन्तु उसके आयोजन के लिए भाषा की दुर्गति नहीं की। यमक के अनेक प्रयोग अनेक पदों में मिलते हैं—

सेज मैन सारी-सी है सारी हूँ बिसारी-सी है।

× × ×

खरी अनखात ह्वै है बीरियो न खात ह्वै है।

× × ×

सुमिर श्री गो कलेस गोकलेस मन को।

भाषा के अलंकरण के प्रयास में प्रयुक्त इन शब्दालंकारों के अतिरिक्त अनुभूति की व्यंजना के हेतु भी उन्होंने अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है। रीतिकाल के कवि अभिव्यक्ति के प्रति विशेष रूप से सतर्क थे, इसलिए अभिव्यंजना के श्रेष्ठतम प्रसाधनों का प्रयोग उन्होंने अपने काव्य में किया है। अभिव्यक्ति की सबलता के सबसे उपयोगी साधन हैं अर्थालंकार, जिनमें प्रस्तुत की अभिव्यक्ति के लिए अप्रस्तुत के उपयोग का प्रयास रहता है। परम्परागत सादृश्य विधान भारतीय साहित्य शास्त्र में अलंकारों के नाम से चले आ रहे हैं। रीतिकालीन कवियों ने इन्हीं के सहारे अपनी अभिव्यंजना-शक्ति का प्रदर्शन किया है। यह सादृश्य विधान अनेक रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों द्वारा व्यक्त किये जाते थे। शेख ने इन सभी का प्रयोग सफलतापूर्वक किया है। उनके ये प्रयोग रीतिकाल के महान् कवियों की व्यंजनाओं के समक्ष महत्त्वहीन हैं, परन्तु उनकी क्षमता का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं—

मृग मद पोति झाँपी नीलाम्बर तऊ जोति,
धूम उरझाई मानो होरी की-सी झारी है।
लै चली हौं अँधियारी अंग अंग छबि न्यारी,
आरसी ये दीप की-सी दीपति पसारी है॥

सिगार सेख जुन्हाई हूँ को साजि कीन्हों,
जोन्ह हूँ में जोन्ह-सी लसै सुधा सुधारी है।
बार बार कहत हौं प्यारी को छिपाइ ल्याउ,
कैसे के छपाऊँ परछाँइयो उज्यारी है॥

ज्योत्सना में निकली हुई अभिसारिका के इस चित्र का सौन्दर्य अभिव्यक्ति की कुशलता तथा विदग्धता के अतिरिक्त और क्या है ? इसी प्रकार अवगुण्ठन के उठने पर अवलोकित मुस्कान की आभा का आलोक चपला की चमक के सादृश्य द्वारा आयोजित कितनी सुन्दर बन गई है—

घूँघट की ढिग चाँपि भृकुटी उचाई सेख,
मन्द मुस्काइ चपला-सी कौंधि गई है।

अतिशयोक्तियों के द्वारा भी वातावरण की सृष्टि में गम्भीरता के आयोजन का प्रयास मिलता है। एक आध रूपक भी मिलते हैं, परन्तु इन अर्थालंकारों के प्रयोग साधारण ही बन सके हैं। अनुप्रास, यमक और वाप्सा इत्यादि के प्रयोग में जो कौशल है, वह इन भावमूलक अलंकारों में नहीं है। इसका प्रधान कारण यही है कि शेख की कविता का कलापक्ष प्रधान और भावपक्ष गौण है।

उत्प्रेक्षा का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

बिछुरे ते बलवीर धरि न सकत धीर,
उपजी विरह पीर ज्यों जरनि जर की।
सखिन सम्हारि आनि मलय रगरि लायो,
तैसी उड़ी अवली कहूँ ते मधुकर की॥
बैठ्यो आय कुच बीच उड़ि न सकत नीच,
रहि गई रेख सेख दंत दुहूँ पर की।
मानहु पुरातन सुमिरु बैर सम्भु जू सों,
मार्‍यो सम्बरारि रह गई फोंक सर की॥

शेख की रचनाओं में शृंगार प्रधान तथा भक्ति और करुणा गौण है। शृंगार के संयोग तथा वियोग दोनों ही पक्षों की सूक्ष्म अनुभूतियों का चित्रण उन्होंने इस प्रकार किया है मानो वे स्वयं भुक्तभोगी हों, परन्तु प्रेम के अश्लील अंश को उन्होंने स्पर्शमात्र ही किया है। उनका नारीत्व उसकी पराकाष्ठा पर जाने का साहस नहीं कर सका। प्रेमजनित अनुभूतियों के अनेक चित्रण वर्ण्य-विषय के अन्तर्गत दिये जा चुके हैं।

उनकी भक्ति विषयक रचनाओं में माधुर्य तथा विनय दोनों ही भावनाएँ व्यक्त हैं। कृष्ण के लीला रूप तथा गोपियों का अनुभूतियों के व्यक्तीकरण में माधुर्य का

समावेश आवश्यक था, परन्तु स्वयं उनकी भावनाओं में कृष्ण के प्रति माधर्य नहीं विनय तथा आस्था है, वे कृष्ण से रक्षा की याचना करती हैं। कृष्ण कथा की स्निग्धता में लीन होने में ही वह उपासना की सार्थकता देखती हैं—

जथा गुन नाम स्याम तथा न सकति मोहि,
सुमिरि तथापि कछु कृष्ण कथा कहिए।
गोकुल की गोपी कि वे गाइ कि वे ग्वारि के वे,
बन की जु लीला चहै चरचा निबहिये।।
कुंजनि के कीट वे जु जमुना के तीर तिनै,
दूजिये कपिल ह्वै के कविलास लहिए।
सेष रस रोष रुख दोषनि को मोख है,
जो एको घरी जन्म में घोष माँझ रहिए।।

इसके अतिरिक्त राम, शिव, गंगा इत्यादि की जो वन्दनाएँ हैं उनमें आई हुई अन्तर्कथाओं से शेख की हिन्दू धर्म में प्रचलित पौराणिक कथाओं से प्रगाढ़ परिचय देखकर आश्चर्य होता है। गंगा के महात्म्य में शिव के योग तथा शिव के रूप का विश्लेषण हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों की रूपरेखाओं के ज्ञाता के द्वारा ही सम्भव हो सकता था, परन्तु मत के सूक्ष्म सिद्धान्तों तथा विश्वासों से उनके परिचय का अभाव भी लक्षित होता है। शिव का तृतीय नेत्र क्रोध में ही खुलता है अन्यथा नहीं, परन्तु शेख ने उन्हें कृपा का प्रतीक बनाकर खुलवाया है। भक्ति की रचनाओं में श्रद्धामय अनुराग की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

राम के जीवन के करुण प्रसंगों की व्यथा को भी उन्होंने अपने काव्य में बाँधने की चेष्टा की है। राम वन-गमन की शोकजन्य स्तब्धता में सनसनाते हुए पवन की भयावहता, प्रकृति की नीरवता, मानसिक उद्वेलन का चित्रण असफल नहीं रहा है—

जाकि उठ्यो पौन गौन थाक्यो मौन पंखी भये,
मानस की कौन कहे विथा जो अकथ की।
सेख प्यारे राम के वियोग तात प्रात ही ते,
रह्यो मौन मुख सुधा गई ज्ञान गथ की।।
टेकई न प्रान पल केकई पुकारे ठाढ़ी,
राजा राजा करत भुलानी पानी पंथ की।
दरसत दुसह उदासी देस तजि गये,
देखी जिन दसई दसा जो दसरथ की।।

करुणा की व्यंजना यद्यपि वियोग शृंगार में प्रचुरता से हुई है, परन्तु उसमें

करुण भावना से अधिक काम की दाहता का चित्रण है जो वर्णन को करुणा की अपेक्षा शृंगार के निकट ला देते हैं।

शेख प्रधानतया शृंगार की लेखिका थीं, अतः सीता की वेदना में भी वे कामुक विरह की व्यग्रता ही व्यक्त कर सकी हैं। अशोक वाटिका की वासिनी सीता की विरह-भावना भी वे साधारण नारी की आकुल आकांक्षा में ही व्यक्त कर पाई हैं, नैसर्गिक भावना का उनमें स्पर्श भी नहीं है—

ऊक भई देह बरि चूक है न खेह भई,
हूक बढ़ी पै न पिसि टूक भई छतिया।
सेख कहि साँस रहिबे की सकुचानि कवि,
कहा कहौं लाजनि कहौगे निलज तिया।
और न कलेस मेरो नाथ रघुनाथ आगे,
भेसु यहै भाखियो संदेसे यहै पतिया॥

मुक्तक परम्परा के कवित्त और सवैयों की पद्धति आलम ने अपनाई थी, ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि शेख की सम्पूर्ण रचनाओं में केवल एक सवैया है बाकी सब कवित्त, छंद-दोष उनकी रचनाओं में प्रायः नहीं है। ऐसे तो कवित्त के अनेक भेद होते हैं परन्तु उनमें मनहर कवित्त और रूप घनाक्षरी मुख्य हैं। मनहर कवित्त में ३१ अक्षर होते हैं और घनाक्षरी में ३२ और अन्त में लघु होता है। शेख ने मनहर कवित्त का ही प्रयोग अधिक किय है।

शेख के काव्य की विवेचना के अन्तर्गत प्रकृति-वर्णन का उल्लेख अनिवार्य प्रतीत होता है। प्रकृति का चित्रण रीतिकाल के कवियों ने प्रायः उद्दीपन के रूप में ही किया है। शेख ने भी प्राकृतिक उपकरणों तथा कवि प्रसिद्धियों के द्वारा शृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति क है। प्रकृति-वर्णन अधिकांश उद्दीपन रूप में ही है, केवल दो कवित्तों में वसन्त तथा पवन पर स्वतन्त्र रचनायें हैं। परन्तु उन स्वतन्त्र वर्णनों में भी मानों अवचेतन में शृंगार निहित होने के कारण, शृंगार गौण रूप से आ ही गया है। पवन वर्णन शीर्षक के कवित्त में संदेशवाहक के रूप में पवन का वर्णन शृंगारिक भावना की अभिव्यंजना का प्रसाधन प्रतीत होता है—

सघन अखंड पूरि पंकज पराग पत्र,
अक्षर मधुप शब्द घंटा घहरातु है।
विरमि चलत फूली बेलनि की बास रस,
मुख के संदेसे लेन जबनि सुहातु है॥
सेख कहे सीरे सरबरन के तीर तीर,
पीवत न नीर परसे ते सियरातु है।

आवन वसन्त मन-भावन घने जतन,
पवन परेवा मानो पाती लीने जातु हैं ॥

उद्दीपन के रूप में प्रकृति के परम्परागत उपमानों का वर्णन है। टेसू का कुम्हलाना, कोयल की कूक से उत्पन्न हूक, वर्षा की मादकता में प्रिय के अभाव की अनुभूति इत्यादि पिष्ट-पेष्टित प्रकृति के उद्दीपक वर्णन ही उन्होंने भी किये हैं, परन्तु शेख के व्यक्तित्व तथा अभिव्यंजना के द्वारा ये प्रकृति के शाश्वत उपकरण शेख के अपने हो गये हैं।

उन्होंने प्रकृति को वियोग-भावनाओं के उद्दीपक रूप में ही लिया है। संयोग की मस्ती में वातावरण के प्रति नायक तथा नायिका पूर्ण उपेक्षा रखते हैं, परन्तु वियोग में तो सृष्टि का एक-एक कण उनकी भावनाओं को ज्वाला बनाने को तत्पर रहता है। एक ओर वर्षा की बूँदें वाणों की तीक्ष्णता ले उन पर प्रहार करती हैं—

कारी धार परी कारी कारी घटा जुरि आई,
तैसेई तमाल तार कारे कारे भारे हैं।
सेख कहै साखिन के सिखर सिखर प्रति,
सिखिन के पुंज सुर सिखर पुकारे हैं॥
निरखि निरखि तेइ तरुनि तनेनी होती,
जिनकी वे निठुर निर्मोही कंत प्यारे हैं।
बरषि बरषि जात बरषि सो पले पल,
बूँद बूँद बैरी मानों विसिख बिसारे हैं॥

—तो दूसरी ओर वसन्त का सौरभ उन्हें विवश बना रहा है—

केसू कुर हरे अधजरे मानो कवेला धरे,
क्वैलहाई कोयल करेजो भूँज खाति है।
फूली बन बेली पै न फूली हौं इकेली तन,
जैसी अलबेली और सहेली न सुहाति है॥
चहुँधा चकित चंचरीकन की चारु चौंपि,
देख सेख राती कोंप छाती खोंप जाति है।
होन आयो अंत तंत मन पै न पायो कछू,
कंत सो बसाति न बसंत सी बसाति है॥

शेख की ये शृंगारिक रचनायें कोमल अनुभूतियों से युक्त तो हैं ही, प्रकृति तथा जीवन के उपकरणों का सूक्ष्म निरीक्षण तथा उनकी सबल अभिव्यंजना भी उनमें है। अभिव्यंजना के उत्कृष्टतम साधनों का सुन्दर तथा सफल प्रतिपादन आश्चर्य-पूर्ण है। रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवियों का-सा सौष्ठव तो उनकी रचनाओं में नहीं है,

पर वे साधारण काव्य से ऊँचे स्तर पर हैं। उनका काव्य ठाकुर, बोधा, घनानन्द इत्यादि की रचनाओं के साथ सरलता से रखा जा सकता है।

मध्यकालीन नारी जीवन की परिसीमाओं के बन्धनों के प्रभाव से दूर रहने के कारण ही शेख की प्रतिभा अपने विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त कर सकी, भारतीय एकनिष्ठ नारी-भावना में शेख की रचनायें प्रथम अपवाद हैं। उनकी शृंगारिक भावना में नारी की भावनाओं का व्यक्तीकरण नहीं है। शृंगार युग के पुरुष का नारी के प्रति उच्छृंखल तथा लोलुप दृष्टिकोण ही उसमें व्यक्त है, अतः शेख की कवितायें उस युग के नारी-हृदय के प्रतीक रूप में नहीं ली जा सकतीं। हाँ, युग की भावना में अपनी भावना का सामंजस्य कर उन्होंने अपनी प्रतिभा का महत्वपूर्ण और आश्चर्य-जनक परिचय दिया है। जीवन के रसात्मक दृष्टिकोण को व्यक्त करने वाली लेखिकाओं में वे सर्वश्रेष्ठ हैं तथा नारी द्वारा सर्जित साहित्य में उनका स्थान अमर है।

सुन्दर कली—शृंगार काव्य रचयित्रियों में मुसलमान लेखिकाओं का अनुपात अधिक है। यद्यपि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा थी, परन्तु मुसलमान स्त्रियों ने इसको स्वीकार कर इसमें रचनायें की थीं। सुन्दर कली भी एक मुसलमान स्त्री थी। इनके जीवन तथा रचनाकाल के विषय में कुछ कहना असम्भव है क्योंकि प्राप्त हस्तलिखित प्रति पर हस्तलेखन तिथि तथा रचनाकाल दोनों ही का उल्लेख नहीं है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट तथा 'हिन्दी के मुसलमान कवि' में उनका तथा उनकी रचना का उल्लेख है।

इनके द्वारा रचित ग्रंथ का नाम सुन्दर कली की कहानी अथवा सुन्दर कली का बारहमासा है। प्राप्त प्रति अधूरी है। उनके समय के विषय में यद्यपि निश्चित उल्लेख का अभाव है, परन्तु भाषा के रूप तथा प्रति की जीर्णावस्था से यही अनुमान होता है कि रचनाकाल सम्वत् १९०० के पूर्व ही रहा होगा। उनके काव्य को शृंगार रस के अन्तर्गत रखना रस का उपहास करना है। शृंगार का मूल भाव प्रेम उनका विषय है, अतः उन्हें अन्य किसी धारा के अन्तर्गत रखना भी कठिन है।

रीतिकाल की शृंगारिकता में उल्लास तथा वेदना के उद्दीपक के रूप में प्रकृति का चित्रण बारहमासा तथा षट्ऋतुवर्णन के द्वारा हुआ है। बारहमासा में वियोगिनी की व्यथित भावनाओं की प्रत्येक मास की प्रतिक्रिया का वर्णन किया जाता था। रीतिकाल के प्रायः समस्त कवियों ने नवीन उद्भावनाओं तथा सूक्ष्म कल्पनाओं द्वारा आकुल अन्तर की वेदना में प्रकृति के योग को सुन्दर अभिव्यंजना द्वारा काव्य का रूप देकर उन्हें अमर बना दिया, जिनके अनुकरण पर अनेक छोटे-छोटे स्वर भी गूँज उठे। सुन्दर कली का बेसुरा स्वर भी उसमें सहयोग देता हुआ सुनाई पड़ता है।

इस रचना में न तो भावों का सौन्दर्य है और न अभिव्यंजना का, परन्तु इस असौन्दर्य का उल्लेख आवश्यक है। प्रत्येक ऋतु में स्थूल क्रियाओं की आकांक्षा, टेढ़े-मेढ़े बेसुरे स्वरों में, व्यक्त है। इनके काव्य के प्राप्त उद्धरणों को देखकर उनके विकृत रूप तथा भावों का अनुमान हो सकता है।

ग्रंथ का आरम्भ ग्रीष्म वर्णन से होता है। छंद, रस, अलंकार, भाव, काव्य के समस्त तत्त्वों से रहित इन पंक्तियों में प्रेम तथा शृंगार भावनाजन्य अनुभावों द्वारा प्रतिपादित रसानुभूति स्वयं कीजिए—

जो ऐसी रात है पी को मिलावे। गले से गल लगा के संग सोलावे॥
आह आ आसाढ़ नीपट गरमी कहे रे। पसीना तन से तो धारी चले रे॥
मेरे मन में वीरह की आग लागी। अगिन के बीच में जलती अभागी॥
अगिन ने सब तरह से तन को जारा। हमारा तन हुआ सारा अंगारा॥
न ऐसा है कोई कि अगिन को बुतावै। बुझाय वही जो पिय की खबर लावै॥

ग्रीष्म की इस अग्नि की ज्वाला के पश्चात् फागुन की मादकता के दृश्य देखिये—

जो आया मास फागुन का सुहाना।
सखी अब घर घर खेले है होरी। सलोनी साँवरी सब रंग गोरी॥
किसरिया रंग पिचकारी में भरकर। सभी डाले हैं अपने पी के ऊपर॥
बजावें डफ व मिरदंग मजीरा। पिया के सीस पर डारैं अबीरा॥
अब्रक बदन ऊपर का माता। अबीर के खेल से है जी तड़पाता॥
अच्छी तरह खेल होली मची है। सखी की पी के संग बाजी लगी है॥
सखी हारे तो वो पी की कहावे। जो पी हारे तो पी को जीत लावे॥
हमारी जीत की बाजी को भूला। दगाबाजी का मुझ से खेल खेला॥
होरी के दिन अफसोस अफसोस। पिया पहुँचा नहीं अफसोस अफसोस॥
होली खेलें सब कोई अपने पी के संग।
मेरो जी तरसे सखी, किस पर डालूँ रंग॥

इस शोक-प्रदर्शन के उपरान्त, इस रचना की अन्तिम पंक्तियों के विरह-युक्त सन्देश तथा सन्देशवाहक की झाँकी भी देखिए—

पिया के पास तु जा कहियो कागा।
पकर के हाथ कोई संग ले जागा॥
अगर दरबार से आओ तू प्रीतम।
जवानी की भारी बातें सुनो तुम॥
पीया तुम अब न आओगे अभागे।
हम तुम छोड़ के परदेस भागे॥

दाहा—

सजन गये परदेश को सो बीते दिन बहुत ।
पीतम कारन ऐ सखी तन से निकला जीव ।।

छंद-भंग, भावहीनता, रसाभाव, भाषा-दोष, व्याकरण-दोष इत्यादि समस्त दोषों से युक्त इस रचना का साहित्यिक मूल्य कुछ भी नहीं है । परन्तु मध्यकाल में की गई हर प्रकार की रचना का आभास प्राप्त करने के लिए इनका उल्लेख आवश्यक है ।

आठवाँ अध्याय

स्फुट काव्य की लेखिकाएँ

जीवन की समस्त भावनाओं को विशिष्ट धाराओं में शृंखलित कर सकना असम्भव है। मानव-जीवन की अनेकोन्मुखी भावनाओं पर सौमित्र रेखा खींचना कठिन है। हिन्दी साहित्य के इतिहास की विस्तीर्ण रूपरेखा के अन्तर्गत यद्यपि अधिकांश मानव-भावनाओं का सम्मिलन हो जाता है, तथापि अनेक उपदेशात्मक तथा प्रचारात्मक विषय ऐसे रह जाते हैं जो किसी भी विशेष भावधारा में नहीं सम्मिलित किये जा सकते। स्फुट विषयों की विविधता के कारण भी उनका एकीकरण असम्भव हो जाता है।

स्फुट काव्य का विषय अधिकतर मन की कोमल वृत्तियों पर आधृत नहीं होता। भावना के प्रवाह का स्रोत कला बनकर नहीं उमड़ता, प्रत्युत कर्त्तव्य के प्रति जागरूक चेतनता, तर्क और विवेक प्रधान रहते हैं। हिन्दी में नारियों ने अधिकतर पतिभक्ति की महिमा-गान में ही इस प्रकार की रचनायें की हैं। नीति विषयक, वर्णनात्मक तथा अन्य इधर-उधर के विषयों पर भी रचनायें मिलती हैं, परन्तु पति-भक्ति की व्याख्या तथा महिमामय वर्णन उनका मुख्य ध्येय रहा है।

रचनाकाल तथा काव्याभिव्यक्ति में सफलता दोनों ही दृष्टियों से रत्नावली का नाम सर्वप्रथम आता है। तुलसीदास की पत्नी रत्नावली के नाम से हिन्दू जगत् का प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। पत्नी के कटु व्यवहार तथा प्रतारणा के प्रहार से तुलसी के हृदय का लौकिक उद्वेलन प्रगाढ़ रामभक्ति में परिणित हो गया, अभागिनी रत्नावली के जीवन का यही अंश प्रचलित है। तुलसीदास जी के संदिग्ध जीवन-वृत्त के कारण रत्नावली के जीवन के विषय में भी किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। राजापुर में प्राप्त तुलसीदास विषयक सामग्री में रत्नावली का उल्लेख कहीं-कहीं नहीं मिलता, परन्तु सोरों की सामग्री में रत्नावली विषयक तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं—

(१) मुरलीधर चतुर्वेदी द्वारा रचित 'रत्नावली' की एक प्रति जिसका रचना-काल सं० १९२९ माना जाता है।

(२) 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' की दो प्रतियाँ।

(३) 'दोहा रत्नावली' की एक प्रति।

सोरों तथा राजापुर की सामग्री की विश्वस्तता एक विवादग्रस्त विषय है। यद्यपि अधिकतर इतिहासकारों ने राजापुर की सामग्री को ही विश्वस्त माना है,

परन्तु सोरों में प्राप्त तुलसी ग्रंथों तथा उनसे सम्बन्धित अन्य सामग्री का पूर्ण निषेध करना असम्भव है। इस विवादग्रस्त विषय के विस्तार में जाना, प्रस्तुत प्रसंग से परे है, अतः जब तक सोरों के उल्लेखों का पूर्ण रूप से खण्डन नहीं हो जाता, वहाँ प्राप्त ग्रंथों की उपेक्षा असम्भव है और इस दृष्टि से रत्नावली के अस्तित्व का खण्डन भी असम्भव है।

जैसा पहले कहा जा चुका है जनश्रुति रत्नावली को तुलसी की पत्नी के रूप में स्वीकार करती है। सोरों में प्राप्त रत्नावली की रचनाओं के साथ जनश्रुतियों के साथ सामंजस्य स्वतः इतना शक्तिपूर्ण तर्क बन जाता है कि उनका खण्डन कठिन हो जाता है। प्रायः सभी इतिहासकारों ने रत्नावली के अस्तित्व को स्वीकार किया है, यहाँ तक कि तुलसीदास के जीवन-वृत्त तथा उनकी कृतियों पर विशेष रूप से गवेषणा करने वाले श्री माताप्रसाद गुप्त ने भी रत्नावली के ग्रंथों के विषय में यह मत दिया है।

'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' के सम्बन्ध में अवश्य हमें कोई सन्देहजनक बात नहीं ज्ञात होती, परन्तु सोरों में मिली हुई प्रत्येक अन्य सामग्री के सन्देहातीत न होने के कारण इस 'लघु दोहा संग्रह' के सम्बन्ध में भी यदि किसी को पर्याप्त विश्वास न हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। इस प्रकार रत्नावली द्वारा रचित ग्रंथों की विश्वस्तता सोरों की सामग्री की स्वीकृति अथवा खोज पर अवलम्बित है, और जब तक सोरों की सामग्री पूर्ण रूप से अस्वीकृत नहीं हो जाती, रत्नावली और उनकी रचनाओं का निषेध नहीं किया जा सकता।

रत्नावली के विषय में जो दूसरी शंका उठाई जाती है वह यह है कि उनके नाम से लिखे गये ग्रंथ उन्हीं द्वारा प्रणीत हैं अथवा किसी अन्य व्यक्ति ने अपनी रचनाओं को रत्नावली के नाम से लिख दिया है। मुरलीधरकृत 'रत्नावली' की उपलब्धि के कारण यह सन्देह और भी बढ़ जाता है, परन्तु ऐसा अनुमान करना रत्नावली के अस्तित्व का अकारण निराकरण होगा। 'रत्नावली'' तथा दूसरे ग्रंथों की भाषा तथा विषय-प्रतिपादन में स्पष्ट तथा तात्विक अन्तर है। दोनों ही दृष्टियों से मुरलीधरकृत यह ग्रंथ शेष दो ग्रंथों की अपेक्षा आधुनिकता के अधिक निकट है। किसी कवि के अस्तित्व तथा उसकी रचनाओं को स्वीकार करने में इस प्रकार का निषेधात्मक दृष्टिकोण ग्रहण करना तो अनुचित है ही, इन रचनाओं में व्यक्त अनुभूतियों में भी इतनी गहनता और सत्यता है कि वे रचनायें स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति ही जान पड़ती हैं।

इन तथ्यों को ध्यान में रखने पर रत्नावली के अस्तित्व को स्वीकार करना ही न्यायोचित जान पड़ता है। सोरों में प्राप्त सामग्री के आधार पर उनके जीवन का

संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

बदरिया नामक ग्राम में दीनबन्धु एक शास्त्रनिष्ठ, सज्जन उपाध्याय रहते थे। उनकी स्त्री का नाम दयावती था। इनके तीन पुत्र थे; शिव, शंकर तथा शम्भु—सबसे छोटी कन्या थी रत्नावली। रत्नावली प्रखर बुद्धि, सुन्दर तथा प्रतिभाशालिनी कन्या थी। कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा का उन दिनों यद्यपि कोई प्रबन्ध नहीं रहता था, पर अपने भाइयों को पढ़ते हुए सुनकर ही उसने अक्षर-ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस प्रतिभा को देखकर उसके पिता ने उसे व्याकरण, कोष इत्यादि से पूर्ण परिचित कर दिया। वाल्मीकि रामायण इत्यादि धर्म ग्रंथों का पारायण करने के पश्चात् छंद शास्त्र तथा पिंगल के नियमों का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया।

पुत्री के विवाह योग्य होने पर, गुरु नृसिंह की आज्ञा तथा परामर्श के अनुसार उसका विवाह तुलसीदास के साथ सम्पादित कर दिया। इस उल्लेख के अनुसार तुलसी के हृदय में रामभक्ति का बीज रत्नावली से विवाह के पूर्व ही अंकुरित हो चुका था। उनका परिचय देते हुए गुरु नृसिंह जी इन शब्दों में उनका उल्लेख करते हैं—ब्राह्मण वंश के अलौकिक दीपक तुलसीदास जोग मार्ग के पास रहते हैं। वह सदा राम-राम करते हैं इससे उनका नाम रामोला हो गया है। वह विद्या के निधान तथा विविध शास्त्रों के पण्डित हैं, वह काव्य-रचना में चतुर और सब प्रकार की बुराइयों से रहित हैं।

दम्पति सूकर क्षेत्र में बहुत दिनों तक सुखपूर्वक रहे, उनके तारक या तारापति नामक एक पुत्र भी था, परन्तु उसका अकाल ही स्वर्गवास हो गया। उनके सुखी विवाहित जीवन में यही एक शूल था।

एक बार रत्नावली रक्षा-बन्धन के अवसर पर पति की आज्ञा से माँ के घर गई। जीवन के सूनेपन को मिटाने के लिए तुलसी नौ दिन की कथा कहने के विचार से बाहर चले गये। तत्पश्चात् ग्यारहवें दिन आने पर उन्हें घर की नीरवता असह्य हो उठी, वे रत्नावली से मिलने के लिए आतुर हो गये। प्रेम की मादकता में वर्षा की घनघोर रात्रि में प्रबल गंगा की लहरों को पार कर वे श्वसुरालय पहुँचे। रत्नावली ने इतने कुसमय में आने का कारण पूछा और तुलसीदास से इस प्रकार का उत्तर पाकर कि वे उसी को देखने के लिए आतुर होकर प्रकृति की विषम प्रबलताओं से संघर्ष करते हुए आये थे, रत्नावली ने उनकी भर्त्सना नहीं की बल्कि अपने भाग्य की सराहना तथा प्रेम की महिमा की व्याख्या करते हुए कहा—"मेरे प्रेम के कारण तुमने इतनी विषमताएँ झेल लीं, मैं बड़ी बड़भागिनी हूँ, तुम प्रेम के आधार हो। प्रेम की महिमा अपार है, मेरे प्रेम की प्रेरणा से तुमने प्रबल बाढ़ से उद्वेलित गंगा को भी पार कर लिया। इसी प्रकार परमात्मा के चरणों से प्रेम कर मनुष्य संसार-सागर

को पार कर लेता है।" रत्नावली की इस वाणी की स्निग्धता तुलसी के हृदय में सांसारिक विषय-वासना के प्रति उपेक्षा बनकर व्याप्त हो गई।

प्रेम की मादकता में रत्नावली के शब्दों द्वारा विराग की प्रतिक्रिया हुई यह सत्य है, परन्तु इसका कारण रत्नावली का व्यंग्य था अथवा माधुर्य भावना का उपदेश, यह कहना कठिन है। उसी रात्रि की नीरवता में, जिसमें प्रकृति द्वारा उपस्थित किये गये अनेक व्यवधानों को पार करते हुए रत्नावली के पास आये, वे उसे अकेली छोड़ सदा के लिए चले गये। रत्नावली ने आशा-निराशा तथा प्रतीक्षा की उत्सुकता और विह्वलता में महीनों व्यतीत कर दिये। अन्ततः निराश होकर साधिकाओं के वेश में पूर्ण संयम का जीवन व्यतीत करने लगी। इसी समय में अपने हृदय की व्यथा व्यक्त करने तथा पतिभक्ति के प्रचार इत्यादि के लिए अनेक दोहों की रचना की।

सं० १६५१ वि० में उनके व्यथित शरीर तथा पीड़ित भावनाओं की दैहिक लीला समाप्त हो गई।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रत्नावली की पूर्ण उपेक्षा वास्तव में आश्चर्य का विषय है। केवल तुलसीदास की पत्नी के रूप में उनका उल्लेख कहीं-कहीं प्राप्त होता है, परन्तु उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व पर प्रायः बिलकुल प्रकाश नहीं डाला गया है। रत्नावली के दोहों के सम्पादक का प्रयास इस क्षेत्र में सराहनीय है। अभी तक रत्नावली के २०१ दोहे प्राप्त हुए हैं। इनमें से ८८ दोहों में रत्नावली अथवा रत्नावलि का पूर्ण संकेत है तथा ८२ दोहों में केवल रतन का प्रयोग है तथा ३१ दोहों में उनका नाम नहीं है।

इनकी काव्य-रचना किसी विशिष्ट भावधारा पर आधृत नहीं थी, जीवन के समस्त उपकरणों से उन्हें काव्य-प्रेरणा प्राप्त हुई है। सर्वप्रथम उनके आत्मपरिचय सम्बन्धी दोहे हैं, जो उनकी जीवनी के निर्माण में अन्तःसाक्ष्य के रूप में महत्त्वपूर्ण हैं। उनके शब्दों में उनकी जीवन कहानी का उद्धरण यहाँ अप्रासंगिक न होगा। जीवन के प्रत्येक अंश का वर्णन करते समय वह अपने वर्तमान के दुःखों की रेखा को नहीं बचा पाई हैं। वियोग की इन रेखाओं में उनके व्यथित नारी-हृदय की भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति है। पति के प्रति उनकी श्रद्धा तथा उनका प्रेम, अपने वचनों द्वारा उत्पन्न प्रतिक्रिया इत्यादि के वर्णन में नारी-हृदय की विह्वल अनुभूतियों का सुन्दर दिग्दर्शन है। अपने दुर्भाग्य को वह एक क्षण के लिए भी नहीं भूल सकी है—

> जनमि बदरिका कुल भई, हौं पिय कंटक रूप।
> बिंधत दुखित ह्वै चल गये, रत्नावलि उर भूप॥

प्रिय के जीवन में कंटक बनकर बिंध जाने की तीव्र व्यथा की करुण व्यंजना अन्य स्थलों पर भी मिलती है—

हाय बदरिका बन भई, हौं बामा विष बेलि ।
रत्नावलि हौं नाम की, रसहि दियो बिस मेलि ।।
दीनबंधु कर घर पली, दीन बंधु कर छाँह ।
तऊ भई हौं दीन अति, पति त्यागी मों बाँह ।।
सनक सनातन सुकुल कुल, गेह भयो पिय स्याम ।
रतनावलि आभा गई, तुम बिन बन सम गाम ।।

प्रथम पद की ग्लानि, द्वितीय की विवशता तथा तीसरे के नीरव सूनेपन की सजीव अभिव्यंजना उनकी काव्य-प्रतिभा तथा उनके व्यथित हृदय का परिचय देते हैं ।

आत्मपरिचय सम्बन्धी इन पदों में यद्यपि वर्णनात्मक उल्लेख ही अधिक हैं, परन्तु उनके हृदयगत भाव जो उनके जीवन के अंश बन गये थे, इन परिचयों में ही व्यक्त हो गये हैं । दाम्पत्य प्रेमाभिव्यक्ति के अवसर पर असावधानी से छेड़ी हुई भगवत प्रेम की चर्चा ही उनके जीवन की सबसे बड़ी भूल बन गई जिसके कारण उनके सर्वस्व का अस्तित्व विद्यमान रहते हुए भी उनके लिए नगण्य बन गया । तुलसी के प्रस्तुत संस्कार अकस्मात् उनके वचनों के झकोरों से जागृत हो गये । रत्नावली की ग्लानि इन शब्दों में साकार है—

समुद्र वचन अप्रकृत गरल, रतन प्रकृत के साथ ।
जो मो कहँ पति प्रेम संग, ईस प्रेम की गाथ ।।
होय सहज ही हों कही, लह्यो बोध हरि देस ।
हो रत्नावलि जँच गई, पिय हिय काँच विसेस ।।

उस ग्लानि की व्यथा में प्रतीक्षा की आशा भी है, प्रिय के स्मृति-चिह्नों के सहारे दिन व्यतीत करती हुई रत्ना प्रिय के आगमन के विविध स्वप्न देखती हुई जीवित रहती है । उसकी नारी-भावनाएँ उस शुभ दिन का चित्र खींचती हैं जब उसके प्रिय आयेंगे, परन्तु वह उपालम्भ का एक शब्द भी उनसे न कहेगी—

नाथ ! रहौंगी मौन हो धारहु पिय जिय तोस ।
कबहूँ न दऊँ उराहनो, दऊँ न कबहूँ दोष ।।

प्रिय की अनुपस्थिति में जीवन तथा उसका पोषण करने वाले अनेक उपकरण भारस्वरूप लगते हैं, केवल एक सहारा है जीने का; प्रिय की चरणपादुका—

असन बसन भूषन भवन, पिय बिन कछु न सुहाय ।
भार रूप जीवन भयो, छिन छिन जिय अकुलाय ।।
पति पद सेवा सों रहत, रतन पादुका सेइ ।
गिरत नाव सों रज्जु तेहि, सरित पार करि देइ ।।

प्रियतम द्वारा ग्रहण किये गये साधना-मार्ग की कठिनता की कल्पना से उसे अपना

व्यथायुक्त जीवन भी उपहासप्रद सुख-सा जान पड़ने लगता है। पति के दुखों की कल्पना तथा उनके मानस की व्यथा का व्यक्तीकरण इस श्लेषपूर्ण दोहे में देखिये—

रतन प्रेम डंडी तुला, पला जुरे इकसार।
एक बार पीड़ा सहै, एक गेह संभार ॥

आत्मपरिचय के इन सौष्ठवपूर्ण दोहों के अतिरिक्त उनके काव्य का विषय है नीति-वर्णन। नीति का सम्बन्ध अनुभूतियों की अपेक्षा विचार तथा तर्क से अधिक है, अतः कोमल भावनाओं की अपेक्षा तद्विषयक काव्य में कर्त्तव्य-भावना, तर्क तथा विवेक अधिक होता है। मध्यकालीन व्यवस्था में स्त्री के जीवन की सार्थकता पुरुष पूजा पर निर्भर थी, मध्यकालीन नारी के अनेक आदर्श रत्नावली के वर्ण्य विषय रहे हैं। पति विषयक सिद्धान्तों में उनके स्वर तुलसी के स्वरों के साथ ही मिल जाते हैं—

नेह सील गुन वित रहित, कामी हूँ पति होय।
रतनावलि भक्ति नारि हित, पुज्ज देव सम सोय ॥
पति गति पति बित मीत पति, पति गुरु सुर भरतार।
रतनावलि सरबस पतिहि, बंधु बंध जग सार ॥

पति-पूजा के इन आदर्शों के पश्चात् नारी के आचारों के विषय में उनकी सम्मति रोचक है तथा उनमें तत्कालीन सामाजिक नियमों का पूर्ण समर्थन तथा प्रतिपादन है, मध्यकालीन वातावरण की संकीर्णता में पुरुष तथा स्त्री के स्वच्छन्द सम्मिलन की आशंका का यह चित्र देखिये—

जुवक जनक, जामात, सुत, ससुर, दिवर और भ्रात।
इन्हूँ की एकांत बहु, कामिनि सुन जनि बात ॥
घी को घट है कामिनि, पुरुष तपत अंगार।
रतनावलि घी अगिन को, उचित न संग विचार ॥

स्त्री विषयक प्रसंगों के अतिरिक्त साधारण नीति पर भी उन्होंने दोहे लिखे हैं जो हिन्दी के अनेक नीति काव्यकारों की रचनाओं के समक्ष रखे जाने की क्षमता रखते हैं। उदाहरणार्थ—

रतनावलि काँटो लगो, वैदनु दियो निकारि।
वचन लग्यो निकस्यो न कहुँ, उन डारो हिय फारि ॥

नित्य-प्रति के व्यवहार के लिए उपयोगी तथा लाभप्रद व्यवहारों की नीति पर भी उन्होंने रचनायें की हैं, जीवन के कँटीले मार्ग पर व्यवहार कौशल से अनेक व्यवधान नष्ट हो जाते हैं। जीवन में छोटी-छोटी बातें समस्या बनकर खड़ी हो जाती हैं। अतः इन उपकरणों के प्रति जागरूकता जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है। रत्नावली की व्यवहार-कुशलता का सूक्ष्म निरीक्षण तथा उनका व्यक्तीकरण अन्य

नीतिकारों के समान ही विदग्ध तथा कुशल है।

सदन, भेद तन धन रतन, सुरति सुभेषज अन्न।
दान धरम उपकार तिमि, राखि बधू परछन्न ॥
अनजाने जन को रतन, कबहुँ न करि विश्वास।
वस्तु न ताकी खाइ कछु, देइ न गेह निवास ॥
बनिक, केरआ, भिच्छुकन, जन कबहूँ पतियाय।
रतनावलि जेइ रूप धरि, ठग जन ठगति भ्रमाय ॥

गिरधरराय तथा रहीम के दोहों से इनकी विदग्धता कम नहीं है, परन्तु लोक-वाणी का आश्रय न पा सकने तथा इतिहासकारों की नारी द्वारा सर्जित साहित्य के प्रति उपेक्षा के कारण रत्नावली की प्रतिभा सागर के तल में छिपे हुए रत्नों के समान अज्ञात रह गई है।

लौकिक जीवन के भगवान् पति तथा पति-पूजा के आवश्यक तत्त्वों पर तो उन्होंने रचनायें की ही हैं, अलौकिकता के शाश्वत सत्य तथा संसार की नश्वरता की अभिव्यक्ति में उनका दार्शनिक दृष्टिकोण भी व्यक्त है।

उनके असफल तथा अतृप्त नारीत्व में लौकिक व्यवहार-कौशल तथा अपार्थिव दार्शनिकता का सामंजस्य देखकर आश्चर्य होता है। इन विरोधी प्रवृत्तियों तथा परि-स्थितियों का यह सम्मिलन अद्भुत है। उनके शब्दों में यौवन, धन तथा शक्ति के विकारात्मक प्रभाव तथा इन्द्रियों की लालसा से तृष्णा की अभिवृद्धि की विवेचना सुनिये—

तरुणाई धन देह बल, बहु दोषन आगार।
बिनु विवेक रतनावली, पशु सम करत विचार ॥
रतनावलि उपभोग सों, होत विषय नहिं शान्त।
ज्यों-ज्यों हवि में हो अनल, त्यों-त्यों बढ़त नितान्त ॥

इन्द्रियों के अनियन्त्रित अश्वों को यदि मन रूपी सारथी वश में नहीं कर सकता तो तन रूपी रथ को वे विनाश के गर्त में ढकेल देते हैं—

पाँच तुरंग तन रथ जुरे, चपल कुपथ लै जात।
रतनावलि मन सारथिहिं, रोकि सके उत्पात ॥

यही नहीं यदि इनमें से एक को भी अनियन्त्रित छोड़ दिया जाय तो वे अनिष्टकारी हो जाती हैं—

मन नैन रसना रतन करन नासिका साँच।
एकहि मारत अवस ह्वै, स्ववस जिआवत पाँच ॥

इन दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ ही वे परोपकार, विश्वबन्धुत्व इत्यादि विशाल

भावनाओं का प्रतिपादन भी करती हैं। दूसरों के लिए जीवित रहने वाला व्यक्ति ही प्रशस्ति का पात्र है। अपने उदर की परितृप्ति तो पशु भी कर लेते हैं, परहित में व्यतीत किया हुआ एक क्षण ही जीवन है, अन्यथा मृत्यु—

परहित जीवन जासु जग, रतन सफल है सोइ।
निज हित कूकर काक कपि, जीवहि का फल होइ॥
रतनावलि छनहूँ जिये, धरि पर हित जस ज्ञान।
सोई जन जीवत गनहु, अति जीवन मृत मान॥

वसुधैव कुटुम्बकम् की पुनीत भावना की अभिव्यक्ति रत्नावली के शब्दों में सुनिये—

ये निज, ये पर, भेद इमि, लघु जन करत विचार।
चरित उदारन को रतन, सकल जगत परिवार॥

रत्नावली के वर्ण्य-विषय की यह संक्षिप्त रूपरेखा उनकी रचनाओं का आभासमात्र है। उनके समस्त दोहों की सरलता, विदग्धता तथा भावुकता परिचय की वस्तु है. जीवन में उपेक्षिता रत्नावली की यह साहित्यिक उपेक्षा उनके प्रति महान् अन्याय और अपराध है। वर्ण्य-विषय की विविधता में जीवन की अनेक प्रवृत्तियों तथा प्रभावों के दिग्दर्शन के पश्चात् उनकी रचनाओं का साहित्यिक मूल्यांकन अनिवार्य हो जाता है।

जीवन के साधारणतम अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने साधारणतम परन्तु सार्थक उपमानों का सहारा लिया है, जिनसे उनकी अद्भुत पर्यवेक्षण शक्ति का आभास मिलता है। उनकी सादृश्यमूलक अभिव्यंजनाओं की सफलता का अनुमान निम्नलिखित कुछ उद्धरणों के आधार पर किया जा सकता है। नारी-जीवन तथा उसके मन रूपी शाक में रुचि तब तक नहीं आ सकती है जब तक उसे प्रिय के स्नेह का लवण नहीं प्राप्त होता—

तिय जीवन तेमन सरिस, तौलौं कछुक रुचै न।
पिय सनेह रस रामरस, जौलौं रतन मिलै न॥

उनके द्वारा उपमाओं के प्रयोग का औचित्य तथा उपयुक्तता इन पंक्तियों में देखिये—

भल इकलो रहिबो रतन, भलो न खल सहवास।
जिमि तरु दीमक संग लहै, आपन रूप बिनास॥
सवरन स्वर लघु द्वै मिलत, दीरघ रूप लसात।
रतनावलि अस वरन द्वै, मिलि निज रूप नसात॥

जीवन के उपकरणों के इस पर्यवेक्षण के अतिरिक्त प्रकृति को भी अपनी अभिव्यंजना का प्रसाधन बनाना वे नहीं भूली हैं, प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोपण कर उन्होंने भावना तथा अभिव्यंजना के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की घोषणा की है। प्रवंचक मित्र का यह सुन्दर लक्षण तथा उसकी अभिव्यंजना उत्कृष्ट है—

उदय भाग रवि मीत बहु, छाया बड़ी लखात।
अस्त भये निज मीत कहूँ, तनु छाया तजि जात॥

जिस प्रकार पूर्ण उदित सूर्य के प्रकाश में शरीर की छाया बड़ी दिखाई देने लगती है, परन्तु उसके अस्तप्राय होने पर छाया भी क्रमशः विलीन हो जाती है; उसी प्रकार भाग्य रवि के प्रखर प्रकाश के समय तो मित्रमंडल बड़ा हो जाता है, परन्तु भाग्य के प्रकाश के मंद होने पर उनका पता नहीं रह जाता।

उपमाओं की योजना के अतिरिक्त, कल्पना तथा भावों की सरल तथा स्पष्ट अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक तथा प्रभावात्मक हैं, अलंकारों तथा अन्य काव्य-सज्जा के उपकरणों के अभाव में भी उनकी व्यथा की करुणा सजीव है—

कर गहि लाये नाथ तुम, वादन बहु बजवाय,
पदहु न परसाये तजत, रतनावलिहि जगाय।

अर्द्ध विकसित जीवन की उन्मीलित लतिका पर सौरभ के स्वप्न तथा तुषार-पात की करुणा का यह चित्र उनकी कल्पना तथा अभिव्यक्ति कौशल का उदाहरण है—

मलिया सींची विविध विधि रतन लता करि धार।
नहिं वसंत आगम भयो, तब लगि पर्‌यो तुसार॥

सादृश्यमूलक इन सुन्दर अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त इनके काव्य का बाह्य परिधान भी सरल, सुष्ठ तथा कलापूर्ण है। उनकी भाषा सरल ब्रजभाषा है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग तो है, पर उनका बाहुल्य नहीं। तद्भव तथा तत्सम शब्दों की संख्या का अनुपात प्रायः समान है। उर्दू शब्दों का पूर्ण अभाव है, केवल कुछ शब्द, जिनका प्रचलन देशी भाषाओं में हो गया था, उन्होंने ग्रहण किये हैं। इनके उदाहरण रूप में तुपक, चकमक इत्यादि शब्द लिये जा सकते हैं। व्याकरण-दोष उनकी भाषा में प्रायः नहीं आने पाये हैं, पुनरुक्ति तथा ग्रामीणत्व, अश्लीलत्व इत्यादि दोषों का पूर्ण अभाव है। उनके अनुसार काव्य का आदर्श इस प्रकार है—

रतन भाव भरि भूरि जिमि, कवि पद भरत समास।
तिमि अचरहु लघु पद करहि, अरथ गंभीर विकास॥

उनकी रचनाओं में इन आदर्शों की परिपूर्त्ति की पूर्ण चेष्टा है, उन्होंने दोहा छंद के अतिरिक्त और किसी छंद में रचनायें नहीं कीं, परन्तु उनके दोहों का सौष्ठव हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ दोहाकारों की रचनाओं के समकक्ष रखा जा सकता है। छंद सम्बन्धी दोषों का उनमें पूर्ण अभाव है, यति तथा मात्रा-भंग के दोष बिलकुल नहीं आने पाये हैं। यद्यपि उन्होंने सबसे संक्षिप्त रचना-शैली ग्रहण की थी पर उनमें वे गम्भीरतम विषयों की विशद विवेचना में समर्थ हो सकी हैं। उनकी भाषा में अलंकारों की सज्जा भी पर्याप्त तथा आकर्षक है। कुछ उदाहरणों से उनकी कवित्व शक्ति का आभास मिल जायेगा।

विरोधाभास तथा यमक के सम्मिलित प्रयोग के निम्न दो उदाहरण उनके काव्य-कौशल के परिचायक हैं—

दीन बन्धु के घर पली, दीन बन्धु कर छाँह।
तोउ भई हौं दीन अति, पति त्यागी मों बाँह॥

तथा

सनक सनातन कुल सुकुल, गेह भयो पिय स्याम।
रतनावलि आभा गई, तुम बिन बन सम गाम॥

नारीसुलभ परम्परागत उलझन का समाधान रत्नावली ने जिस कौशल से किया है, वह उनकी अभिव्यंजना-शक्ति का प्रमाण है। हिन्दू नारी अपने पति के नाम का उच्चारण नहीं कर सकती, उस संकोच का समाधान वैदग्ध से होता है। उसके व्यक्तित्व की ऋजुता में विदग्धता का समावेश इस पर्यायोक्ति में देखिये—

जासु दलहि लहि हरषि हरि, हरत भगत भव रोग।
तासु दास पद दासि ह्वै, रतन लहत कत सोग?

कवि-सम्राट् तुलसी की परिणीता रत्नावली की उपेक्षित भावनाएँ उनके काव्य की प्रेरणा बन गईं। जीवन की एक घटना की प्रतिक्रिया से तुलसी को अमरता का वरदान मिला, रत्नावली की शब्दों की रगड़ द्वारा उत्पन्न उनकी प्रतिभा की चमक से मानवमात्र अभिभूत हो गया, परन्तु रत्नावली की उपेक्षित भावनाएँ उसके व्यक्तित्व के समान ही उपेक्षित रह गयीं। यद्यपि जीवन की उस महान् उपेक्षा के सामने इसका महत्त्व नगण्य है, परन्तु हिन्दी के इतिहास में रत्नावली के नाम के उल्लेखमात्र का भी अभाव उनके प्रति महान् अपराध है।

खगनिया—हिन्दी साहित्य में पहेलियों तथा मुकरियों के सर्वप्रथम तथा श्रेष्ठ लेखक अमीर खुसरो हुए हैं, प्रायः प्रत्येक इतिहासकार ने उनकी गणना उस युग के प्रमुख कवियों में की है। इस प्रकार की रचनाओं में यद्यपि काव्योचित सर्वत्र गुणों का प्रायः अभाव-सा रहता है, परन्तु भाषा के द्वारा छंदोबद्ध शैली में विदग्ध

भावाभिव्यक्ति के कारण उन्हें काव्य के अन्तर्गत रखना अनुचित नहीं है, अतः खगनिया की वैदग्धपूर्ण उक्तियाँ नारी द्वारा सर्जित हिन्दी काव्य में स्थान प्राप्त करने की पूर्ण अधिकारिणी हैं।

खगनिया उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के अन्तर्गत रणजीत पुरवा ग्राम की निवासिनी थीं। इनका जन्म तेली वंश में हुआ था तथा इनके पिता का नाम बासू था। यद्यपि इन्हें नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ था परन्तु जन्मजात प्रतिभा तथा मुखरता के कारण वे पहेलियाँ बनाने में बहुत प्रवीण हो गई थीं। उत्तर प्रदेश में खगनियाँ की पहेलिया बहुत प्रचलित हैं।

श्री निर्मल जी ने उनके विषय में एक परिचयात्मक पद का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

सिर पै लिये तेल की मेटी।
घूमति हौं तेलिन की बेटी॥
कहौं पहेली बहलै हिया।
मैं हौं बासू केर खगनिया॥

इनका रचनाकाल सम्वत् १६६० वि० के लगभग माना जाता है। इन्होंने अपनी पहेलियों में अपने पिता के नाम का प्रयोग भी किया है, उनकी वाक्-विदग्धता तथा अभिव्यंजना की चातुरी के साथ उनकी निरक्षरता का सामंजस्य करना कठिन हो जाता है, परन्तु उनकी रचनाओं का प्रचलित अस्तित्व उस आश्चर्य का समाधान कर देती हैं उनकी विदग्धता के उदाहरण के लिए उनकी पहेलियों का उद्धरण आवश्यक है।

लम्बी चौड़ी आँगुरी चारि। दुहों ओर तें डारिनि फारि॥
जीव न होय जीव को गहै। बासू केरि खगनिया कहै॥
—कंघी

रहत पीतम्बर वाके काँधे। गूँजत पुहुपन पै मन साधे॥
कारो है पै रस को गहै। बासू केर खगनिया कहै॥
—भौंरा

तिरिया देखी एक अनोखी। चाल चलत है चलबल चोटी॥
मरना जीना तुरत बताय। नेकु न अन्तहु पानी खाय॥
हाथन माहै सबके रहै। बासू केर खगनिया कहै॥
—नाड़ी

चुप्पी साधे नेकु न बोले। नारी वाकी गाँठें खोले॥
दरवाजन में ऐसन लटके। चोरन ते स्वागत बेखटके॥

रच्छा घर की करता रहै। बासू केर खगनिया कहै॥

—ताला

दुइनो एक अजीब अनोखी। बड़ी करारी रंगति चोखी।
जाते ये दोनों लग जाती। बिनु देखे नहिं वाही अघाती॥
बिना न याके जीवन रहै। बासू केर खगनिया कहै॥

—आँख

इन पहेलियों की आलोचना में उनकी विदग्धता को छोड़कर कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता। उनकी भाषा ठेठ तथा ग्रामीण अवधी है जिसमें अवधी के ग्रामीण शब्दों का प्रयोग है, उदाहरणार्थ—

बाह्मन खावै पेटवा फार। लाली है रंगसि वहि कयार॥
आँखिन माँ सब लेय लगाय। लरिका वाते सुख पाय॥

भाषा में यत्र-तत्र खड़ीबोली के क्रिया का प्रयोग भी मिलता है जैसे 'रच्छा घर की करता रहै', 'ये दोनों लग जातीं', 'बन जाती है जंगी' आदि।

खगनिया की विदग्धता तथा वाक्चातुरी उनकी बोलचाल की साधारण भाषा अवधी में बहुत स्वाभाविकता से व्यक्त है। उनकी पहेलियों का अपना स्थान है।

केशवपुत्र बधू—इनका उल्लेख बुन्देल वैभव में प्राप्त होता है। इनका जन्म ओरछा में सम्वत १६४० में हुआ था, तथा इनका रचनाकाल १६७० के लगभग उल्लिखित है। उनके सम्बन्ध में विस्तृत रूप से तो कुछ ज्ञात नहीं है, परन्तु जनश्रुतियों के अनुसार यह अनुमान किया जाता है कि उनके पति एक कुशल वैद्य थे, वैद्यक पर उन्होंने एक श्रेष्ठ ग्रंथ की रचना भी की थी। दैवयोग से वे क्षयरोग से ग्रसित हो गये, अतः आयुर्वेद के अनुसार उनके उपचार के लिए आँगन में बकरा बाँध दिया गया। आयुर्वेद में कदाचित् इस बात का निर्देश है कि क्षय के रोगी को इससे लाभ होता है।

तरुणावस्था में ही इस दैविक आपत्ति ने उनके हृदय में संसार के प्रति उदासीनता उत्पन्न कर दी थी। एक दिन आँगन बुहारते समय उनकी पत्नी के पैर पर बकरे ने पैर रख दिये, उसी समय उन्होंने एक सवैये की रचना की जिसका उल्लेख द्विवेदी जी ने बुन्देल वैभव में किया है। सवैया ब्रजभाषा में है—

जैहे सबै दुख भूलि तबै,
जब नेकहु दृष्टि दै मोते चितै है।
भूमि में आँक बनावत मेटत,
पोथी लिये सबरो दिन जैहै॥
दुहाई कका जी की साँची कहौं,
गति पीतम की तुमहू कहँ वैहैं।

मानो तो मानो अबैं अजिया सुत,
केहौं कका जू सौ तोहि पढ़े है ॥

साधारण ब्रजभाषा में रचित यह सवैया एक साधारण उक्तिमात्र है। केवल छंदबद्ध होने के नाते ही उसकी गणना काव्य के अन्तर्गत की जा सकती है।

कविरानी चौबे—कविराज लोकनाथ चौबे बूँदी के राजा बुद्धसिंह जी के आश्रित कवि थे। उनकी स्त्री कविरानी भी कविता करती थीं। राजा बुद्धसिंह का समय सम्वत् १७५२ से १८०५ तक माना जाता है, अतः कविरानी के रचनाकाल का अनुमान भी समय की इसी परिधि के अन्दर अनुमान किया जाता है।

लोकनाथ चौबे स्वयं एक कुशल कवि थे, उनके सत्संग तथा संसर्ग से कविरानी ने भी काव्य-रचना का अभ्यास आरम्भ किया था। इनके द्वारा रचित केवल दो कवित्त प्राप्त हैं। जिसका ऐतिहासिक प्रसंग इस प्रकार है—

राजा बुद्धसिंह दिल्ली के आधीन थे, अतः कार्यवश कभी-कभी उन्हें दिल्ली जाना पड़ता था। एक बार लोकनाथ जी भी उनके साथ गये, वहाँ से बुद्धसिंह जी ने उन्हें किसी कार्यवश अटक भेजने का निश्चय किया। धर्मनिष्ठ कविरानी को इस समाचार से बहुत दुःख हुआ, उनकी संकीर्ण भावनाओं को सर्वप्रथम लोकनाथ जी के धर्मभ्रष्ट हो जाने की शंका उत्पन्न हुई, क्योंकि अटक में मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक थी, उन्होंने अपनी आशंका पद्यात्मक शैली में अपने पति के पास लिख भेजी—

मैं तो यह जानी हो कि लोकनाथ पति पाय,
संग ही रहौंगी अरधंग जैसे गिरिजा।
एते पै विलक्षण ह्वै उत्तर गमन कीन्हों,
कैसे के मिटत ये वियोगविधि सिरजा ॥
अब तो जरूर तुम्हें अरज करै ही बने,
वै हू द्विज जानि फरमाय है कि किरजा।
जो पै तुम स्वामी आज कटक उलंघि जैहौ,
पाती माँहि कैसे लिखूँ मिश्र मीर मिरजा ॥

इस शंकाभरे संदेश में सरल भावनाएँ ही व्यक्त हैं, सहवास की सुनहली आशा में, उत्तर गमन के संदेश द्वारा व्याघात, उनकी आशा-भरी प्रार्थना तथा नदी पार करके मिश्र से मीर मिरजा में परिवर्तन होने की आशंका तर्कपूर्ण शैली तथा कौशल से व्यक्त है, परन्तु काव्य-तत्वों का उसमें पूर्ण अभाव है।

आशंका के समाधान में और भी साधारणता है, प्रथम पद में तो कुछ उपमाओं तथा आशा-निराशा के उद्वेलन के चिह्न मिलते भी हैं, परन्तु दूसरे पद में तो केवल उक्तियाँ मात्र हैं—

विनती करहुगे जो वीरराव राजा जी सो,
सुनत तिहारी बात ध्यान में धरहिंगे।
पाती कविरानी मोरी उनहिं सुनाय दीन्हों,
अवसि विरह पीर मन की हरहिंगे॥
वे हैं बुद्धिमान् सुखदान बड़भागी बड़े,
धरम की बात सुन मोद सों भरहिंगे।
मेरी बात मानों राव राजा सों अरज करौ,
लौटन को घर फरमाइस करहिंगे॥

इनके पदों में न तो वाक्-विदग्धता है और न काव्य-सरसता। अनलंकृत, सज्जाहीन परन्तु प्रवाह-युक्त कवित्त शैली में अपनी भावनाओं की सरल अभिव्यक्ति कर देने में वे सफल रही हैं। संस्कृत के तद्भव तथा तत्सम शब्दों का यद्यपि अभाव नहीं है, परन्तु ब्रजभाषा के देशज शब्दों का प्रयोग ही अधिक हुआ है। उर्दू के शब्दों के प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलते हैं। सीधी तथा सरल अभिव्यंजना ही उनके काव्य का गुण है।

साईं—हिन्दी के प्रसिद्ध नीतिकुशल कविराय गिरधर की ये पत्नी थीं। जनश्रुतियों के आधार पर विविध इतिहासकारों ने गिरधर कविराय की उन रचनाओं को जिनमें साईं शब्द का प्रयोग मिलता है, उनकी पत्नी द्वारा रचित माना है। महिला मृदुबानी तथा स्त्री कवि कौमुदी के लेखकों ने इस अनुमान को सत्य मानकर उनकी रचनायें उद्धृत की हैं। यदि उनका अनुमान सत्य है तो साईं उन भाग्यशालिनी स्त्रियों में से एक ठहरती हैं, जिन्हें प्रतिभावान पति की छाया में विकास का अवसर प्राप्त हुआ था।

कविराय गिरधर का समय नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध है, परन्तु निर्मल जी ने साईं का जन्म सम्वत् १७७० माना है, उनका निर्धारण सर्वथा अनुमान पर आधृत है, अतः गिरधर कवि की हस्तलिखित रचना में दिया हुआ समय ही अधिक विश्वस्त प्रतीत होता है।

कहा जाता है कि गिरधर कवि ने कुंडलियों की रचना किसी निश्चित संख्या में करने का विचार किया था, परन्तु उसके पहले ही मृत्यु का ग्रास बन जाने के कारण उनकी यह कामना अधूरी ही रह गई तथा उनकी पत्नी साईं ने सच्ची सहधर्मिणी की भाँति पति की इच्छा की पूर्ति की। यदि इस जनश्रुति को सत्य मान लें, जैसा कि कई इतिहासकारों ने माना है तो साईं द्वारा रचित अनेक कुंडलियाँ प्राप्त होती हैं जिनकी शैली, सौष्ठव तथा वैदग्ध्य किसी भी दृष्टि से गिरधर कवि की रचनाओं से निम्न स्तर पर नहीं है। नीति विषयक सिद्धान्तों का वर्णनात्मक प्रति-

पादन तथा अन्योक्तियों के रूप में विवेचन बड़े कौशल से किया गया है। परन्तु काव्य-विवेचन के पूर्व ही साईं द्वारा रचित काव्य के अस्तित्व के सामने सन्देह के कई प्रश्न-चिह्न लग जाते हैं।

सर्वप्रथम शंका उनकी स्वतन्त्र रचना पर उठती है, उनकी कुंडलियों में 'कह गिरधर कविराय' के प्रयोग से साईं ने यदि स्वयं रचनायें की थीं तो गिरधर कविराय के नाम के उल्लेख की क्या आवश्यकता थी ? इसका समाधान इस प्रकार से हो सकता है कि साईं ने अपने पति की अभिलाषा की पूर्ति के लिए काव्य-रचना की थी, अतः सम्भव है कि उनकी मनोवांछित संख्या की पूर्ति के लिए जो रचनायें उसने की हों उसमें पति के नाम का उल्लेख भी अपने नाम के साथ कर दिया हो। इस प्रकार पति और पत्नी दोनों के नाम से वे कुंडलियाँ प्रचलित होकर अमर बन गई हों।

साईं शब्द से युक्त कुंडलियों का गिरधर की पत्नी द्वारा रचित होने का प्रमाण निर्मल जी ने इस प्रकार दिया है—यह निर्विवाद सत्य है कि जिन कुंडलियों के प्रारम्भ में साईं शब्द है वे गिरधर द्वारा रचित नहीं हैं क्योंकि गिरधर जी को साईं शब्द युक्त तथा तद्विहीन दो प्रकार की रचनायें बनाने की क्या आवश्यकता थी ? इससे यही मानना पड़ता है कि ये कुंडलियाँ इनकी स्त्री की ही बनाई हुई हैं।

उपर्युक्त तर्क अधिक सबल नहीं है क्योंकि किसी भी कवि के लिए दो प्रकार की रचना करना असम्भव नहीं है। सम्भव है कि कुछ रचनाओं में उन्होंने साईं शब्द का प्रयोग सम्बोधन मात्र के लिए कर दिया हो।

नाम उल्लेख की इस समस्या के अतिरिक्त दूसरा कारण संशय का मिलता है—गिरधर तथा साईं की शैली का पूर्ण समान रूप। प्रत्येक व्यक्ति की अभिव्यंजना पर उसके व्यक्तित्व का प्रभाव होता है। साईं ने यद्यपि काव्य-रचना की प्रेरणा पति से ही प्राप्त की होगी, परन्तु उस प्रेरणा की अभिव्यक्ति में उनके नारीत्व की छाप अवश्यम्भावी है। साईं की रचनाओं में कोमलता तथा नारी उचित सहज भावना का पूर्णतः अभाव है। जीवन-क्षेत्र में नीति-कौशल की चरम सीमा पर पहुँचकर भी नारी की भावना में इतनी परुषता असम्भव प्रतीत होती है जितनी साईं की रचनाओं में व्यक्त है, उदाहरणार्थ—

साईं सत्य न जानिये, खेलि शत्रु संग सार।
दाँव परे तहिं चूकिये, तुरत डारिये मार॥
तुरत डारिये मार नरद कच्ची करि दीजे।
कच्ची होय तो होय धार जग में जस लीजे॥
कह गिरधर कविराय गुगन याही चलि आई।
कितनो मिलै घिघाय शत्रु को मारिय साईं॥

इसके अतिरिक्त शब्दों के प्रयोग, अभिव्यक्ति के प्रसाधन, भाषा तथा वर्ण्य-विषय सबमें इतना साम्य है कि साईं युक्त कुंडलियों के रचयिता के पृथक् अस्तित्व पर शंका होने लगती है, परन्तु इस शंकायुक्त स्थिति में उनके मान्य अस्तित्व का पूर्ण निषेध भी असम्भव है, अतः उठे हुए प्रश्नों के संतोषजनक समाधान के अभाव में भी साईं युक्त कुंडलियों की पूर्ण उपेक्षा असम्भव है।

नीति विषयक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उन्होंने दो शैलियाँ ग्रहण की हैं—(१) वर्णनात्मक; और (२) अन्योक्ति। वर्णनात्मक कुंडलियों में मुख्य विषय का उल्लेख प्रथम पंक्ति में कर, उसके बाद की पंक्तियों में एक अथवा अनेक उदाहरणों द्वारा उसकी परिपुष्टि की है। पिता तथा पुत्र के वैमनस्य के परिणाम का ऐतिहासिक कथाओं तथा उपहासजनक वातावरण के चित्रण से युक्त एक उल्लेख देखिये—

साईं बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरनाकुस ओ' कंस को, गयो दुहुन को राज ॥
गयउ दुहुन को राज, बाप बेटा में बिगरी।
दुश्मन दावागीर हँसे महिमंडल नगरी ॥
कह गिरधर कविराय युगन ते यहि चलि आई।
पिता पुत्र के बैर नफ़ा कहु कौने पाई ॥

ऐतिहासिक ही नहीं, जीवन तथा प्रकृति के अन्य उपकरणों के उदाहरणों के द्वारा भी उन्होंने स्वकथित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जीवन के छोटे-छोटे उपकरण भी उनकी अभिव्यंजना की शक्ति बन गये हैं—

साईं कोउ न विरोधिये छोट बड़ो इक भाय।
ऐसे भारी वृक्ष को कुल्हरी देत गिराय ॥
कुल्हरी देत गिराय मार के जमीं गिराई।
टूक टूक के काटि समुद में देत बहाई ॥
कह गिरधर कविराय फूटि जिहिं के घर जाई।
हरनाकुस अस कंस गये बलि सबहिन साईं ॥

वर्णनात्मक कुंडलियों की सरलता तथा स्पष्टता के साथ ही उनकी अन्योक्तियों की विदग्धता तथा व्यंग्य भी दर्शनीय हैं—

साईं तहाँ न जाइये जहाँ न आपु सुहाय।
बरन विषै जानै नहीं, गदहा दाखै खाय ॥
गदहा दाखै खाय गऊ पर दागि लगावै।
सभा बैठि मुसकाय यही सब नृप को भावै ॥

कह गिरधर कविराय सुनो रे मेरे भाई।
तहाँ न करिये वास तुरत उठि आइये साईं ॥

सामाजिक विषमता के इस प्रकार के वर्णनात्मक उल्लेखों के अतिरिक्त विनोदपूर्ण व्यंग्य चित्रों की सजीवता अनुपम है। राजनीतिक विषमता का यह व्यंग्य-चित्र शंकर के कार्टूनों से कम नहीं है—

साईं घोड़े अछत हौ गदहन पायो राज।
कौआ लीजे हाथ में दूर कीजिए बाज ॥
दूर कीजिए बाज राज पुनि ऐसो आयो।
सिंह कीजिये कैद स्यार गजराज चढ़ायो ॥
कह गिरधर कविराय जहाँ यह चूकि बड़ाई।
तहाँ न कीजिय भोर साँझ उठि चलिये साईं ॥

इन गम्भीर विषयों की इतनी सबल, सरल तथा मार्मिक विवेचना उस युग की नारी की क्षमता के परे लगती है। छंद तथा भाषा इत्यादि पर उनके अधिकार की कल्पना तो की जा सकती है, परन्तु इन विषयों के साथ उनके नारी-हृदय का सामंजस्य करना कठिन मालूम होता है।

चित्रांकन की शक्ति का भी अनुपम परिचय उन पदों में मिलता है, वैषम्य-जनित व्यंग्य के उदाहरण प्रस्तुत किये जा चुके हैं, उदासीन भावनाओं की नीरवता के चित्र का उदाहरण भी लीजिए—

साईं हंसन आप ही बिनु जल सरवर वास।
निर्जल सरवर से डरें पच्छी पथिक उदास ॥
पच्छी पथिक उदास छाँह विश्राम न पावैं।
जहाँ न फूलत कमल भौंर तहँ भूलि न आवैं ॥
कह गिरधर कविराय जहाँ यह बूझि बड़ाई।
तहाँ न करिये साँझ प्रात ही चलिये साईं ॥

राजनीति तथा समाज के व्यंग्यात्मक चित्रण तथा व्यवहार-कौशल का वर्णन ही इन कुंडलियों में है। कुंडलियों के अतिरिक्त और किसी छंद का प्रयोग इनके नाम की रचनाओं में नहीं मिलता। छंद के सब नियमों का पालन उन्होंने सर्वत्र किया है, प्रथम शब्द तथा अन्तिम शब्द का निर्वाह बड़ी कुशलता से किया गया है, केवल एक पद इसके उदाहरण रूप में मिलता है—

साईं जग में योग करि युक्ति न जानै कोय।
जब नारी गौने चली चढ़ी पालकी रोय ॥

चढ़ी पालकी रोय न जाने कोई जी की।
रही सुरत तन छाय सुछतियाँ अपने ही की॥
कह गिरधर कविराय अरे जनि होहु अनारी।
मुँह से कहै बनाय पेट में बिन वै नारी॥

भाषा में अवधी शब्दों का बाहुल्य है, क्रियापदों में खड़ीबोली का प्रयोग भी अधिकता से हुआ है, तथा आश्चर्य का विषय तो यह है कि उर्दू तथा फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। अवध के किसी ग्राम में वास करने वाली साईं इस प्रकार की पदावली का प्रयोग करने में कैसे समर्थ हो सकी, यह भी एक प्रश्न है—

साईं लोक पुकार दे रे मन तू हो रिन्द।
यह यकीन दिल में धरो मैं सबको खाबिन्द॥
मैं सबको खाबिन्द एक खालक हकताला।
खिलकत है यह फना और हर से पर चाला॥
कह गिरधर कविराय आपना दुखी दुखाई।
मन खुदाय ला जिसमें बाँग हरदम दे साईं॥

इस प्रकार अनेक प्रश्नों के संदिग्ध उत्तर साईं के काव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व का खंडन करते हैं, परन्तु अनुमान के शिला-विन्यास पर आधृत साईं तथा उनके काव्य के इतिहास का डगमगाता अस्तित्व परिचय की वस्तु है।

नैना योगिनी—इस अद्भुत नामधारिणी लेखिका का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में मिलता है। इनके द्वारा रचित ग्रंथ का नाम भी विचित्र है साँवर तंत्र। तांत्रिक योग-पद्धति इसका विषय है। विषय तथा नाम की विचित्रता उनके स्त्री होने के विषय में एक शंका उत्पन्न कर देती है। परन्तु स्त्रीलिंग में नाम होने के कारण तथा उनको पुरुष मानने के किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में उनको सम्मिलित करना आवश्यक जान पड़ता है। ग्रंथ के रचनाकाल का तो ठीक निश्चय नहीं हो सकता। परन्तु उसका लिपिकाल सं० १८६३ है। विषय तथा ग्रंथ के विषय में कुछ कहना अथवा उसकी आलोचनात्मक विवेचना करना तो कठिन है, परन्तु उसके प्रारम्भ तथा अन्त के प्राप्त उद्धरणों का उल्लेख यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। ग्रंथ का आरम्भ इस प्रकार होता है—

श्री गणेशायनमः। अथ गोरखनाथ कामाक्षा लौक मानयतो योगिनी नैना कृते साँवर तंत्र प्रयोग म.हः॥ आदि गुरु की दृष्टि करतार वेदन हरतार योहि की चा तीन लोक युग, चारि वेद, पाँडव पाँच, भाग सात समुद्र, आठौ वसु, नव ग्रह, दस रावण, ग्यारह रुद्र, बारह राशि, चौदह भुवन, पन्द्रह तिथि, चारि खानि, पाँचौ भूत, चौरासी लाख आत्मा जीव जोनि, अष्ट कुल नाग, तैंतोस कोटि देवता, आकाश.

पाताल, मृत्यु मंडल, दिन रात, प्रहर घरी, दंड पल, योग मुहूर्त, इस मसाखी यो फलाने करे पिंड आवे।

अनेक पौराणिक, दैविक तथा प्राकृतिक उपकरणों के परिगणन के अतिरिक्त शेष सब कुछ अस्पष्ट है। ग्रंथ का अन्त इस प्रकार होता है—

अथ बालक झारे को मंत्र न उलटंत नरसिंह पलटंत काया शहि देखे नरसिंह बोलाया। तो के करें ताहि पर परें सत्य नरसिंह रक्षा करें॥ इति साँवर तंत्रे और भानमती चरित नैना योगिनी कृते प्रेतादि दोष प्रशमणः।

काव्य में इस प्रकार की रचना का समावेश उपहासप्रद है, परन्तु विषय की विचित्रता के साथ नारी के नाम का प्रयोग परिचय तथा जिज्ञासा की वस्तु है।

उपसंहार

भारतीय जीवन-व्यवस्था में जिस प्रकार पौरुष-बल के समक्ष नारीत्व की सरलता लुप्त हो गई, उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी पुरुषों द्वारा रचित साहित्य की विशालता तथा गहनता में नारी द्वारा रचित साहित्य उपेक्षित ही नहीं, प्रत्युत् लुप्त हो गया, परन्तु भारतीय वाङ्मय के अजस्र प्रवाह की विशाल इकाइयों के समक्ष इन लुप्तप्राय कवयित्रियों के अस्तित्व का अवशेष भी साधारण अनुमान से अधिक है।

वैदिक काल तथा उसके पश्चात् के प्राचीन साहित्य में स्त्रियों की क्षमता की उतनी उपेक्षा नहीं हुई है, इतिहासकारों की जागरूकता के फलस्वरूप काव्य, साहित्य, गणित, दर्शन, शास्त्र इत्यादि वाङ्मय के विविध अंगों में स्त्रियों के योग का परिचय प्राप्त होता है। उसके पश्चात् इतिहास की राजनीतिक तथा सामाजिक विषमताओं से स्त्री के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया, जिससे रचनात्मक कार्यों में उसका सक्रिय सहयोग कम हो गया था, परन्तु वह अभाव केवल न्यूनता का था, हिन्दी पूर्व युग में भी स्त्रियों की रचना के नाम पर शून्य नहीं मिलता। परिसीमाओं तथा परिस्थिति-जन्य ुण्ठाओं के विद्यमान रहते हुए भी, प्रतिभा के विकास के जो अपवाद मिलते हैं वे आश्चर्यमय हैं। कर्पूर मंजरी के प्रसिद्ध लेखक राजशेखर के नाम से प्राचीन भारतीय वाङ्मय का प्रत्येक प्रेमी परिचित है, परन्तु उनकी पत्नी अवन्ति सुन्दरी की प्रतिभा लुप्तप्राय होकर रह गई है। अवन्ति सुन्दरी ने भावनाओं पर आधृत काव्य-सृजन ही नहीं किया अपितु साहित्य के बौद्धिक विवेचन में भी भाग लिया है। काव्य मीमांसा में तीन स्थानों पर राजशेखर ने उसका मत उद्धृत किया है, जहाँ अनेक युक्ति तथा तर्क देकर उसने अपने पति के मत का विरोध किया है। प्राकृत कविता में प्रयुक्त देशी शब्दों का एक कोश भी उसने बनाया था, परन्तु इतिहास अवन्ति सुन्दरी की प्रतिभा के विषय में प्रायः मौन है।

हिन्दी की विभिन्न धाराओं में स्त्रियों की रचनायें सम्मिलित हैं। डिंगल काव्यधारा में उन्होंने अपनी क्षमता और सामर्थ्य के अनुसार वैदग्धपूर्ण तथा उल्टे-सीधे स्वर मिलाये, निर्गुण काव्यधारा की अटपटी वाणी में अपने स्वरों का योग देकर ज्ञान, गुरु तथा योग-महिमा के गीत गाये, कृष्ण तथा राम की भक्ति उनके जीवन में माधुर्य तथा श्रद्धा बनकर व्याप्त हो गई, और उसकी अभिव्यक्ति में नारी की उच्चतम से लेकर साधारणतम अनुभूतियाँ कृष्ण काव्य तथा राम काव्य बन बिखर गईं। भक्ति युग की केवल प्रेममार्गी शाखा ही नारी के योग से सर्वथा

वंचित है।

रीति युग में, नारी का परिसीमित जीवन काव्य के आचार्यत्व पक्ष में योग न दे सका, परन्तु उन्मुक्त शृंगार की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति में भी उन्होंने यथाशक्ति योग दिया। हिन्दी काव्य की इन विशिष्ट धाराओं के अतिरिक्त अनेक स्फुट विषयों पर भी स्त्रियों ने रचनायें कीं।

निष्कर्ष यह कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के इतिहास में नारी केवल प्रेरणा ही नहीं रही है, उसने सर्जन में भी सहयोग दिया है। यह सत्य है कि नारी वीर काव्य काल में गौरव की प्रतीक बन युद्ध की प्रेरणा बनी, जिससे अनेक शृंगारात्मक शौर्य काव्यों की रचना हुई। निर्गुणी भक्तों ने आत्मपीड़नजन्य कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति नारी के नखशिख पर वीभत्सता के आरोपण द्वारा अपने दिल के फफोले फोड़े। कृष्ण भक्तों ने स्त्री के मातृ रूप, प्रेयसी रूप तथा पत्नी रूप के आरोपण द्वारा भगवान् की प्राप्ति का साधन बता स्त्री हृदय की निस्पृहता की विजय घोषित की, रामभक्तों ने, नहीं, बल्कि सर्वश्रेष्ठ रामभक्त तुलसी ने नारी पात्रों के माध्यम से स्त्रियों के आदर्शों की स्थापना तो की ही, साथ ही नारी भर्त्सनाओं द्वारा तत्कालीन सामाजिक विषमता की गहरी जड़ों का भी परिचय दिया, और शृंगारयुगीन नारी तो जीवन के अन्य स्थूल उपकरणों की भाँति ही उपभोग्य पदार्थ बनकर काव्य में नायिका-भेद के अनेक रूपों में व्यक्त की गई, इस प्रकार साहित्य-सर्जन का समस्त श्रेय तो नारी द्वारा प्राप्त प्रेरणा को है। यद्यपि इस प्रेरणा के मूल में उसके स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता का अभाव था, पुरुष ने जिस दृष्टिकोण से उसे देखा उसी की अभिव्यक्ति काव्य में कर दी, परन्तु जड़ तथा अचेतन प्रेरणा भी सर्वथा मूल्यहीन नहीं होती। भारतीय व्यवस्था में नारी मस्तिष्क सम्पन्न मानुषी की अपेक्षा देहधारिणी काष्ठपुतलिका रही है, जिसे पुरुष परिचालक ने अपनी इच्छानुसार गति तथा रूप प्रदान कर अनेक कौतुक प्रदर्शन किये हैं। नारी का साहित्य स्रष्टा रूप भी उपेक्षणीय नहीं। प्रेरणा के इस रूप के अतिरिक्त स्रष्टा के रूप में भी नारी का योग महत्त्वपूर्ण है। मध्यकालीन साहित्य का कोई भी अंश उसके सफल अथवा असफल स्पर्श से वंचित नहीं है। तत्कालीन नारी की विषम परिस्थितियों तथा विवश भावनाओं की विद्यमानता में काव्य के क्षेत्र में उसका प्रयास यदि आश्चर्य की नहीं तो सराहना की वस्तु अवश्य है।

परिमाण की दृष्टि से स्त्रियों के योग के विषय में कुछ सन्देह का अवसर नहीं है। हिन्दी के आरम्भ काल से लेकर सम्वत् १६०० तक जितनी कवयित्रियों तथा उनके साहित्य का उल्लेख मिलता है वह हिन्दी साहित्य में स्त्रियों के योग का साक्षी है। परिस्थितियों की विषमताओं के मध्य स्त्रियों का काव्य का रचना-प्रयास ही एक

आश्चर्य का विषय है, परन्तु हिन्दी काव्य की प्रायः सभी मुख्य प्रवृत्तियों में उनके स्वर मिलते हैं। डिंगल भाषा में झीमा की विदग्धता, निर्गुण काव्यधारा में सहजोबाई, दयाबाई के उपदेशात्मक काव्य, कृष्ण काव्यधारा में मीरा की व्यथित आत्मा की पुकार, राम काव्य की गम्भीरता में प्रेमसखी की अनुरागमयी माधुरी का समावेश तथा शृंगार काव्य की स्थूलता में प्रवीणराय और शेख का मांसल योग और इधर स्फुट काव्य में रत्नावली और साईं के नीति विषयक पद अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

जहाँ तक काव्य-गुण का प्रश्न है, यह एक ध्यान देने की वस्तु है कि नीति तथा मुक्तक काव्य-रचना में ही स्त्री का योग प्रधान रूप में रहा है। गीतिकाव्य व्यक्तिपरक होता है, अतः अनुभूतियों की तीव्रता और प्रबलता हो उसमें आवश्यक होती है, क्षणिक मनःस्थितियों का शब्दबद्ध व्यक्तीकरण ही गीतिकाव्य के अनेक तत्त्व हैं। यों तो आचार्यों ने गीतिकाव्य के अनेक तत्त्वों का उल्लेख किया है, परन्तु उसका प्राणतत्त्व है आत्माभिव्यक्ति। यह जितनी तीव्र और प्रबल होगी गीतिकाव्य उतना ही श्रेष्ठ होगा। इस दृष्टि से मीरा गीतिकाव्य की सर्वश्रेष्ठ लेखिका सिद्ध होती हैं, उनकी व्यथासिक्त पदावली की तीव्रता के समक्ष सूर तथा तुलसी के गीत भी नहीं ठहरते। मीरा के काव्य में उनके सहज भावातिरेकों की अभिव्यक्ति तथ आत्मानुभूति वेदना का चित्रण है। अतः उनके गीतों की पंक्तियाँ हमारे हृदय के अणु-अणु में रम जाती हैं। सूर के गीतों में अनुभूतियों की कमी नहीं, भाषा का माधुर्य और कला-सौष्ठव उनमें मीरा से कहीं अधिक है, पर अनुभूति की तीव्रता और तन्मयता तथा आत्मा की वह काँपती आवाज़ जो हृदय से निकलकर सीधी हृदय को बींध देती है, सूर से कहीं अधिक मीरा में है। तुलसी का काव्य जीवनव्यापी है, उसमें जीवन की सार्वभौमता का विशद चित्रण है, और कला की दृष्टि से तो तुलसी आचार्य कवि थे, फिर भी गीति तत्त्व उनमें मीरा के बराबर नहीं है। उनका अनुभूति क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक है। वे विराट और कोमल को अपने स्वरों में बाँध सकते हैं, परन्तु तीव्रता की दृष्टि से वे मीरा से बहुत पीछे हैं। तुलसी के विनय पदों में उनके अपार्थिव आलम्बन के प्रति श्रद्धा की भावना उत्पन्न कर देने की शक्ति है, परन्तु चिरन्तन अपूर्ण मानव-भावनाओं की कातर व्यग्रता का उनमें अभाव है। वर्तमान युग की सर्वश्रेष्ठ गीतिकार महादेवी जी के शब्दों में मीरा की व्यथासिक्त पदावली सारे गीत जगत की सम्राज्ञी ही कही जाने योग्य है।

मुक्तक के क्षेत्र में यद्यपि गीतिकाव्य की मीरा का-सा अमृत स्वर तो नहीं है, परन्तु फिर भी सहजोबाई, दयाबाई, गंगाबाई, सुन्दर कुँवरि, शेख, प्रवीणराय इत्यादि कवयित्रियों का काव्य साधारण कोटि के काव्य से उच्च स्तर पर आता है। भाव-समृद्धि, कला-वैदग्ध तथा काव्य के अन्य आवश्यक उपकरण यद्यपि एक ही कवयित्री के काव्य में एक साथ नहीं मिलते, परन्तु इन सभी तत्त्वों का अनुपात सर्वांशतः कम नहीं है।

झीमा और प्रवीणराय का वैदग्ध्य, शेख की कला, राधावल्लभ सम्प्रदाय की अनुयायिनी राजस्थान की अनेक कवयित्रियों के अनुराग की सरस अभिव्यक्ति का हिन्दी काव्य के साहित्य में अपना स्थान है।

गीतिकाव्य में स्त्रियों द्वारा रचित साहित्य के परिमाण तथा गुण पर एक दृष्टिपात करने से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि मीरा की अलौकिक प्रतिभा मध्यकालीन साहित्य में अपवादस्वरूप है तथा द्वितीय श्रेणी की उन कवयित्रियों की संख्या भी अधिक नहीं है जिनकी रचनाओं में कला-सौष्ठव तथा प्रतिभा की चमक है। लगभग साठ-पैंसठ लेखिकाओं में से अधिकांशतः ऐसी हैं जिनका काव्य अत्यन्त साधारण कोटि का है, परन्तु प्रतिभा की चमक के अभाव में भी वह तुकबन्दी मात्र से ऊँचे स्तर पर हैं। डिंगल की अनेक कवयित्रियाँ निर्गुण पंथ की इन्द्रामती, कृष्ण काव्य की कृष्णवती इत्यादि, राम काव्यधारा की प्रताप कुँवरि बाई तथा तुलछराय अत्यन्त साधारण कोटि के काव्य की प्रणेतायें हैं, परन्तु उनके काव्य को तुकबन्दीमात्र भी नहीं माना जा सकता। अधिकांशतः मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ इसी साधारण काव्य की श्रेणी के अन्तर्गत समाविष्ट की जा सकती हैं।

प्रबन्ध काव्य के क्षेत्र में, विषय की व्यापकता तथा गहनता, जीवन के प्रति वस्तुपरक एव गम्भीर दृष्टिकोण तथा काव्य-शैली की अपेक्षाकृत दुरूहता के कारण स्त्री विशेष योग न दे सकी। मध्यकालीन नारी जीवन की समग्रता को आत्मसात् करने में असमर्थ थी। उसके जीवन की परिसीमाओं ने उसे भी व्यक्तिपरक बना दिया था, अतः गीतिकाव्य के व्यक्तिपरक विषय का निर्वाह तो उसके लिए सरल था, परन्तु प्रबन्ध काव्यों की व्यापक जीवन दृष्टि के साथ सामंजस्य स्थापन उसके लिए कठिन था। विषय की व्यापकता का निर्वाह, परम्परागत विश्वासों पर आधृत कार्य-कलापों का निबन्धन तथा स्फीत और परिमार्जित शैली का प्रयोग उनकी क्षमता से बाहर की बातें थीं। प्रबन्ध काव्य की वस्तुपरक जीवन-दृष्टि, व्यापक अनुभूति तथा गम्भीर शैली का सामंजस्य नारी के व्यक्तिपरक अस्तित्व, सीमित भावना क्षेत्र तथा अगम्भीर वातावरण के साथ होना कठिन था, अतः प्रबन्ध काव्य की रचना वह न कर सकी।

उपर्युक्त कवयित्रियों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग उन कवयित्रियों का भी है जिनकी रचनाओं का मूल्य काव्य का कसौटी पर शून्य से बहुत अधिक नहीं ठहरेगा, जिन्हें काव्य की संज्ञा देना भी उचित नहीं ज्ञात होता। इस युग में उन रचनाओं को काव्य के अन्तर्गत रखने की तो बात ही क्या, उन्हें निरर्थक प्रलापमात्र ही माना जायगा, परन्तु मध्यकालीन नारी-भावनाओं की प्रलाप रूप में अभिव्यक्ति भी सार-हीन नहीं है। परिसीमित, अविकसित तथा कुंठित भावनाओं की उपहासप्रद अभिव्यक्ति

का भी अपना मूल्य होता है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में इनके लिए तो यही कहा जा सकता है—

"इनके भी मन और भाव हैं किन्तु नहीं वैसी वाणी।"

जिस प्रकार सिन्धु की विशाल और भीमकाय लहरों में सरिताओं की नन्हीं-नन्हीं उर्मियाँ इस प्रकार खो जाती हैं कि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व प्रायः नगण्य हो जाता है उसी प्रकार भारतीय जीवन-व्यवस्था के पौरुष प्रधान रूप म नारी का व्यक्तित्व इस प्रकार विलीन हो गया कि उसके पृथक् अस्तित्व का प्रायः लोप ही हो गया। यदि कहीं सिन्धु ने उन उर्मियों को अपने में लय कर उनके स्वतन्त्र परिचालन का अवसर दिया है, या उनकी प्रखरता स्वयं ही अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ हो सकी है, तो वहीं नारी का व्यक्तित्व कुछ विकास प्राप्त कर सका है। परन्तु परि-सीमाओं और कुंठाओं की झंझा के झोंकों से अस्थिर इस दीपशिखा में भी इतना आलोक है कि उसके प्रकाश का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया जाय।

परिशिष्ट १

सम्वत् १६०० के पश्चात् भी प्रायः समस्त काव्यधाराओं में योग देने वाली अनेक कवयित्रियाँ हुईं। विषय की काल-सीमा से बाहर होने तथा विस्तार-भय के कारण उनकी विस्तृत विवेचना असम्भव है, परन्तु उनके उल्लेख के बिना विषय अधूरा ही रह जाता है। अतः सम्वत् १६०० से १६५० तक की कवयित्रियों का संक्षिप्त उल्लेख इस परिशिष्ट में करके सन्तोष कर लेना पड़ा है। डिंगल की किसी कवयित्री की रचना इस काल-परिधि के अन्तगर्त नहीं आती।

कृष्ण काव्य की कई रचयित्रियों का उल्लेख इस युग में प्राप्त होता है। रचनाकाल पर आधृत क्रमानुसार उनका उल्लेख इस प्रकार है—

जीमन महाराज की माँ—श्री बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित खोज रिपोर्ट में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। इनके द्वारा रचित वनयात्रा नामक ग्रंथ खोज में प्राप्त हुआ है। इसमें ब्रज के भिन्न-भिन्न स्थानों—गोकुल, मथुरा, गोवर्धन, कामवन, बरसाना नंदगाँव, मांठ और वृन्दावन आदि की महिमा का वर्णन है। इनकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव है।

गिरिराज कुँवरि—ये भरतपुर की राजमाता थीं। इन्होंने श्री ब्रजराज विलास नामक एक ग्रंथ की रचना की थी, जो वेंकटेश्वर प्रेस में छपी है। इनकी कविता की भाषा परिमार्जित और परिष्कृत तथा भाव गम्भीर हैं। उनमें कृष्ण के प्रति उत्कट अनन्य भक्ति की अभिव्यंजना है।

जुगल प्रिया—ये टीकमगढ़ की राजकन्या तथा छतरपुर नरेश विश्वनाथसिंह जू देव की धर्मपत्नी थीं। बचपन से ही उनके हृदय में उत्कट भक्ति के बीज उनकी माँ के प्रभाव से अंकुरित हो गये थे। आध्यात्मिक प्रवृत्ति की प्रेरणा से उन्होंने सब धर्मों की रूपरेखा से ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की थी। वैष्णव मत की समस्त शाखाओं तथा शैव मत के सिद्धान्तों का उन्होंने अनुशीलन किया था। भक्ति के आवेश में वे भावपूर्ण पदों की रचना करती थीं। इन पदों का संग्रह जुगल प्रिया पदावली के नाम से प्रकाशित हुआ है, इनकी उत्कट भक्ति तथा उनके प्रति अपनी विशेष आस्था का उल्लेख श्री वियोगी हरि ने अपनी आत्मकथा 'मेरा जीवन प्रवाह' में किया है। उनका काव्य कृष्ण काव्यधारा के श्रेष्ठ पदों के साथ रखा जा सकता है।

रघुवंश कुमारी—इन्होंने भक्ति विषयक पदों की रचना की है। ब्रह्म-निरूपण, राम भक्ति इत्यादि का प्रभाव भी उनके काव्य पर है, परन्तु कृष्ण के रूप तथा महिमा पर उनकी विशेष आस्था है। लौकिक जीवन में आस्तिकता की प्रेरणा पर उन्हें

विश्वास है और उसी को व्यक्त करना उनका अभीष्ट ज्ञात होता है। अभिव्यंजना सरस, प्रौढ़ और सबल हैं तथा भक्ति-भाव में माधुर्य तथा सारल्य की अपेक्षा गाम्भीर्य अधिक है।

इस काल की राम काव्य रचयित्रियों का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है—

बाघेला विष्णु प्रसाद कुँवरि—ये रीवाँ के महाराज रघुराज सिंह जी की सुपुत्री थीं। इनके पिता अनेक कवियों के आश्रयदाता तथा एक वैष्णव भक्त थे, इनके द्वारा रचित तीन ग्रंथ प्राप्त होते हैं। (१) अवध विलास, (२) कृष्ण विलास और (३) राधाविलास। अवध विलास की रचना दोहों तथा चौपाइयों की शैली में की गई है। इसमें रामचन्द्र के चरित्र तथा महिमा का वर्णन है। कृष्ण विलास पद शैली में तथा राधा रास विलास गद्य तथा पद्य का संयुक्त शैली में रचित है। कविता सुन्दर तथा शैली प्रांजल है।

रामप्रिया—इनका नाम रानी रघुराज कुँवरि था, रामप्रिया इनका उपनाम था। ये प्रतापगढ़ के राजा प्रताप बहादुर सिंह जी की पत्नी थीं। राम तथा कृष्ण दोनों ही उनके उपास्य थे, पर राम पर इनकी विशेष आस्था थी। इनकी रचनाओं का संग्रह रामप्रिया विलास के नाम से प्रकाशित हुआ है। कविता में गम्भीर माधुर्य की व्यंजना है और भाषा सुन्दर संस्कृतमयी ब्रजभाषा है।

रत्न कुँवरि बाई—यह राम भक्त तथा राम काव्य की कवयित्री प्रताप कुँवरि की भतीजी थीं। प्रताप कुँवरि जी का विस्तृत उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन्होंने भी राम के रूप-वर्णन तथा महिमा के गान में मुक्तक पदों की रचना की है। राम के चरित्र के अनुरूप गाम्भीर्य का अभाव है, परन्तु रसिकता की अभिव्यक्ति में माधुर्य का अभाव नहीं है।

चन्द्रकला बाई—चन्द्रकला बाई की काव्य-प्रतिभा उस काल की नारी द्वारा सर्जित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है। चन्द्रकला एक दासीपुत्री थीं, अपनी माता के आश्रय-दाता श्री गुलाबसिंह जी के सम्पर्क में आकर उनकी कृपा से उन्हें काव्य-शक्ति प्राप्त हुई थी। इनका आविर्भाव समस्या-पूर्त्ति के युग में हुआ था, और विविध समस्या-पूर्त्तियों के पुरस्कार तथा सम्मान के चिह्न रूप में इन्हें बहुत से मानपत्र तथा उपाधियाँ प्राप्त हुई थीं। इन्हें सीतापुर के कविमण्डल की ओर से 'वसुन्धरारत्न' पदवी प्राप्त हुई थी। इनकी कविता में शृंगार की सरस अभिव्यंजना अलंकृत तथा परिष्कृत भाषा में है।

मुश्तरी—इनका रचनाकाल सम्वत १९५० के लगभग माना जा सकता है। ये लखनऊ की किसी वेश्या की पुत्री थीं। होली खम्माच इत्यादि के हल्के पदों की रचना की है जिनका साहित्यिक मूल्य कुछ नहीं है।

इसके अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी रचना की है, देश-प्रेम, पति-

भक्ति, स्त्री के आदर्श तथा कर्त्तव्य इत्यादि उनके प्रिय विषय हैं।

राजरानी देवी—ये हिन्दी के प्रसिद्ध कलाकार श्री रामकुमार वर्मा की माता थीं। इन्होंने प्रमदा प्रमोद तथा सती संयुक्ता नाम की रचनायें की हैं। शुद्ध तथा परिमार्जित खड़ीबोली का प्रयोग इनकी भाषा में मिलता है। कल्पना भी अच्छी है। इनके कुछ स्फुट पद वियोगिनी नाम से तत्कालीन पत्रों में प्रकाशित हुए थे।

सरस्वती देवी—ये शारदा नाम से काव्य-रचना करती थीं। इनके अनेक ग्रंथ प्रकाश में आये हैं। सुन्दरी-सुपथ, नीति निचोड़, शारदा शतक, वनिताबंधु, मनमौज तथा सन्मार्ग प्रदर्शनी उनकी पुस्तकों के नाम हैं। शृंगार की भी कुछ रचनायें उन्होंने की हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है।

दीप कुँवरि—इनके लिखे हुए एक ग्रंथ दीप विलास का उल्लेख प्राप्त होता है। इनकी काव्य-प्रतिभा साधारण कोटि की है।

बिरंजी कुँवरि—इनके द्वारा रचित सती विलास नामक ग्रंथ प्राप्त होता है। इसमें इन्होंने पतिव्रत धर्म की विशद विवेचना तथा महात्म्य का वर्णन किया है। इनकी भाषा ब्रजभाषा है तथा उसमें अनेक मात्रिक तथा वर्णिक छंदों के प्रयोग मिलते हैं। काव्य की दृष्टि से ग्रंथ अधिक महत्त्व का नहीं है।

रमा देवी—इनकी समस्या-पूर्त्तियाँ कानपुर के प्रसिद्ध पत्र रसिक मित्र में छपती थीं, इनके ग्रंथ का नाम अबला पुकार तथा रमा विनोद है। ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली दोनों ही का प्रयोग करती हैं। अवधी का प्रभाव भी उनकी भाषा में मिलता है। कविता साधारण कोटि की है।

बुंदेलाबाला—ये हिन्दी के प्रसिद्ध कवि तथा आलोचक लाला भगवानदीन की पत्नी थीं। पति के संसर्ग से इनके हृदय में काव्य के प्रति रुचि उत्पन्न हुई तथा उन्हीं की कृपा तथा सद्भावना से इन्होंने काव्य-रचना भी सीखी। फिर तो इनकी कवितायें अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। इनकी अधिकांश कविताओं का संग्रह बाला-विचार में है। अकाल मृत्यु के कारण उनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास न हो सका।

परिशिष्ट २

आधुनिक युग की प्रमुख लेखिकाएँ

इस संक्षिप्त विवेचना में आधुनिक साहित्य की समस्त लेखिकाओं द्वारा रचित काव्य का आभास देना अनन्त आकाश को रज्जुबद्ध करने के समान असम्भव है, परन्तु मुख्य विषय की अग्रभूमि की पूर्ण रूप से उपेक्षा भी सर्वथा न्यायसंगत नहीं है। अतः आधुनिक युग की विशिष्ट काव्यधाराओं तथा साहित्य के विभिन्न अंगों में स्त्रियों के योग का संक्षिप्त आभास इस परिशिष्ट में दे दिया गया है।

मध्यकालीन मूर्च्छना के पश्चात् भारतीय मानस में चेतना के लक्षण दृष्टिगत हुए। अंग्रेजी राज्य की स्थापना, शिक्षा-प्रचार, बौद्धिक उन्नति के साधनों की सुलभता इत्यादि से भारतीयों की संकीर्ण भावनाओं को विकास का क्षेत्र प्राप्त हुआ। राजनीतिक चेतना तथा सामाजिक जागरण विभिन्न आन्दोलनों के रूप में देशव्यापी बन गया तथा समाज की इकाइयाँ समाज तथा राष्ट्र में अपना महत्त्व समझने लगीं।

चेतना की इस लहर के स्पर्श से तत्कालीन नारी, जो वासना के विषधरों की फुंकार से मृतप्रायः हो रही थी, कुछ चैतन्यावस्था में आई, सामाजिक विषमताओं तथा कुरीतियों के खंडन-मंडन से उसे भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त हुआ। जीवन की सम्पूर्ण सुविधायें तो उसे नहीं मिल पाईं, परन्तु जीवन का अधिकार अवश्य मिल गया था। क्रमशः यह चेतना नारी-जीवन में पूर्ण रूप से व्याप्त हो गई, युग तथा राष्ट्र के निर्माण में उनके महत्त्व की मान्यता स्वीकार कर ली गई और राजनीतिक आन्दोलनों में उनके सक्रिय सहयोग ने नारी की क्षमता की घोषणा की। एक ओर क्रान्तिकारी दल की अनेक बालाओं ने नारी की शारीरिक क्षमता का परिचय दिया, दूसरी ओर सत्याग्रह आन्दोलन में उनके धैर्य, साहस और बलिदान की कहानियाँ अमर हो गईं। युगों तक केवल कामिनी रूप में जीवित रहकर उन्हें फिर दुर्गा तथा चण्डी बनने का अवसर प्राप्त हुआ।

राष्ट्र की भावना की छाया युग के साहित्य पर पड़ती है। साहित्य भी अब सामन्तों का प्रशस्तिगान मात्र न रहकर जनता का बन गया। जीवन प्रगति का पर्याय है, और साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति, अतः जीवन की प्रगति के साथ साहित्य की रूपरेखा भी बदल गई। रीतिकाल की श्रृंगार-भावना ही अब काव्य का विषय नहीं रह गई, जीवन के अनेकमुखी भावनाओं की अभिव्यक्ति साहित्य में हुई।

असहयोग आन्दोलन के काल में समष्टि के हित के लिए व्यष्टि के बलिदान

की भावना का प्रचार हो रहा था, अतः साहित्य में भी उसी समष्टिमूलक जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई। वैयक्तिक प्रेम का स्थान देशप्रेम तथा राष्ट्रप्रेम ने ले लिया और हिन्दी काव्य देशप्रेम की भावना से प्लावित हो गया। राष्ट्रीय आन्दोलनों में तो स्त्रियों ने पूर्ण सहयोग दिया ही था। साहित्य की यह धारा भी स्त्रियों के काव्य-सर्जन से वंचित नहीं रही। अनेक स्त्रियों के स्वर देशप्रेम के गीतों में गुंजरित हो उठे। राष्ट्रीय काव्य रचयितायों में श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान सर्वप्रमुख थीं। उन्होंने ओज तथा करुण रस से पूर्ण अनेक कविताओं की रचना की। झाँसी की रानी की लोकप्रियता के साथ उनका नाम अमर हो गया है। देश के प्रति कर्त्तव्य-भावना को नारी की भगिनी, मातृ तथा प्रेयसी भावना के साथ समन्वित कर उन्होंने कर्त्तव्य तथा भावना का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित किया है। देशप्रेम की कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने वात्सल्य रस की भी सुन्दर कवितायें लिखी हैं। उनकी कविताओं का संग्रह मुकुल नाम से प्रकाशित हुआ है।

राष्ट्रीय काव्य लेखिकाओं में तोरन देवी लली को भी प्रमुख स्थान प्राप्त है। उनकी कविताओं में बलिदान, कर्म, जागृति तथा ओज का संदेश है। जागृति इनकी कविताओं का सुन्दर संकलन है। इनके अतिरिक्त श्रीमती विद्यावती कोकिल तथा श्रीमती रामेश्वरी चकोरी की रचनायें भी महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य छोटी-छोटी अनेक लेखिकाओं का उल्लेख विस्तार-भय से नहीं दिया जा सकता।

हिन्दी काव्य की दूसरी मुख्य धारा है छायावाद की। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि जयशंकर प्रसाद तथा सुमित्रानन्दन पंत के साथ महादेवी जी का नाम, शताब्दियों के पश्चात् वैदिककालीन ज्ञान अधिकारिणि श्रद्धा, घोषा तथा लोपा-मुद्रा इत्यादि के इतिहास की आवृत्ति करता है। इस संक्षिप्त विवेचन में महादेवी जी के व्यक्तित्व तथा काव्य के विषय में स्वतन्त्र रूप से कुछ कहना उनके प्रति मेरी अपार श्रद्धा को स्वीकृत नहीं। हाँ, एक आलोचक के शब्दों में उनके व्यक्तित्व तथा साहित्यिक काव्य व्यक्तितत्व का वर्णन अप्रासंगिक न होगा। "महादेवी नहीं, वेदना मानो साकार हो गई है, ज्ञान मूर्ति मानो रसपूर्ण होकर अवतीर्ण हुई है, स्वर्ग की उज्ज्वल आत्मा मानो पृथ्वी के आँसुओं की मन्दाकिनी में स्नान करने आई है।"

नीहार रश्मि नीरजा, सांध्य गीत और दीपशिखा की गीतात्मक दिव्यानुभूति ने उनको भारत ही नहीं विश्व के महान् कवियों के समकक्ष स्थान प्रदान किया है। महादेवी जी आधुनिक युग की नहीं चिरपुरातन भारतीय वाङ्मय की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री हैं।

हिन्दी काव्य में एक वर्ग उन कवियों का है जो कविता में अपने सुख-दुःख की अभिव्यक्ति करते हैं। वह मन के भावों को व्यक्त करने के लिए ही नहीं मन को

भार हल्का करने को भी लिखते हैं। प्रेमगीतों की गणना इसी काव्यधारा के अन्तर्गत की जाता है। हिन्दी में अनेक स्त्रियों ने गीतिकाव्य की रचना की है। तारादेवी पांडेय, विद्यावती कोकिल, स्वर्गीया रामेश्वरी गोयल, होमवती देवी, सुमित्रा कुमारी सिन्हा इत्यादि के नाम सफल गीतिकाव्य लेखिकाओं के रूप में लिये जा सकते हैं। इन कवयित्रियों द्वारा रचित गीतों के अनेक संग्रह समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। सुश्री तारा पांडेय की वेणुकी शुक-पिक, सीकर तथा उत्सर्ग सुन्दर काव्य-संकलन हैं। श्रीमती होमवती देवी की प्रतिछाया, उद्गार और अर्घ भी गीतिकाव्य के इतिहास में स्मरणीय ग्रंथ हैं। श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा की प्रतिभा विहाग आशापर्व तथा पंथिनी के गीतों में व्यक्त है।

गीतिकाव्य रचना के अतिरिक्त हिन्दी का गद्य काव्य भी नारी की भावुक कल्पनाओं तथा सज्जापूर्ण अभिव्यक्ति से वंचित नहीं है। श्रीमती दिनेशनन्दिनी का हिन्दी के गद्य काव्य में विशिष्ट स्थान है। उनके गद्यगीतों में यद्यपि दार्शनिक गाम्भीर्य नहीं है, परन्तु उसकी स्निग्ध भावनाओं में आकर्षक सौन्दर्य है। जिसका सम्पूर्ण श्रेय उनकी भावुक कल्पना तथा कोमल अनुभूतियों के अनुरूप सुन्दर तथा श्रुति मधुर शैली को है। उनके गद्य गीत मौक्तिक माल, शारदीया, शबनम, दुपहरिया के फूल इत्यादि संकलनों में प्रकाशित हुए हैं। तारा पांडे द्वारा रचित गद्यगीत भी सुन्दर हैं। रेखायें नाम से उनका संकलन भी प्रकाशित हुआ है।

आधुनिक काव्य की विविध प्रवृत्तियों में तो स्त्रियों के स्वर उसकी सामर्थ्य के अनुसार मिलते ही हैं, गद्य साहित्य के विकास में भी उसका पूर्ण सहयोग है। हिन्दी गद्य के आविर्भाव के आरम्भ काल में, स्त्रियों द्वारा रचित गद्य का रूप उपदेशात्मक तथा प्रचारात्मक है, जो आर्यसमाज के रंगमंच पर से विविध प्रकार के उपदेश, चेतावनी तथा शिक्षाओं इत्यादि के रूप में प्रकाश में आये। इस प्रकार का मुख्य लेखिकायें अधिकांशतः आर्यसमाजी थीं। श्रीमती शकुन्तला द्वारा रचित चेतावनी तथा श्रीमती वेदकुमारी द्वारा रचित छोटा मुँह बड़ी बात इस प्रकार की रचनाओं के उदाहरणस्वरूप ली जा सकती हैं। दोनों ही पुस्तकों में स्त्रियों को धार्मिक तथा सामाजिक आचार सम्बन्धी उपदेश दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त हरदेवी शर्मा द्वारा रचित स्त्रियों पर सामाजिक अन्याय, रमाबाई सरस्वती की आत्मकथा इत्यादि पुस्तकें आरम्भकालीन गद्य साहित्य में स्त्रियों के प्रयासस्वरूप लिये जा सकते हैं। चन्द्रावती लखनपाल के अनेक समस्यामूलक निबन्ध महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी के कहानी तथा उपन्यास साहित्य के विकास में स्त्रियों ने पूर्ण उत्साह से भाग लिया। कहानी साहित्य के युग-प्रवर्तक प्रेमचन्द जी की धर्मपत्नी शिवरानी देवी जी को भी प्रथम कहानी-लेखिका होने का श्रेय प्रदान किया जा सकता है। उनकी समकालीन अनेक

स्त्रियों ने कहानी के क्षेत्र में पदार्पण किया, परन्तु प्रेमचन्द जी की प्रतिभा के स्पर्श से परिमार्जित उनकी लेखन-शक्ति के समक्ष अन्य स्त्रियों की रचनायें उतना प्रचार नहीं पा सकीं। शिवरानी देवी जी की अनेक कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में निकलती रहती थीं, प्रेमचन्द जी की मृत्यु के पश्चात् उनका 'प्रेमचन्द घर में' हिन्दी समाज के महान् साहित्य-कार के जीवन-संस्मरण के रूप में अमर रहेगा। नारी-हृदय तथा कौमुदी उनके मुख्य ग्रंथ हैं।

आधुनिक युग में कहानी-लेखकों तथा लेखिकाओं की बाढ़-सी आ गई है। अनेक लेखिकाओं की कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में यत्र-तत्र प्रकाशित होती रहती हैं, परन्तु उनमें से कई हिन्दी के कहानी जगत् में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर चुकी हैं। उनकी कहानियों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें सर्वप्रमुख हैं श्रीमती कमला चौधरी। इनकी कहानियाँ यत्र-तत्र पत्र-पत्रिकाओं में तो प्रकाशित होती ही रहती हैं। पिकनिक तथा यात्रा नाम से उनके संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी मनो-वैज्ञानिक तथा समाजिक कहानियाँ हिन्दी के प्रमुख कहानी लेखकों की रचनाओं के समकक्ष हैं। हिन्दी कथा जगत् की दूसरी लोकप्रिय तारिका हैं श्रीमती उषा मित्रा, इनकी कहानियों का प्रमुख आकर्षण है उनकी मधुर कल्पना तथा अलंकृत काव्यमयी भाषा। काव्यपूर्ण भाषा में गुँथी हुई गाथा, काव्य तथा कहानी का संयुक्त रूप प्रतीत होती है। उनकी कहानियों का संग्रह मेघ मल्हार नाम से प्रकाशित हुआ है। उषा देवी मित्रा के उपन्यास हिन्दी के उपन्यास जगत् में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि उषा देवी मित्रा ही हिन्दी जगत् की उपन्यास-लेखिका हैं। कहानी तथा कविता के क्षेत्र में तो अनेक स्त्रियों की रचनायें प्राप्त होती हैं। परन्तु उपन्यास के क्षेत्र में नारी साहित्य के नाम पर केवल उषा जी के उपन्यास उषाकालीन नभ के परिमित नक्षत्रों की भाँति दिखाई देते हैं। उनके उपन्यास पिया, वचन का मोल तथा आवाज़ जीवन की मुस्कान उपन्यास जगत् की विशिष्ट रचनायें हैं। सान्ध्य, पूरवी तथा पथचारी भी उनके सुन्दर ग्रंथ हैं। कहानी क्षेत्र की अन्य प्रमुख लेखिकायें हैं—होमवती देवी, सुभद्राकुमारी चौहान तथा चन्द्रकिरण सौनरिक्सा। होमवती देवी अपनी कहानियों का विषय अधिकतर नारी-जगत् तथा नारी-जीवन की अनेक समस्याओं से लेती हैं उनमें सामाजिक जीवन के सफल तथा सुन्दर चित्रण मिलते हैं। उनकी कहानियों का संग्रह धरोहर नाम से प्रकाशित हुआ है। स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियाँ भी सुन्दर तथा स्वाभाविक हैं। उनका संकलन बिखरे मोती के नाम से प्रकाशित हुआ है।

श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरेक्सा कहानी जगत् की नवीनतम तारिकाओं में से हैं। उनकी कहानियों में जीवन का यथार्थ अपने कटु सत्यों तथा मधुर अनुभूतियों के साथ

व्यक्त है । उनके पात्र समाज के शोषित वर्ग के हैं । प्रगतिवादी सिद्धान्तों के अनुसार वे समाज के असुन्दर तथा अशिष्ट अंश का नग्न चित्रण कर उसे शिष्ट तथा सुन्दर बनाना चाहती हैं । आदमखोर उनकी कहानियों का संग्रह है ।

कहानी तथा उपन्यास के अतिरिक्त संस्मरणों, रेखाचित्रों तथा निबन्ध रचना में भी उन्होंने भाग लिया है । श्रीमती सुभद्राकुमारी के सीधे-सादे चित्र, हीरादेवा चतुर्वेदी, सत्यवती इत्यादि अनेक लेखिकाओं के विविध विषयों पर लिखे हुए लेख इसके उदाहरण हैं, परन्तु इन समस्त लेखिकाओं की रचनाओं के आलोक के मध्य श्रीमती महादेवी जी की दिव्य प्रतिभा ध्रुवतारे की भाँति आलोकित दिखाई देती हैं । अतीत के चलचित्र तथा स्मृति की रेखाएँ के चित्र उसके व्यक्तित्व के परिचायक हैं और शृंखला की कड़ियों में नारी-हृदय की व्यथा तथा नारी-जीवन की करुण गाथा का बौद्धिक विश्लेषण है । वह आलोचिका भी हैं । उनके काव्य ग्रंथों के आरम्भ में लिखी हुई भूमिकायें गम्भीर आलोचना-शक्ति की प्रतीक हैं ।

महादेवी जी का साहित्य स्वतन्त्र गवेषणा का विषय है । उनकी असीम प्रतिभा के अणुमात्र का आभास देने के लिए भी इस सीमित व्याख्या में क्षमता नहीं है ।

इस प्रकार सम्वत् १९५० से अद्य पर्यन्त के हिन्दी साहित्य के विविध अंगों में महिलाओं द्वारा सर्जित साहित्य का महत्त्वपूर्ण अस्तित्व है । उसके विस्तृत परिचय तथा स्वतन्त्र व्याख्या में एक वृहद् ग्रंथ की रचना हो सकती है ।

नामानुक्रमणिका

सहायक ग्रंथों की सूची

१. नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित खोज-रिपोर्टें।

२. नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथों के विवरण (हस्तलिखित प्रतियाँ)।

३. राजपूताना में हिन्दी ग्रन्थों की खोज	सर्वश्री मुंशी देवीप्रसाद
४. महिला मृदुबानी	मुंशी देवीप्रसाद
५. भक्तमाल	नाभादास
६. चौरासी वैष्णवन की वार्ता	गोसाईं गोकुलनाथ
७. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता	" "
८. स्त्री कवि कौमुदी	ज्योति प्रसाद निर्मल
९. मुसलमानों की हिन्दी-सेवा	कमलधारी सिंह 'कमलेश'
१०. हिन्दी के मुसलमान कवि	गंगाप्रसाद सिंह विशारद
११. बुन्देल वैभव (दोनों भाग)	गौरीशंकर द्विवेदी
१२. इस्त्वार दला (लितरे त्योर) इंदुई ए इंदुस्तानी	गार्सा व तासी
१३. शिवसिंह सरोज	शिवसिंह सेंगर
१४. मूल गोसाईं चरित	वेणी माधव दास
१५. भक्त नामावली	ध्रुवदास
१६. कविता कौमुदी	रामनरेश त्रिपाठी
१७. राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा	मोतीलाल मनारिया
१८. मिश्रबन्धु विनोद	मिश्रबन्धु
१९. हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
२०. हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ० रसाल
२१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डॉ० रामकुमार वर्मा
२२. हिन्दी साहित्य की भूमिका	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२३. भक्त नामावली	टीकाकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
२४. धामी पंथ का ग्रंथ (हस्तलिखित)	आर्य भाषा संग्रहालय काशी प्राणनाथ इन्द्रामती
२५. रत्नावली के दोहे	सम्पादक रामदत्त भारद्वाज
२६. सहज प्रकाश	बेलवेडियर प्रेस प्रयाग
२७. दयाबाई की बानी	" " "

२८. प्रेम रत्न	रत्न कुँवरि; नवलकिशोर प्रेस
२९. मीराबाई की शब्दावली	बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
३०. मीरा मंदाकिनी	नरोत्तमदास स्वामी; यूनिवर्सिटी बुक डिपो, आगरा
३१. मीरा बाई की पदावली	परशुराम चतुर्वेदी
३२. मीराबाई	डॉ० श्री कृष्णलाल
३३. मीरा स्मृति ग्रंथ	प्रकाशक : बंगीय परिषद्
३४. मीरा माधुरी	ब्रजरत्नदास
३५. मीराबाई का जीवन-चरि	कार्तिक प्रसाद खत्री
३६. ,, ,, ,,	मुंशी देवीप्रसाद
३७. भक्त मीरा	व्यथित हृदय
३८. मीरा की प्रेम-साधना	भुवनेश्वर मिश्र
३९. मीरा की पदावली	सदानन्द भारती
४०. मीराबाई सहजोबाई, दयाबाई	वियोगी हरि
४१. स्त्री कवि संग्रह	ज्योतिप्रसाद निर्मल
४२. ब्रह्मविद्यासार	चरणदास तथा सहजो बाई तत्त्व ज्ञान पुस्तकालय लाहौर
४३. हिन्दी काव्य की कोकिलायें	साहित्य भूषण प्रेस; इलाहाबाद
४४. भारतीय दर्शन	बल्देव प्रसाद मिश्र
४५. आलस केलि	आलम और शेख (हस्तलिखित प्रति)
४६. नरसी को माहरो	मीराबाई (हस्तलिखित प्रति)
४७. धामी पंथ का ग्रंथ	प्राणनाथ इन्द्रामती (हस्त-लिखित प्रति)
४८. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय २ भाग	डॉ० दीन दयालु गुप्त
४९. रीति काव्य की भूमिका	डॉ० नगेन्द्र
५०. विचार और विवेचन (शृंगार रस)	डॉ० नगेन्द्र
५१. भारतीय संस्कृति और साहित्य	डॉ० शुकदेव बिहारी मिश्र
५२. चन्द्र सखी का भजन	,, ,, ,, ,,
५३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका	रूपमती और बाज बहादुर की कविता मुंशीदेवी प्रसाद
५४. ,, ,, ,,	राजस्थान की कविरानियाँ

५५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका — हिन्दी साहित्य के अप्रकाशित परिच्छेद भास्कर रामचन्द्र भालेराव
५६. हिन्दुस्तानी अप्रैल १९३८ — मीराबाई वल्लभाचार्य और डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल
५७. राजस्थान वर्ष; १; संख्या १; १९९२ वि० — मीराबाई राजस्थान रिसर्च सोसाइटी
५८. वीणा; अंक १२; १९३५ ई० — मीरा की प्रेम-साधना
५९. नागरी प्रचारिणी पत्रिका; वर्ष ४५; भाग १ — हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का विवरण
६०. नागरी प्रचारिणी पत्रिका; भाग २ — विदुषी स्त्रियाँ
६१. पुस्तक-परिचय — सम्पादक माता प्रसाद गुप्त
६२. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता — डॉ० बेनी प्रसाद
६३. राजपूताने का इतिहास — (उदयपुर राज्य का इतिहास) गौरीशंकर हीराचंद ओझा
६४. बौद्धकालीन भारत — जनार्दन भट्ट
६५. थेरी गाथा
६६. हिन्दू भारत का उत्कर्ष — वैद्य
६७. भारतवर्ष का इतिहास — भगवद्दत्त
६८. मध्यकालान भारतीय संस्कृति — हिन्दुस्तान एकेडमी व्याख्यान-माला
६९. म आ सिरुल उमरा — अनुवादक ब्रजरत्नदास
७०. ह्यू नसांग का भारत-भ्रमण
७१. पूर्व मध्यकालीन भारत — रघुवीर सिंह
७२. मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था — हिन्दुस्तान एकेडमी व्याख्यान-माला

Catalogue of Hindi Books in the Imperial Library, Calcutta.
Catalogue of Hindi Books in the India Offiice Library
Catalogue of Hindi Books in the British Museum Library
Modern Vernacular Literature of Hindustan—Grierson
Gujerat and its Literature—K. M. Munshi

Milestones in Gujerati Literature.—K. M. Jhaveri
History of Punjabi Literature—Mohan Singh Dewana
History of Brij Buli literature
Nirgun School of Hindi Poetry—Dr. Barthwal
Annals and Antiquities of Rajasthan—Col. Todd
Influence of Islam on Indian Culture—Dr. Tara chand
Status of Women in Ancient India—Indra
Position of Women in Hindu Civilisation—Dr. A. S. Altekar
Women in the Sacred Scriptures of Hinduism.—M. W. Pinkham
Women in Ancient India—Clarisse Bader
Position of Women in Indian Life—Maharani of Baroda
Women and Marriage in India—Thomas
Ideal of Hindu Womanhood—Sushila Devi
Our Cause—Shyam Kumari Nehru
To the Women—Mahatma Gandhi


LIBRARY